श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

द्वितीय उद्योतः

व्याख्यालेखकः

डा० रामसागर त्रिपाठी
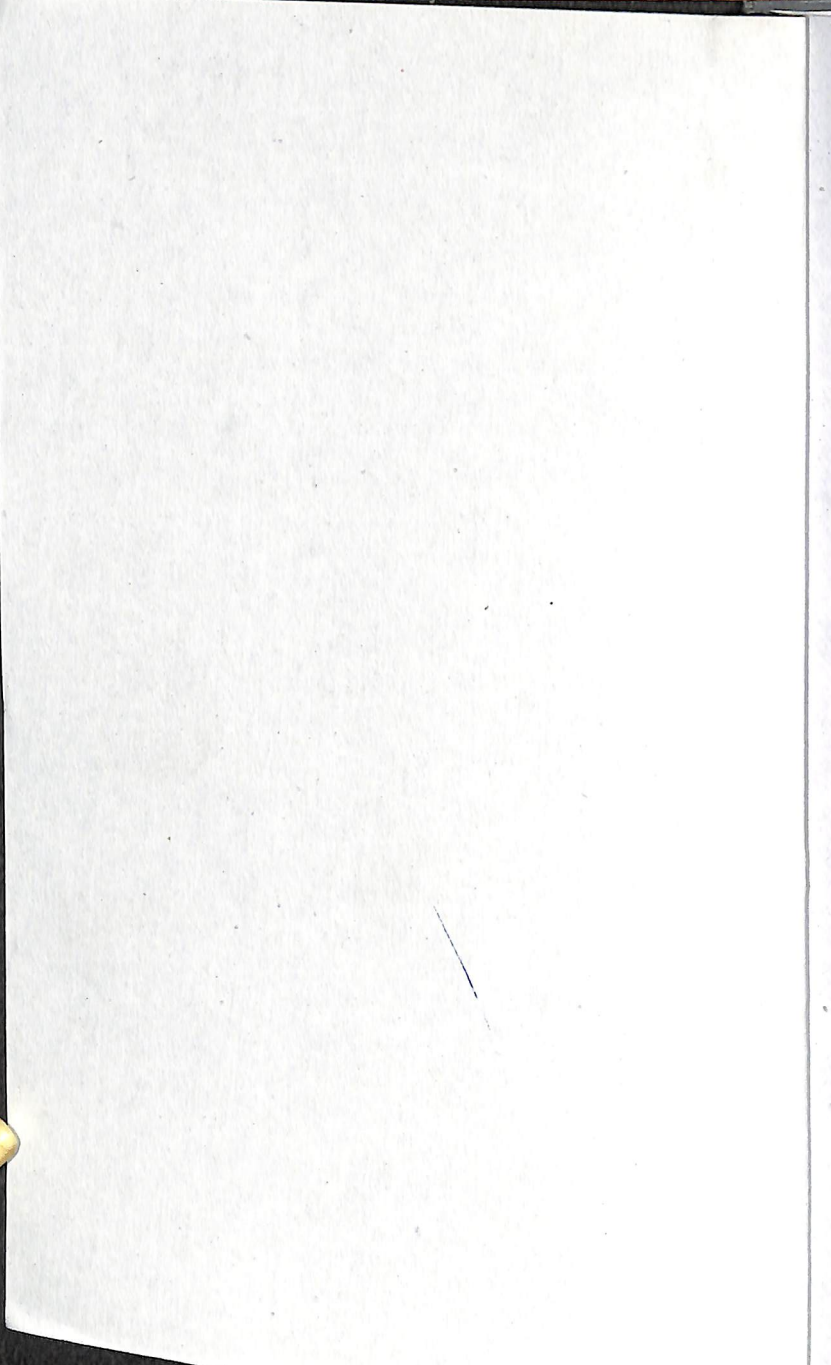
श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

ध्वन्यालोकः

द्वितीय उद्योतः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-
समाख्यया व्याख्यया च परिगतः

व्याख्यालेखकः

डा० रामसागर त्रिपाठी

एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्यः

मोतीलाल बनारसीदास

**दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, बंगलौर,
वाराणसी, पुणे, पटना**

विषय-सूची

द्वितीय उद्योत

१—लोचन का मङ्गलाचरण

२—प्रथम उद्योत की सङ्गति

३—अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेद

अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत के वाच्यार्थ पर विचार (३) लक्षणामूलक ध्वनि भेदों में वाच्यार्थ पर विचार की आवश्यकता (४) अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का प्रथ उदाहरण (५) इस उदाहरण की लक्षणसङ्गति और उसकी चर्वणा का प्रकार (१० अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का दूसरा उदाहरण तथा लक्षण संगति (११) हृदयदर्पणकार के म पर विचार (१२) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का उदाहरण तथा उसकी लक्षणसंगति (१ दूसरा उदाहरण (१६)

४—विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद

[रस की सामान्य प्रक्रिया (१९) काव्यप्रकाशकार के रस विवेचन का सार (२ भट्टलोल्लट का मत और उसकी आलोचना (२१) शङ्कुक का मत और उसकी आलोच (२२) भट्ट नायक का मत तथा उसकी आलोचना (२४) अभिनवगुप्तका मत (२६)

५—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेद

रसध्वनि परिचय (३०) भावध्वनि का स्वरूप और उदाहरण (३०) भावोदय स्वरूप और उदाहरण (३१) भावस्थिति का उदाहरण (३२) भावशान्ति का उदाह (३३) भावसन्धि का उदाहरण (३३) भावशबलता का उदाहरण (३४) विभावध्व अनुभावध्वनि का निराकरण (३५) रसाभास का स्वरूप और उदाहरण (३५) भावध्व इत्यादि का रसान्तर्भाव (३७) रसध्वनि का स्वरूप और उदाहरण (३८)

६—रसवदलङ्कार से ध्वनि का विषय भेद

७—भट्ट नायक का रसविषयक मत

८—भट्ट नायक के खण्डन का उपक्रम–रस विषयक विभिन्न मत

लोल्लट का मत और उसका निराकरण (४७) शङ्कुक का मत (४८) अन्य आचा के मत-अनुकर्तृगत रस, विभावानुभावमात्र रस, नाट्य की रसरूपता, शुद्ध अनुभाव, स्थायीभ व्यभिचारीभाव, उनके संयोग की रसरूपता, अनुकार्य की रसरूपता, समस्त समुदाय रसरूपता (५०)

९—काव्य में रस

१०—रसमें प्रतीति की अपरिहार्यता तथा विलक्षणता

११—भट्ट नायक के मत के खण्डन का उपक्रम ५३
१२—भावकत्व और भोजकत्व का अन्यत्र अन्तर्भाव ५४
१३—रस की स्वाभिमत प्रक्रिया ५४
१४—रसध्वनि का उपसंहार ५८
१५—रसालङ्कार का स्वरूप ५९
१६—प्रेयोलङ्कार का उदाहरण तथा उसकी भामह और उद्भट दोनों के मत से संगति ६०
१७—रसवदलङ्कार के विषय में अन्य मान्यतायें ओर उनकी परीक्षा ६०
१८—शुद्ध रसवदलङ्कार का उदाहरण ६५
१९—रस की अलङ्काररूपता का समर्थन ६६
२०—सङ्कीर्ण रसादि अलङ्कार का उदाहरण ६९
२१—रसवत् इत्यादि अलंकार के विषय का उपसंहार ७०
२२—रसवत् अलंकार से रस ध्वनि की विविक्त विषयता का प्रतिपादन ७१
२३—ध्वनि, उपमा इत्यादि और रसवत् इत्यादि की विविक्तविषयता का उपसंहार ७६
२४—शुद्ध भावालंकार का उदाहरण ७७
२५—रसाभास की अलंकारता का उदाहरण ७७
२६—भावाभास की अंगता का उदाहरण ७९
२७—'चेतन के वाक्यार्थी भाव में ही रसवदलंकार होता है' इस मत की परीक्षा ८०
२८—उक्त निराकरण की उदाहरणों द्वारा पुष्टि ८२
२९—'चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना होने पर रस इत्यादि अलंकार होते हैं' इस मत का निराकरण ८७

[ध्वनिकार के मत का सार और उसका औचित्य (८९) रुय्यक द्वारा स्पष्टीकरण (९१) कुन्तक के विवेचन का सार और उसकी समीक्षा (९१) रसवदलंकार के खण्डन में कुन्तक के दो तर्क (९२) कुन्तक द्वारा भामह का खण्डन (९२) उद्भट का खण्डन (९३) दण्डी का खण्डन (९३) आनन्दवर्धन की मान्यता की आलोचना (९४) कुन्तक का रसवत् अलंकार के विषय में अपना मत (९४) ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता का आशय (९४) ध्वनिकार के रसालंकार शब्द के प्रयोग का समर्थन तथा उनकी मान्यता का आशय और उसका समर्थन (९६) उदाहरणों से कुन्तक द्वारा खण्डन की आलोचना (९७) पर विचार (१००)]

३०—गुण और अलंकार का भेद १०१
३१—माधुर्य का श्रृंगार में प्रकर्ष १०२
३२—माधुर्य का रसों में तारतम्य १०५
३३—रौद्र की रसनियोजना १०७
३४—शब्दगत ओज के द्वारा रसाभिव्यक्ति का उदाहरण १०९

३५—अर्थगत ओज के द्वारा रसाभिव्यक्ति का उदाहरण ११२
३६—प्रसाद गुण का स्वरूप और उसका अधिष्ठान ११४
३७—दोषों की रसदृष्टि से व्यवस्था ११६
३८—रसों के भेदों की अनन्तता १२०
३९—शृंगार निबन्धन का उपक्रम १२४
४०—शृंगार में अनुप्रास के वाहुल्य का दोष १२५
४१—शृंगार में यमकादि निबन्धन की सदोषता १२६
४२—रसाभिव्यक्ति में अलंकार योजना के लिये युक्ति १२८
४३—उदाहरण १२९
४४—यमक इत्यादि का अन्य अलंकारों से वैषम्य १३२
४५—उक्त प्रकरण का उपसंहार १३३
४६—अलंकार वर्ग की समीक्षापूर्वक योजना का उपक्रम १३४
४७—अलंकार वर्ग की समीक्षा के प्रकार १३६
४८—अलंकार की अंगता का उदाहरण १३७
४९—रसपरक अलंकार की भी काचित्क अंगिरूपता १३९
५०—अवसर के अनुकूल ग्रहण का उदाहरण १४१
५४—अवसर के अनुकूल त्याग का उदाहरण १४४
५५—अलंकार के आत्यन्तिक निर्वाह न करने का उदाहरण १५३
५६—प्रयत्नपूर्वक अंगत्व के रूप में प्रत्यवेक्षा का उदाहरण १५५
५७—त्यक्त के पुनर्ग्रहण का उदाहरण १५७
५८—संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का प्रकार और उसके दो भेद १५९
५९—श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का भेद १६०
६०—श्लेष का उदाहरण १६२
६१—शब्दशक्तिमूलक वस्तुव्यञ्जना की मान्यता के विषय में विभिन्न मत तथा औचित्य का निर्णय १६५
६२—शब्दशक्ति से साक्षात् अलंकारान्तर प्रतिभा १६८
६३—अलंकारान्तरसंपृक्त श्लेष से अलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पोषण का उदाहरण १७०
६४—अन्य उदाहरण १७२
६५—तीसरा उदाहरण १७३
६६—आक्षिप्त अलंकार शब्दान्तर से अभिधान में ध्वनि का अभाव १७४
६७—उदाहरण १७६
[अभिधा के निर्णायक तथा श्लेष के दूसरे अलंकारों से सम्बन्ध पर विश्वनाथ का मत १८०]

६८—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का क्षेत्र १८२
६९—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण १८३
७०—शब्दशक्तिमूलक ध्वननव्यापार से अर्थान्तर की प्रतीति के प्रकार १८४
७१—शब्दशक्तिमूलकध्वनि के अन्य उदाहरण १८९
७२—शब्दशक्तिमूलक विरोध ध्वनि के उदाहरण १९३
७३—शब्दशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण १९७
७४—अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि १९८
७५—संलक्ष्य और असंलक्ष्य का भेद २००
७६—अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यतिरेक २०४
७७—शब्दशक्ति से अर्थ के आख्यान का उदाहरण २०८
७८—अर्थशक्ति से अर्थाख्यान का उदाहरण २१०
७९—उभयशक्ति से अर्थाख्यान का उदाहरण २१२
८०—व्यञ्जक अर्थ के तीन भेद २१३
८१—कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण २१६
८२—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण २१७
८३—दूसरा उदाहरण २१८
८४—स्वतःसम्भवी वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण २१८
८५—दूसरा उदाहरण २२०
८६—अलङ्कार ध्वनि २२२
८७—अलङ्कार ध्वनि का व्यतिरेक २२९
८८—व्यङ्ग्यमुख से वाच्य के व्यवस्थापन में रूपक ध्वनि का उदाहरण २३०
८९—दूसरा उदाहरण २३३
९०—तीसरा उदाहरण २३५
९१—उपमाध्वनि २३८
९२—दूसरा उदाहरण २३९
९३—आक्षेप ध्वनि २४
९४—शब्दशक्तिमूलक अर्थान्तरन्यास ध्वनि २४
९५—अर्थशक्तिमूलक अर्थान्तरन्यास ध्वनि २४
९६—व्यतिरेक ध्वनि २४
९७—उत्प्रेक्षा ध्वनि २४
९८—श्लेष ध्वनि २५
९९—यथासंख्य ध्वनि २५
१००—दीपक ध्वनि २५

०१—अप्रस्तुतप्रशंसा ध्वनि २६०
०२—अपह्नुति ध्वनि २६१
०३—उक्त उदाहरण में ही अन्य अलङ्कारों की ध्वनियाँ २६३
०४—अतिशयोक्ति ध्वनि २६४
०६—वस्तु से अलङ्कारव्यञ्जना में ध्वनि की अनिवार्यता २६५
०७—अलङ्कार से अलङ्कारव्यञ्जना में ध्वनि का क्षेत्र २६७
०८—ध्वनिभेदों का परिगणन २७०
०९—ध्वनि के आभास का विवेक २७२
१०—वाच्यार्थ के प्रतीयमान अर्थ में परिणत होने पर ध्वनि का उदाहरण २७८
११—अविवक्षितवाच्य की आभासरूपता २८१
१२—सभी प्रभेदों में स्फुट प्रतिपत्ति का सामान्य नियम २८४
१३—अभिनवगुप्त का उद्योतसमापन मङ्गश्लोक २८६
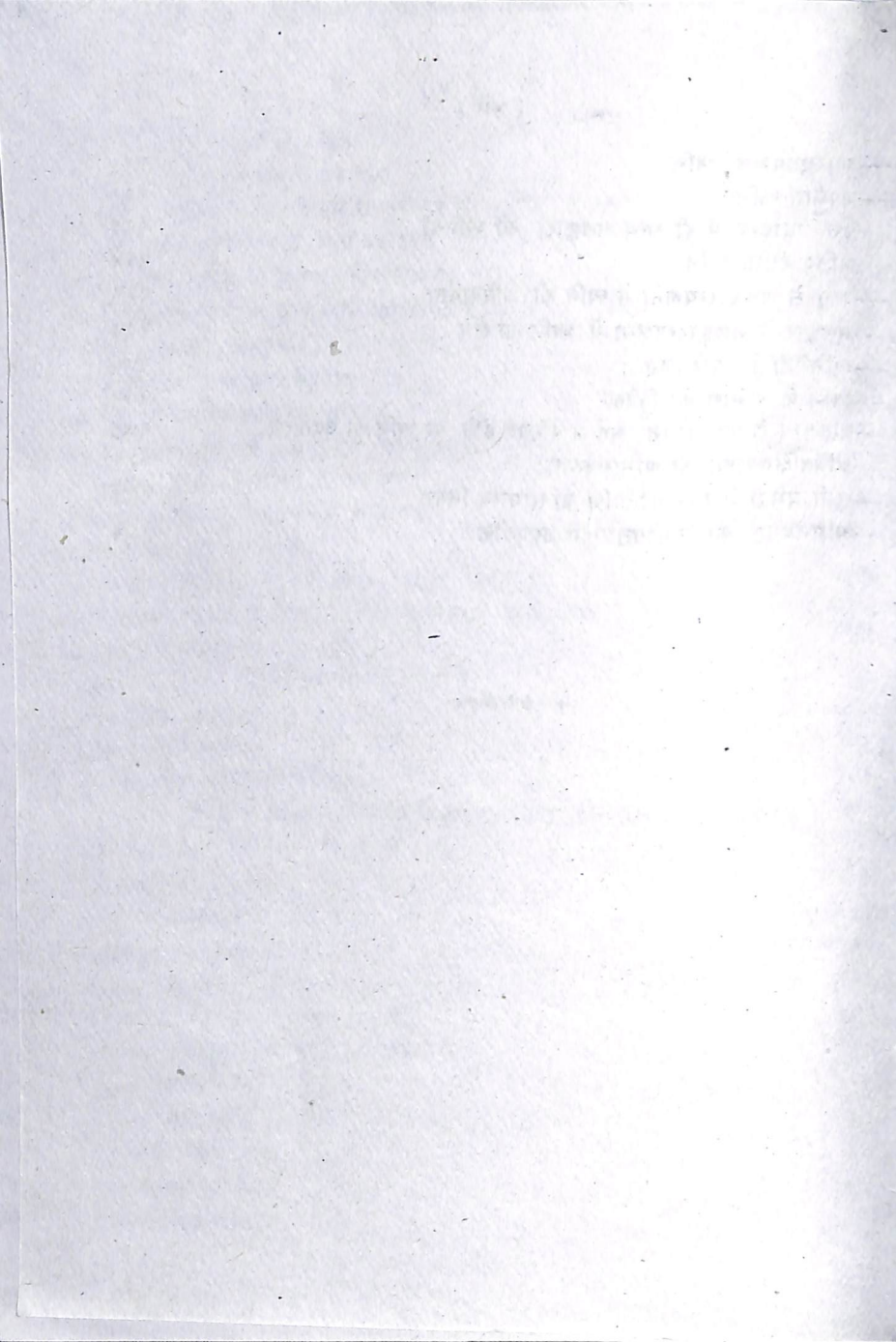
ध्वन्यालोकः
द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥ १॥

(अनु०) इस प्रकार (प्रथम उद्योत में) दो प्रकार की ध्वनि प्रकाशित की गई थी—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। उनमें अविवक्षितवाच्य के अवान्तर भेद तथा विवक्षितान्यपरवाच्य से उसके भेद का प्रतिपादन करने के लिये यह कहा जा रहा है :—

'अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का होता है—(१) अर्थान्तर में सङ्क्रमित अथवा अत्यन्ततिरस्कृत।'

लोचन

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते ध्वंसयते रुजः।
तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम्॥

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते—एवमित्यादि। प्रकाशित इति। मया वृत्तिकारेण सतेतिभावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तथेति। तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं बीजभूतमिति सम्बन्धः।

लोचन

जो स्मरण की हुई कल्याणों को उत्पन्न करती है और रोगों को ध्वस्त करती है, अभीष्ट फलों के लिये उदार कल्पलता (भगवती) उस शिवा की हम स्तुति करते हैं।

वृत्तिकार उद्योत की सङ्गति करने के लिये उपक्रम कर रहा है—एवम् इत्यादि। प्रकाशित इति। अर्थात् वृत्तिकार होते हुये मेरे द्वारा। यह मैंने सूत्र का उल्लङ्घन करके नहीं कहा अपितु कारिकाकार के अभिप्राय से ही यह कह रहे हैं—तत्र इति। उसमें अर्थात् वृत्तिकार के किये हुये दो प्रकार के प्रकाशन में जो निमित्त अर्थात् बीजभूत है, यह सम्बन्ध है।

तारावती

द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ में भी लोचनकार ने मङ्गलाचरण किया है। वस्तुतः शास्त्रीय परम्परा मध्य में भी मङ्गलाचरण करने का प्रतिपादन करती है—(मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि

लोचन

यदि वा—तत्रेति पूर्वं शेषः। तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षित-वाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। तदवान्तरभेदप्रतिपादन-द्वारेणैव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यात्प्रभिन्नत्वं

अथवा वहाँ पर 'तत्र' यह पहले (उद्योत) का शेष है। उसमें प्रथम उद्योत मे वृत्ति-कारके द्वारा प्रकाशित किया हुआ अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् अवान्तर प्रकार है उसके प्रकाशन के लिये यह कहा जा रहा है। उसके अवान्तर भेद के प्रतिपादन के द्वारा ही और अनुवाद के द्वारा अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य से प्रभिन्नत्व (है)

तारावती

मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।) अभिनवगुप्त शैव थे इसीलिये उन्होंने यहाँपर भगवती शिवा (पार्वती) की वन्दना की है—'जो भगवती पार्वती स्मरण करते ही अपने भक्तों के आनन्द-मङ्गल को उत्पन्न करती हैं तथा उनके रोगों और आपत्तियों को ध्वस्त कर डालती हैं; वे भगवती अभीष्ट फल देने में उदार कल्पलता के समान हैं, मैं उन्हीं कल्याणकारिणी भगवती पार्वती की वन्दना कर रहा हूँ।' एक दूसरे पद्य में अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को भी 'शिवा' कहा है। यदि यहाँ पर प्रतिभा का अर्थ लगाया जावे तो इसका आशय होगा—भगवती प्रतिभा देवी की जैसे ही उपासना की जाती है वैसे ही मानव के आनन्दमङ्गल का विधान हो जाता है और सारे कष्ट कट जाते हैं। वस्तुतः काव्य का परिशीलन एक ओर ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द का विधान करता है, दूसरी ओर लोकवृत्त में पटुता प्रदान कर अकल्याण का नाश करता है। इससे अनायास चतुर्वर्गफलप्राप्ति हो जाती है। इसीलिये प्रतिभा को सभी फल देने के लिये उदार कल्पलता बतलाया गया है।

[प्रथम उद्योत में लक्षणापक्ष के निराकरण की सुविधा के लिये आलोककार ने ध्वनि के दो भेद कर लिये थे—अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन कारिकाकार ने नहीं किया, तथापि इन दोनों भेदों के अवान्तर भेदों का निरूपण प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है जिससे उक्त भेद कारिकाकार के सम्मत सिद्ध होते हैं। आलोककार ने यहाँ पर अपने उक्त ग्रन्थ की सङ्गति कारिकाकार से लगाते हुये ही प्रस्तुत उद्योत का प्रारम्भ किया है।] ग्रन्थकार प्रथम उद्योत की सङ्गति द्वितीय उद्योत से लगाते हुये (इस द्वितीय उद्योत का) प्रारम्भ कर रहे हैं। यहाँपर वृत्तिकार का आशय यह है कि मैंने वृत्तिकार होने के नाते ध्वनि के दो प्रकारों को प्रकाशित किया था। यह मैंने सूत्र का उल्लङ्घन करके नहीं कहा था। अर्थात् जो कुछ मैंने कहा था वह सूत्रकार को अभिप्रेत न हो ऐसी बात नहीं थी, कारिकाकार को भी ये भेद अभिप्रेत ही हैं। इसी अभिप्राय से यहाँपर लिखा गया है कि 'अविवक्षितवाच्य के उपभेदों का प्रतिपादन करने के लिये प्रथम कारिका लिखी गई है। आशय यह है कि वृत्तिकार ने ध्वनि के दो भेदों का जो

लोचन

तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति-भावः। सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च। येन वाच्येन अविवक्षितेन सताऽविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्व्यपदिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः। योऽर्थं उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तर-संवलनयान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरि-णत उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति।

उसके प्रतिपादन के द्वारा यह कहा जा रहा है। यह भाव है कि मूलरूप में दो भेद होना कारिकाकार का भी सम्मत है। 'संक्रमितम्' में णिच् के द्वारा व्यञ्जनाव्यापार में जो सहकारी वर्ग है उसका यह प्रभाव है यह कहा गया और तिरस्कृत शब्द के द्वारा भी यही कहा गया। जिस वाच्य के अविवक्षित होते हुये अविवक्षितवाच्य यह नामकरण होता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है; यह सम्बन्ध है। उपपन्न होते हुये भी जो अर्थ उतने से ही अनुपयोग होने के कारण दूसरे धर्म के सम्मिलन से दूसरा सा होकर लक्षित होता है तथा सूत्रन्याय से धर्मी से अनुगत होकर विद्यमान होता है वह रूपान्तरपरिणत कहा गया है। और जो अनुपपन्न होते हुए केवल उपाय रूपसे ही दूसरे अर्थ की प्रतीति करके पलायन कर जाता है वह तिरस्कृत यह (कहा जाता है)।

तारावती

प्रकाशन किया था उसमें बीजभूत निमित्त प्रस्तुत कारिकायें ही हैं। अथवा 'तत्र' यह पूर्व शेष है। अर्थात् 'तत्र' का अर्थ है प्रथम उद्योत में। आशय यह है कि वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में जो अविवक्षितवाच्य नामक ध्वनि का अवान्तर भेद प्रकाशित किया था उसी का प्रतिपादन करने के लियॆ प्रस्तुत कारिका लिखी गई है। कारिका में अविवक्षितवाच्य के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया गया है। अविवक्षितवाच्य स्वयं ध्वनि का एक प्रभेद या अवान्तर भेद है। अतएव उसी प्रभेद का उल्लेख करते हुये अनुवाद के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अविवक्षितवाच्य नामक अवान्तर भेद विवक्षितान्यपरवाच्य नामक प्रभेद से भिन्न होता है। निष्कर्ष यह है कि वृत्तिकार द्वारा प्रथम उद्योत में बतलाये हुये ध्वनि के दो भेद कारिकाकार के भी सम्मत हैं। यद्यपि कारिकाकार ने इन भेदों का उल्लेख किया नहीं है। (अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।) यहाँ पर 'संक्रमित' शब्द में प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, (शुद्ध क्रिया संक्रान्त का नहीं।) इसका आशय यह है कि (अर्थ अपनी विशेषता से ही स्वतः दूसरे अर्थ में संक्रान्त नहीं हो जाता अपितु) व्यञ्जनाव्यापार का जो सहकारी वर्ग है, उसी का यह प्रभाव होता है कि वह एक अर्थ (मूल वाच्यार्थ) का संक्रमण दूसरे अर्थ में करा देता है। यही तिर-

ध्वन्यालोकः

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्गयस्यैव विशेषः

(अनु०) और उस प्रकार के उन दोनों भेदों से व्यङ्गय की ही विशेषता होती है।

लोचन

ननु व्यङ्गयात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्कयाह—तथाविधाभ्यां चेति। चो यस्मादर्थे। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्गयवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

(प्रश्न) व्यङ्गयात्मक ध्वनि का भेद-निरूपण किया जा रहा है तब वाच्य दो प्रकार का होता है यह भेदकथन सङ्गत नहीं है? यह शङ्का कर के उत्तर देते हैं—'तथाविधाभ्यां च ताभ्याम्' (यहाँ पर) 'च' 'जिससे' के अर्थ में आया है। भाव यह है कि व्यञ्जक के वैचित्र्य से व्यङ्गय का वैचित्र्य निःसन्देह उचित है। आशय यह है कि जब व्यञ्जक अर्थ में ध्वनि शब्द हो तो कोई दोष नहीं है।

तारावती

स्कृत शब्द के 'क्त' प्रत्यय का भी अर्थ है। अर्थात् व्यञ्जक का सहकारी वर्ग ही वाच्यार्थ का तिरस्कार करने में कारण होता है। यहाँ पर कारिका का सम्बन्ध इस प्रकार होगा—जिस वाच्य के अविवक्षित हो जाने पर ध्वनि का नाम अविवक्षितवाच्य पड़ जाता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है—एक तो वह होता है जहाँ अर्थ उपपन्न तो हो जाता है किन्तु उतने ही अर्थ का उपयोग नहीं होता—वह अर्थ अपूर्ण मालूम पड़ता रहता है अतएव उसका सम्मिश्रण दूसरे धर्मों (अर्थों) से हो जाता है और वह अन्य का जैसा प्रतीत होने लगता है। वह लक्ष्यमाण (प्रतीयमान) अर्थ का अनुगमन करते हुए स्थित रहता है। (आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य के प्रथम भेद में वाच्यार्थ पूर्णतया अनुपपन्न नहीं होता। वाच्यार्थ का उपयोग अवश्य होता है किन्तु वह अर्थ अपूर्ण सा मालूम पड़ता रहता है। अतः वह अपनी पूर्ति के लिए दूसरे धर्मों से मिल जाता है, इसी कारण वह अर्थ और का जैसा हो जाता है। ये समस्त धर्म प्रतीयमान होते हैं। इन समस्त धर्मों का एक धर्मी में उसी प्रकार संक्रमण हो जाता है जिस प्रकार एक सूत में अनेक प्रकार के पुष्प पिरोये जाते हैं।) अविवक्षितवाच्य के इस प्रथम प्रभेद को रूपान्तरपरिणत अथवा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य कहते हैं। अविवक्षितवाच्य का दूसरा प्रकार वह है जिसमें वाच्यार्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। उसका उपादान केवल इसलिये होता है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति में वाच्यार्थ एक उपायमात्र होता है। (वाच्यार्थ का बाध भी लक्षणा की एक शर्त है। लक्ष्यार्थप्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक वाच्यार्थबाध न हो और वाच्यार्थबाध तब तक नहीं हो सकता जब तक वाच्यार्थ की प्रतीति न हो। इस प्रकार लक्ष्यार्थप्रतीति में यह वाच्यार्थ केवल उपाय होता है।) यह वाच्यार्थ दूसरे अर्थ

ध्वन्यालोकः

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघनाः।
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः॥
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव॥

इत्यत्र राम शब्दः।

(अनु०) उनमें अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण जैसे :—'स्निग्ध और श्यामल मेघों की कान्ति से आकाश लिप्त हो रहा है, बादलों के चारों ओर हर्षपरवश बलाकायें उड़ रही हैं, वायु जलकणों से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त शीतल है और मेघों के सुहृद् मयूरों की आनन्ददायक प्रकृति-मधुर केकावाणी भी व्याप्त हो रही है। हुआ करे, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ। सब कुछ सह रहा हूँ। किन्तु वैदेही कैसी होगी 'हाय हाय हाय देवी धैर्य धारण करो।'

यहाँ पर राम शब्द।

लोचन

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमपि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमेवाह—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो यथेति अत्रश्लोके। रामशब्द इति सङ्गतिः।

अन्वर्थ नामवाले भेदप्रतिपादक के द्वारा ही लक्षण भी सिद्ध है, इस अभिप्राय से उदाहरण ही कहते हैं—'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य जैसे इति। इस श्लोक में राम शब्द यह सङ्गति है।

तारावती

(लक्ष्यार्थ) की प्रतीति कराकर स्वयं मानो पलायन कर जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का तिरस्कार हो जाने के कारण (दूसरे) प्रकार को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहते हैं।

(प्रश्न) ध्वनि की आत्मा है व्यङ्ग्यार्थ। इस ध्वनि के ही भेदों का निरूपण करना है; फिर 'वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है' यह कहकर वाच्यार्थ का भेदकथन किस प्रकार सङ्गत हो सकता है? (उत्तर) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए वृत्तिकार ने लिखा है कि 'और उस प्रकार के इन दोनों वाच्यभेदों से व्यङ्ग्य की ही विशेषता सिद्ध होती है।' यहाँ पर 'च' का अर्थ है 'क्योंकि'। आशय यह है कि वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है और व्यञ्जक की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता भी सिद्ध होती है। पहले बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का अर्थ व्यञ्जक भी होता है, यदि यह अर्थ माना जाये तो यहाँ पर वाच्यार्थ के भेद करने में कोई दोष नहीं।

(यहाँ पर उचित यह था कि इन दोनों भेदों के लक्षण दिये जाते। किन्तु लक्षण न देकर यहाँ पर वृत्तिकार ने उदाहरण देना प्रारम्भ कर दिया है। इसका कारण यह है कि) भेद प्रतिपादन के लिए जिन शब्दों का उपादान किया गया है, वे वास्तव में अन्वर्थ संज्ञायें

लोचन

स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया, द्रविड़वनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचिक्येन क्षिप्रमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात् प्रहर्षवशाच्च वलाकाः सितपक्षिविशेषा येषु त एवंविधाः मेघाः। एवं नभस्तावद्दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुस्सहाः। यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित्प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसम्वादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति, स्वयं च दुस्सहाः इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्त्विति।

स्निग्ध और जलसम्बन्ध से सरस श्यामल अर्थात् द्रविड वनिता में मिलनेवाले कृष्ण वर्ण की कान्ति अर्थात् चमक दमक के द्वारा लिप्त अर्थात् व्याप्त कर लिया गया है वियत् अर्थात् आकाश जिनके द्वारा। अत्यन्त उत्कर्ष से तथा प्रहर्षवश उद्वेलन करने वाली अर्थात् प्रसरणशील तथा चलनेवाली हैं वलाकायें अर्थात् विशेष प्रकार के श्वेत पक्षी जिनमें वे इस प्रकार के मेघ। इस प्रकार आकाश कठिनाई से देखा जाने योग्य है। दिशायें भी दुस्सह हैं क्योंकि सूक्ष्म जलकणों का उद्‌गिरण करनेवाले पवन चल रहे हैं। बहुवचन से मन्दमन्दत्व तथा अनियत दिशा से आना सूचित होता है। तो कहीं गुफाओं में प्रविष्ट होकर बैठो, इससे कह रहे हैं—मेघों के जो सुहृद् तथा उनके होते हुए जो शोभन हृदयवाले मयूर उनके आनन्द अर्थात् हर्ष से कल अर्थात् षड्‌ज से मेल खानेवाली केका अर्थात् विशेष प्रकार का शब्द, वे (केकायें) समस्त दुस्सह पयोद-वृत्तान्त का स्मरण करा रही हैं और स्वयं दुस्सह हैं, यह भाव है। इस प्रकार उद्दीपन विभाव से उद्बोधित विप्रलम्भ शृङ्गार वाले (भगवान् राम) रति के परस्पर अधिष्ठान होने के कारण विभावों की साधारणता को मानते हुए यहीं से प्रियतमा को हृदय में धारणकर ही अपना वृत्तान्त कह रहे हैं—कामं सन्तु इत्यादि।

तारावती

हैं, अर्थात् शब्द से ही उनका लक्षण भी सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ पर उदाहरण ही दे दिया है। ('स्निग्ध ......' यह पद्य महानाटक से लिया गया है और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में तथा मम्मट ने काव्यप्रकाश में इसे उद्धृत किया है।) यहाँपर सङ्गति इस प्रकार लगायी जाती है—'उनके (भेदों) में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण जैसे इस पद्य में राम शब्द।' मेघ आकाश को चारों ओर से घेरे हुये हैं। इनका वर्ण स्निग्ध है अर्थात् जल से परिपूर्ण होने के कारण इनकी कान्ति अत्यन्त सरस है। इनकी कान्ति श्यामल भी है अर्थात् द्रविडवनिताओं में प्राप्त होने वाले श्यामवर्ण से युक्त है। इस प्रकार की कान्ति अर्थात् तरल प्रभा

लोचन

दृढ़मिति सातिशयम्। कठोरहृदय इति। रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्। यथा तद्गेहम् इत्युक्तेऽपि 'नतभित्ति' इति। अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौशल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं

दृढम् का अर्थ है अतिशयता से युक्त। कठोर हृदय इति। राम शब्द के अर्थ के द्वारा विशेष प्रकार की ध्वनि को अवकाश देने के लिए 'कठोर हृदय' शब्द (का प्रयोग किया गया है)। जैसे 'तद्गेहम्' यह कह दिये जाने पर भी 'नतभित्ति' यह शब्द। अन्यथा राम शब्द दशरथकुलोत्पन्नत्व कौशल्यास्नेहपात्रत्व बाल्यचरित जानकीलाभ इत्यादि धर्मान्तर-परिणत अर्थ

तारावती

से आकाश व्याप्त हो रहा है। (यही बलाकाओं के गर्भाधान का समय है, अतः) बगलों की पंक्तियाँ उत्साह से भरी हुई हैं और प्रकाशित हो रही हैं तथा चल भी रही हैं, क्योंकि वे मेघों के श्याम और अपने श्वेत वर्ण के मिल जाने से परम सौभाग्य को प्राप्त हो रही हैं तथा प्रहर्षपरवश भी हैं। बलाका एक विशेष प्रकार का श्वेत पक्षी होता है। उनसे युक्त मेघ आकाश में छाये हुए हैं। अतः उद्दीपनों से परिपूर्ण होने के कारण आकाश की ओर देखना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। तो फिर आकाश की ओर देखने की आवश्यता ही क्या? दिशाओं का मण्डल ही देखने के लिये क्या थोड़ा है? किन्तु दिशाओं की ओर देखना भी असह्य है क्योंकि उनमें उद्दीपक मन्द-मन्द वायु बह रही है। यह वायु छोटे-छोटे जलकणों को उद्गीर्ण कर रही है। 'वाताः' शब्द में बहुवचन का प्रयोग व्यक्त करता है कि वायु अनिश्चित दिशा से आ रही है और बहुत ही मन्द-मन्द बह रही है। अतः दिशाओं की ओर भी नहीं देखा जा सकता। तो फिर कहीं गुफाओं में छिपकर कालयापन करना चाहिये। किन्तु यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि मयूर मेघों के मित्र होते हैं। वे मेघ विद्यमान हैं ही। अतएव शोभन हृदय रखनेवाले इन मयूरों की मधुर केका वाणी हर्ष और आनन्द के कारण अत्यन्त कल अर्थात् श्रुति-मधुर हो गई है जो कि षड्ज ध्वनि की संवादिनी है। हम चाहे जहाँ जाकर बैठें उन मयूरों की मधुर वाणी मेघ के सम्पूर्ण वृत्तान्त का स्मरण करा ही देती है। वह मेघवृत्तान्त असह्य है और मयूरों का कलरव भी असह्य ही है। इस प्रकार राम का विप्रलम्भ उद्दीपन विभावों से उद्बोधित हो गया है। रति उभयनिष्ठ होती है। दोनों प्रेमी एक दूसरे के प्रति रतिभाव के अधिष्ठान होते हैं। और उद्दीपन विभाव दोनों के हृदयों में समान रूप में ही रसोद्दीपन करते हैं। यही समझकर उद्दीपनों का प्रथम दो पंक्तियों में वर्णन कर इसके आगे प्रियतमा को हृदय में रखकर प्रथम अपने वृत्तान्त का कथन कर रहे हैं—कि मेरे लिये ये उद्दीपन चाहे जितनी मात्रा में बने रहें। 'दृढम्' का अर्थ है बहुत अधिक और 'कठोरहृदय' शब्द राम का विशेषण है। इस शब्द का विशेष रूप में उपादान इसलिये किया गया है जिससे राम शब्द की ध्वनि को अवसर प्राप्त हो जाये। जैसे 'तद्गेहं नतभित्ति' इस पद्य में 'गेहम्' का 'तद्' विशेषण रख देने मात्र से ही

लोचन

न ध्वनेदिति। अस्मीति। स एवाहं भवामीत्यर्थः। भविष्यतीति क्रियासामान्यम्। तेन किं करिष्यतीत्यर्थः। अथ च भवनमेवास्या असम्भाव्यमिति। उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससम्भ्रममाह-हहाहेति। देवीति। युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः॥

को क्यों न ध्वनित करेगा? 'अस्मि' इति। अर्थात् मैं वही हूँ। भविष्यति यह सामान्य क्रिया है। उससे 'क्या करेगी?' यह अर्थ हो जाता है। और भी इसका होना ही असम्भाव्य है। उक्त प्रकार से हृदयनिहित, स्मरण (वैदेही इत्यादि) शब्द और विकल्प की परम्परा से प्रत्यक्ष की हुई तथा हृदय को स्फुटित करने के लिए उद्यत प्रियतमा के विषय में सम्भ्रमपूर्वक कहते हैं—ह हा हा इति। 'देवि इति'। तुम्हारा धैर्य उचित है।

तारावती

घर की दुर्दशा व्यक्त हो जाती है। 'नतभित्ति' कहकर उस व्यञ्जना को और अधिक अवकाश प्रदान कर दिया गया है। यदि यहाँ पर 'कठोर हृदय' इस विशेषण का प्रयोग न किया गया होता तो दशरथकुलोत्पन्नत्व, कौशल्यास्नेहपात्रत्व, बालचरित, जानकीलाभ इत्यादि दूसरे धर्मों में परिणत अर्थ को ध्वनित क्यों न करता? 'अस्मि' की व्यञ्जना यह है कि मैं राम 'तो जीवित हूँ' किन्तु 'भविष्यति' इस सामान्य क्रिया के प्रयोग द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि सीता के होने में ही सन्देह है। सीता जी राम के हृदय में विद्यमान हैं, उनको राम ने उक्त प्रकार से उद्दीपनों का स्मरण करते हुए, 'वैदेही' इस सम्बोधन के द्वारा तथा 'सीता होगी या नहीं होगी' इस विकल्प के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है और अब स्मरण के माध्यम से प्रत्यक्षभाव को प्राप्त सीता जी राम के हृदय को विदीर्ण करने ही वाली हैं। अतः राम ने संभ्रमसूचक 'ह हा हा' इन शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही राम प्रत्यक्षीभूत सीता को ढाढस भी दे रहे हैं और उसके लिये उन्होंने 'देवि' शब्द का प्रयोग किया है। देवी के पद पर जिसका अभिषेक किया जा चुका है उसको तो धैर्यशालिनी होना ही चाहिये। यहाँ पर राम शब्द का अर्थ उपयुक्त नहीं होता। (राम का स्वयं यह कहना कि 'मैं राम हूँ' कोई अर्थ नहीं रखता। अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण इसका लक्ष्यार्थ है मैं 'सहन की शक्ति रखनेवाला राम हूँ।') इस लक्षणा का प्रयोजन है राज्य-निर्वासन इत्यादि असंख्य अन्यधर्मों से इसका संयोग हो जाना। (यहाँ पर आशय यह है कि मैं ने अपने जीवन में कभी सुख नहीं देखा, मुझे राज्य से च्युत होना पड़ा, बन्धु वियोग हुआ, पिता की मृत्यु हुई, माताओं का वियोग सहा और अन्त में प्राणप्रिया सीता का भी वियोग सहना पड़ा। इस प्रकार कष्ट सहते-सहते मेरा हृदय कठोर हो गया है। इन उद्दीपनों का सह लेना मेरे लिये बड़ी बात नहीं। किन्तु बेचारी सीता की क्या दशा होगी? वह तो विदेहराज की प्यारी पुत्री है सदा सुखमय जीवन बितायी है, वह कोमलाङ्गी इन उद्दीपनों को सहकर जीवित रह सकी होगी इसमें भी

तारावती

सन्देह है। यहाँ पर ध्यान देनेवाली बात यह है—गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में लिखा है कि यहाँ राम शब्द बाधित हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'राम सभी दुःखों के पात्र हैं।' इसके प्रतिकूल वृत्तिकार ने सभी दुःखों के सहने को व्यङ्ग्यार्थ माना है और उसको विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यञ्जक कहा है। गोविन्द ठक्कुर ने व्यङ्ग्यार्थ माना है—'मैं सीता के बिना भी जीवित रह सकूँगा।' यदि इस पद्य को ध्वनि काव्य का उदाहरण मानना है तो प्रधानीभूत चमत्कारोत्पादक अर्थ की व्यङ्ग्यता ही माननी पड़ेगी और उसी को प्रधान मानना पड़ेगा। यहाँ पर चमत्कारकारक अर्थ है राम के अनेक प्रकार के कष्टों का समूह। अतः यह व्यङ्ग्य ही है लक्ष्य नहीं। अन्यथा यह ध्वनि काव्य का उदाहरण हो ही न सकेगा।) राम के अनेक प्रकार के कष्ट असंख्य हैं। अतः अभिधाव्यापार के द्वारा उनका प्रकथन सर्वथा असंभव है। यदि उन सबका प्रकथन सम्भव भी हो तब भी एक-एक करके ही उनका उल्लेख किया जावेगा। अतएव सब मिलकर एक बुद्धि को उत्पन्न कर ही नहीं सकते। अतः सब मिलकर विचित्र प्रकार की चर्वणा का उत्पादन भी नहीं कर सकते और न चारुता की अतिशयता का ही सम्पादन कर सकते हैं। किन्तु जब उनको व्यञ्जना के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तब उनमें पृथक् पृथक् विशेषता का प्रतिभास नहीं होता, वे कौन-कौन रूप को नहीं सह सकते अर्थात् उनमें सभी अर्थों को समेट लेने की शक्ति होती है। तथा सब मिलकर एक बुद्धि में उपारूढ़ हो जाते हैं जैसे विभिन्न रसों से बने हुए पानक में सभी रसों का पृथक्-पृथक् स्वाद प्रतीत नहीं होता सभी का सङ्घातरूप ही आस्वाद-गोचर होता है। अथवा जैसे पुये में विभिन्न द्रव्यों का एक सामूहिक रस बन जाता है, जैसे गुड़ के लड्डुओं में विचित्र प्रकार की चर्वणा उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार 'राम' शब्द के द्वारा सभी व्यङ्ग्य अर्थों का एक सङ्घातरूप चर्वणागोचर हो जाता है जो कि व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य माध्यम से सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा गया है—'जब शब्द व्यञ्जक बनकर ऐसी चारुता को प्रकाशित किया करता है जो कि अन्य उक्ति से सम्भव नहीं होती, वही ध्वनि का रूप धारण करता है।' चर्वणा की विचित्रता का सम्पादन और दूसरी उक्ति से बोधन की अक्षमता ही ऐसे हेतु माने जाने चाहिये जो कि लक्षणा में प्रतीयमान प्रयोजन को उत्कर्ष प्रदान किया करते हैं। यह बात इस ध्वनि के सभी उदाहरणों में लागू होती है। आशय यह है कि जिस प्रयोजन को लेकर बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है वह प्रयोजन अन्य उपाय से अभिहित नहीं किया जा सकता और न साङ्घातिक प्रभाव ही अन्य उपाय से सम्भव होता है। यहीं प्रतीयमान प्रयोजन की मुख्यता में कारण है और इसी कारण प्रतीयमान अर्थ ध्वनिरूपता को प्राप्त होता है। (कुछ लोगों ने लिखा है कि इस पद्य में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भी उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं—'आकाश निराकार है अतः उसका लेपन बाधित होकर 'व्यापन' इस लक्ष्यार्थ को प्रकट करता है। इसी प्रकार मित्र कोई चेतन

ध्वन्यालोकः

अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्।

(अनु०) इससे केवल संज्ञी (राम) का ही प्रत्यायन नहीं होता अपितु दूसरे व्यङ्ग्य धर्मों से परिणत संज्ञी का प्रत्यायन होता है।

लोचन

अनेनेति। रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यधर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम्। तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति। यथोक्तम्—उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः।

अनेन इति। भाव यह है कि अनुपयुक्त अर्थवाले राम शब्द के द्वारा। दूसरा व्यङ्ग्य धर्म राज्य निर्वासन इत्यादि असंख्य प्रकार का प्रयोजनरूप है। वह असंख्य होने के कारण अभिधाव्यापार के द्वारा समर्पण में अशक्य है। क्रम से अर्पण किये जाने पर भी एक बुद्धि के विषय हो सकने के अभाव के कारण विचित्र प्रकार की चर्वणा के योग्य नहीं हो सकता। अतः चारुता की अधिकता करनेवाला नहीं है। प्रतीयमान तो उन असंख्य अनुद्भिन्न विशेषतावाले होने के कारण ही क्या-क्या रूप नहीं सह सकते इस प्रकार चित्रपानक रस, अपूप और गुडमिश्रित मोदक के समान विचित्र चर्वणा का स्थान बन जाता है। जैसा कहा गया है—'जो दूसरी युक्ति से अशक्य हो' इत्यादि। प्रयोजन के प्रतीयमान होने के कारण यही सर्वत्र उत्कर्ष का हेतु माना जाना चाहिए।

तारावती

हो सकता हैं बादलों को मित्र कहना बाधित होकर आनन्ददायक इस अर्थ को लक्षित करता है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं, क्योंकि चारुता का पर्यवसान इन अर्थों में नहीं होता। चारुता का पर्यवसान तो राम शब्द के द्वारा विभिन्न व्यङ्ग्य अर्थों में ही होता है। अतः राम शब्द की अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता ही ध्वनि का रूप धारण कर सकती है 'लिप्त' तथा 'सुहृद' की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता नहीं।)

वृत्तिकार ने लिखा है 'यहाँ पर संज्ञीमात्र (केवल संज्ञी) का प्रत्यायन नहीं होता'। इसका आशय यह है कि 'यहाँ पर अन्य धर्मों की प्रतीति के साथ संज्ञी 'राम' की भी प्रतीति होती है। संज्ञी का अत्यन्त तिरस्कार नहीं होता।' अतएव यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का ठीक उदाहरण नहीं हो सकता इसमें किसी न किसी रूप में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता आ जाती है। इसी अरुचि के कारण अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का ही एक दूसरा उदाहरण और दिया गया है। यह पद्य आनन्द वर्धन की स्वरचित पुस्तक विषमबाणलीला से उद्धृत किया गया है। 'जब

ध्वन्यालोकः

यथा च ममैव विषमवाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रइ किरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं॥
(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥)

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः।

(अनु०) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का दूसरा उदाहरण जैसे मेरी लिखी हुई पुस्तक विषमवाणलीला का यह पद्य :—

'गुण तभी वास्तव में गुण बनते हैं जब वे सहृदयों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। रवि-किरणों द्वारा अनुगृहीत होकर ही कमल कमल बनते हैं। यहाँपर द्वितीय कमल शब्द अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य का उदाहरण है।

लोचन

मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह—यथा चेत्यादि। ताला तदा। जाला यदा। घेप्पन्ति गृह्यन्ते। अर्थान्तरन्यासमाह–रविकिरणेति। कमलशब्द इति। लक्ष्मी-पात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रतापरिणतं संज्ञिनमाहेत्यर्थः। तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्राथ तद्धर्मसमवायः। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि। एवं कमलशब्दः। गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमाहेति। तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम्। अनुपयोगबाधितो ह्यर्थोऽस्य ध्वनेर्विषयो लक्षणामूलं ह्यस्य।

मात्र शब्द के प्रयोग से यहाँ पर संज्ञी का तिरस्कार नहीं किया गया है इसलिए कहते हैं—यथा च इत्यादि। ताला का अर्थ है तब। जाला का अर्थ है जब। घेप्पन्ति का अर्थ है ग्रहण किये जाते हैं।

अर्थान्तरन्यास को कहते हैं—रवि किरणेत्यादि। कमल शब्द इति। अर्थात् लक्ष्मीपात्रत्व इत्यादि सैकड़ों दूसरे धर्मों में परिणत संज्ञी को कहता है। उससे शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधानि-मित्तक वहाँ पर अर्थ में उसके धर्मों का समवाय हो जाता है। उसी निमित्त से रामशब्द धर्मा-न्तरपरिणत अर्थ को लक्षित कराता है। शब्द के द्वारा वाच्य न होनेवाले असाधारण व्यङ्ग्य ही दूसरे धर्म होते हैं। इसी प्रकार कमल शब्द। गुण शब्द तो संज्ञी को कहता है। उसमें जिस बल पर किसी ने आरोप करके कहा है वह सहृदयों की प्रतीति से असिद्ध है। अनुपयोग के द्वारा बाधित अर्थ निस्सन्देह इस ध्वनि का भेद होता है और इसका मूल निस्सन्देह लक्षणा होती है।

लोचन

यत्तु हृदयदर्पण उक्तम्—'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कार' इति। अत्रापि संरम्भ आवगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः। न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसहायकेन विना संरम्भोल्लासोऽपि। अहं सहे तस्याः किं वर्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः। कमलपदे च कः संरम्भः इत्यास्तां तावत्। अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधाऽत्रास्तीति लक्षण मूलत्वादविवक्षितवाच्यभेदता त्वस्योपपन्नैव शुद्धार्थस्याविवक्षणात्। न च तिरस्कृतत्वं धर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात्।

जो कि हृदय दर्पण में कहा है—'ह हा हा यह संरम्भार्थक चमत्कार है।' वहाँ पर भी संरम्भ आवेग को कहते हैं जो कि विप्रलम्भ का व्यभिचारी है, इससे रसध्वनि तो मान ही ली। रामशब्द से अभिव्यक्त अर्थ की सहायता के विना संरम्भ का उद्‌गम हो ही नहीं सकता। संरम्भ की आत्मा निस्सन्देह यही है कि 'मैं सहता हूँ उसका क्या होगा?' कमल शब्द में क्या संरम्भ है? इस प्रकार अधिक रहने दो। अनुपयोगात्मक मुख्यार्थबाधा यहाँ पर है इस प्रकार लक्षणामूलक होने के कारण इसका अविवक्षित वाच्य का भेद होना उपपन्न ही है क्योंकि (यहाँ पर) शुद्ध अर्थ की विवक्षा नहीं होती। धर्मी के रूप में तिरस्कार नहीं ही होता क्योंकि उतने में उसका भी अनुगम हो ही जाता है।

तारावती

सहृदयों द्वारा आदृत होते हैं तभी गुण गुण बन जाते हैं। सूर्य किरणों द्वारा अनुगृहीत होकर ही कमल कमल बनते हैं।' यहाँ पर 'ताला का संस्कृत रूप है 'तदा', 'जाला' का संस्कृत रूप है 'यदा' 'घेप्पन्ति' का संस्कृत रूप है 'गृह्यन्ते।' द्वितीय दल में अर्थान्तरन्यास (प्रतिपादक प्रमाण) का उल्लेख किया गया है। प्रथम कमल शब्द का तो सामान्य 'कमल' अर्थ है किन्तु द्वितीय कमल शब्द का अभिधेयार्थ बाधित हो जाता है, जो कमल है ही वह कमल क्या हो जावेगा? अतः बाधित होकर इसका लक्ष्यार्थ हो जाता है वास्तविक कमल। व्यङ्ग्य प्रयोजन हैं—कमल के अनेक गुण जैसे लक्ष्मीपात्रत्व इत्यादि इस प्रकार के सैकड़ों धर्मों का सङ्घातरूप विचित्रीभाव। इन सैकड़ों धर्मों से संवलित होकर विचित्रभाव से युक्त कमल संज्ञी ही दूसरे कमल शब्द का प्रतीयमान अर्थ है (अलङ्कारसम्प्रदायवादियों की दृष्टि से यहाँ पर लाटानुप्रास होगा—क्योंकि दूसरे कमल शब्द का तात्पर्य है धर्मविशिष्ट कमल। वे धर्म होगें सौरभ, सौकुमार्य, कान्तिमत्त्व, कान्तावदनोपमानयोग्यता इत्यादि। इस प्रकार तात्पर्यमात्र में भेद होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहेंगे।) कुछ लोगों का कहना है—'शुद्ध अर्थात् मुख्य अर्थ मे बाधा उपस्थित होती है। (यह लक्षणा की प्रथम शर्त हुई।) उस अर्थ में उसके धर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं यही लक्षणा में निमित्त है। इसी निमित्त को मानकर राम शब्द की लक्षणा सद्धर्मों से परिणत अर्थ में हो जाती है। यहाँ पर प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ होंगे दूसरे असाधारण धर्म, जिनका शब्द के द्वारा अभिधान किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् राम का अनेक

ध्वन्यालोकः

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति

अत्रान्धशब्दः ।

(अनु०) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण जैसे आदिकवि वाल्मीकि का श्लोक —

'जिसका सौभाग्य सूर्य में संक्रान्त हो गया है (अर्थात् हेमन्त में सूर्य भी चन्द्र के समान आह्लादकारक हो जाता है।), जिसका मण्डल तुषार से आवृत है वह चन्द्र निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है।' यहाँ पर अन्धशब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है।

तारावती

प्रकार के कष्टों का अनुभव करना लक्ष्यार्थ है और राम का निर्वेद ग्लानि मोह इत्यादि व्यंग्य है। इसी प्रकार 'कमल' शब्द के विषय में समझना चाहिये। 'गुण गुण हो जाते हैं।' में दूसरे गुण-शब्द में लक्षणा नहीं मानी जा सकती क्योंकि गुण शब्द यहाँ पर संज्ञी मात्र का परिचायक है उसमें दूसरे धर्मों का संयोग नहीं होता।' इस प्रकार कुछ लोगों ने अपने बुद्धि-सामर्थ्य से जो लक्ष्य और व्यङ्ग्य का आरोप कर लिया है वह सहृदयजनों की प्रतीति के अनुकूल नहीं है। निःसन्देह प्रथम उदाहरण में 'राम' शब्द और दूसरे उदाहरण में दूसरा 'कमल' शब्द बाधित हैं क्योंकि इन शब्दों का अपने वाच्यार्थ में कोई उपयोग नहीं है। बाधित होने से जो राज्यनिर्वासन इत्यादि अर्थ प्रतीतिगोचर होता है वही ध्वनि का विषय है, लक्षणा उसके मूल में विद्यमान है।

हृदय दर्पण में लिखा है—'ह हा हा' इन शब्दों का अर्थ है संरम्भ या आवेग। उसी के कारण चमत्कार का अनुभव होता है।' इस पर मेरा यह कहना है कि संरम्भ या आवेग विप्रलम्भ शृंगार का व्यभिचारी भाव माना जाता है। संरम्भ को स्वीकार कर लेने का आशय यही है कि रसध्वनि को आपने स्वीकार कर ही लिया। यहाँ पर संरम्भ की अभिव्यक्ति तभी होती है जब कि राम शब्द के उन व्यंगयार्थों को मान लिया जाता है। अन्यथा संरम्भ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। संरम्भ का स्वरूप यही होगा कि 'मैं तो सह रहा हूँ न जाने उसकी क्या दशा होगी ?' राम शब्द में तो किसी न किसी प्रकार संरम्भ माना भी जा सकता है किन्तु कमल शब्द के विषय में आप क्या कहेंगे ? उसमें कौन सा संरम्भ आप मानेंगे ? किन्तु जाने दीजिये अधिक विवाद में पड़ने से क्या लाभ ? अविवक्षितवाच्य का भेद तो सिद्ध ही है क्योंकि शुद्ध अर्थ की यहाँ पर विवक्षा नहीं होती। इन शब्दों के प्रयोग करने का यहाँ पर कोई उपयोग नहीं। अतः मुख्यार्थ का बाध तो विद्यमान ही है। अतः यह ध्वनि यहाँ पर लक्षणामूलक ही है इसमें कोई भी सन्देह नहीं। यहाँ पर धर्मी के रूप में 'राम' तथा कमल शब्द का तिरस्कार नहीं

लोचन

अत एव च परिणतवाचोयुक्त्या व्यवहृतम्—आदिकवेरिति। ध्वनेर्लक्ष्यप्रसिद्धतामाह—रवीति। हेमन्तवर्णने पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम्। अन्ध इति चोपहतदृष्टिः। जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात्। अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीति तिरस्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम्। इह त्वादर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यमिति। अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शलक्षणया प्रतिपादयति। असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादि धर्मजातमसङ्ख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति। भट्टनायकेन तु यदुक्तम्—'इवशब्दयोगाद्गौणताऽप्यत्र न कचित्।' इति तत् श्लोकार्थमपरामृश्य। आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो द्योतयति। निश्श्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम्। इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत्। योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम्। न च निश्श्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता। जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्।

अतएव परिणतवाचोयुक्ति (प्राचीनों की उक्ति) से कहा गया है 'आदि कवि की'। ध्वनि का अलंक्ष्य में प्रसिद्ध होना बतला रहे हैं—'रवि' इत्यादि। हेमन्त वर्णन में पञ्चवटी में राम की यह उक्ति है। अन्ध उसे कहते हैं जिसकी दृष्टि उपहत हो गई हो। क्योंकि जात्यन्ध की भी दृष्टि गर्भ में उपहत होती है। यह अन्धा आगे भी नहीं देखता। यहाँ अन्ध के मुख्यार्थ का तिरस्कार आत्यन्तिक नहीं है। यहाँ पर तो आदर्श के ऊपर अन्धत्व का आरोप किया जाना भी सह्य नहीं हो सकता। यहाँ पर अन्ध शब्द नष्टदृष्टिवाले व्यक्ति के अन्दर विद्यमान पदार्थस्फुटीकरण की अशक्ति को निमित्त बनाकर दर्पण का लक्षणा से प्रतिपादन करता है। असाधारण रूप से विच्छाय (कान्तिका अभाव) अनुपयोगित्व इत्यादि असंख्य धर्म रूप प्रयोजन को व्यक्त करता है। भट्टनायक ने तो जो कहा है—'इव शब्द के योग से यहाँ पर गौणता भी कोई नहीं है' वह श्लोक के अर्थ का परामर्श न करके कहा है। इव शब्द आदर्श और चन्द्रमस् इन शब्दों के सादृश्य को द्योतित करता है। 'निःश्वासान्ध' यह आदर्श का विशेषण है। 'इव' शब्द को अन्ध अर्थ के साथ योजना करने अर 'आदर्श-चन्द्रमा' यह उदाहरण हो जावे। यह 'इव' शब्द की योजना क्लिष्ट है। यह कल्पना ठीक नहीं कि निश्श्वास के समान अन्धा आदर्श और उसके समान चन्द्रमा। इस प्रकार की योजना तो जैमिनिसूत्र में होती है काव्य में 'भी' नहीं। बस अधिक की क्या आवश्यकता।

तारावती

होता क्योंकि व्यंगयार्थ में उसका भी प्रवेश हो जाता है। (अतएव इसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं।)

इसीलिये अब ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें मुख्यार्थ का अनुप्रवेश नहीं होता अर्थात् उसका सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। यह उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिया गया है,

तारावती

जिसका आशय यह है कि लक्षणामूलक ध्वनि का प्रयोग अनादि काल से होता रहा है। इसी आशय से वृत्तिकार ने 'आदिकवेः' इस शब्द का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि लक्ष्य में प्रसिद्ध है। यह श्लोक रामायण के हेमन्त वर्णन से लिया गया है। यह राम की उक्ति है=इसका आशय यह है—'जिस चन्द्र का सौभाग्य सूर्य में संक्रान्त हो गया है। (अर्थात् हेमन्त में सूर्य भी चन्द्र के समान शीतलता इत्यादि गुणोंवाला हो जाता है।) जिसका मण्डल तुषार से आवृत हो गया है वह चन्द्र इस समय उसी प्रकार प्रकाशित नहीं हो रहा जैसे निश्श्वास से अन्धा दर्पण प्रकाशित नहीं हुआ करता।' यहाँपर अन्ध शब्द ध्यान देने योग्य है। अन्ध शब्द का अर्थ है जिसकी आँखें फूट गई हों। क्योंकि जन्मान्ध की भी आँखें गर्भ में ही फूट जाती हैं। 'यह अन्धा सामने भी नहीं देखता' यदि यह वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति के लिये कहा जावे जो आँखें रहते हुये भी प्रमादवश कोई काम बिगाड़ दे तो वहाँ पर अन्धे शब्द का दृष्टयुपघात-रूप अर्थ बाधित तो हो जावेगा किन्तु उसके अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होगा क्योंकि उस व्यक्ति ने फूटी हुई आँखोंवाले व्यक्ति के समान ही अपनी आँखों से काम नहीं लिया। किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में दर्पण के साथ आँखें फूटने का आरोप करना कैसे सह्य हो सकता है? दर्पण के तो आँखें होती ही नहीं। यहाँपर अन्धशब्द के दर्पण को लक्षित कराने में निमित्त है—पदार्थ के स्फुटीकरण की अशक्तता। क्योंकि यही बात फूटी हुई आँखवाले व्यक्ति में भी होती है। इसी निमित्त को लेकर (गौणी सारोपा लक्षणा के आधार पर) अन्धशब्द दर्पण को लक्षित करता है (जैसे 'सिंहो वटुः' में 'सिंह' शब्द शौर्य आदि गुणों को लेकर वटु को लक्षित करता है। यह लक्षणा जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा है क्योंकि यहाँ पर अन्ध शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो गया है।) इस लक्षणा के असंख्य प्रयोजन बतलाये जा सकते हैं। जैसे—असाधारण रूप में विच्छाय या श्रीहीन होना उपयोगरहित होना इत्यादि। ये प्रयोजन व्यङ्ग्य हैं। (यहाँ पर काव्य-सौन्दर्य में हेतु 'अन्ध' शब्द का बाधित अर्थ में प्रयोग करना ही है जिसके अभिधेय का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। अतः यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है।) यहाँपर भट्टनायक ने लिखा है—'इस श्लोक में 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। (अतः उत्प्रेक्षालङ्कार के द्वारा यहाँपर अर्थ किया जाना चाहिये।) अतः यहाँपर गौणी लक्षणा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं की जा सकती।' भट्टनायक का यह सब लिखना श्लोक के अर्थ पर विचार न करने के कारण है। (भट्टनायक ने श्लोक के 'निःश्वासान्ध इव' इन शब्दों को देखा और सीधा-सीधा अर्थ लगा दिया, श्लोक के अन्वय पर विचार भी नहीं किया कि यहाँपर 'इव' शब्द चन्द्रमा के साथ लगता है 'अन्ध' के साथ नहीं।) यहाँपर इव शब्द दर्पण और चन्द्र के सादृश्य को प्रकट करता है—'चन्द्रमा निःश्वासान्ध दर्पण के समान है।' निःश्वासान्ध शब्द का विशेषण है। (जो कि प्रत्यक्षतः बाधित है।) यदि 'इव' शब्द का अन्ध शब्द के साथ अन्वय किया जावेगा तो 'चन्द्रमा दर्पण है' यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण हो जावेगा। किन्तु

ध्वन्यालोकः

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइं अ वणाइं।
णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलआ वि णिसाओ॥

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ।

(अनु०) दूसरा उदाहरण जैसे :—

'मस्त मेघोंवाला आकाश, वन जिनमें अर्जुनवृक्षों को धारायें आलिङ्गित कर रही हों और नील निशायें जिनमें अहङ्कारपूर्ण चन्द्रमा प्रकाशित न हो रहा हो ये भी सब मन को आवर्जित करते हैं।' यहाँपर मत्त और निरहङ्कार शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के उदाहरण हैं।

लोचन

गअणमिति।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः॥

इतिच्छाया। च शब्दोऽपिशब्दार्थे। गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तारकितम्। धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दोलितसहकाराणि निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः। हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः। मत्तशब्देन सर्वथैवेहासम्भवत्स्वार्थेन बाधितमद्योपयोगक्षीबात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघाल्लक्षयतासमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते। निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोज्जिगीषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः॥ १॥

गअणमिति।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः॥

यह छाया है। 'च' शब्द यहाँ 'भी' के अर्थ में है। आकाश मत्तमेघवाला भी है तारकित ही नहीं। धारा के द्वारा आलिङ्गित या प्रकम्पित अर्जुनवृक्षवाले वन भी केवल मलय पवनसे आन्दोलित आमोंवाले वन ही नहीं। अहङ्काररहित चन्द्रवाली नीलनिशायें भी केवल श्वेत किरणोंवाले चन्द्र की किरणों से धवलित ही नहीं। 'हरन्ति' का अर्थ है उत्सुक बनाते हैं। यहाँ पर सर्वथा ही असम्भव स्वार्थवाले मत्त शब्द से जिसका मद्य के उपयोग से प्रमत्तव्यक्तिरूप मुख्यार्थ बाधित हो चुका है, सादृश्य से मेघों को लक्षित कराते हुए असमञ्जसकारित्व दुर्निवारत्व इत्यादि सहस्रों धर्म ध्वनित किये जाते हैं। चन्द्र को लक्षित करानेवाले निरहङ्कार शब्द से भी उसकी पराधीनता, शोभाहीनता ऊपर उठना रूप उत्कर्ष की इच्छा का त्याग इत्यादि (अनेक धर्म ध्वनित किये जाते हैं)।

तारावती

यह योजना अत्यन्त क्लिष्ट होगी। यहाँपर यह कल्पना ठीक नहीं कि 'दर्पण निश्वास के कारण अन्धे के समान है' और 'चन्द्रमा दर्पण के समान है'। इस प्रकार की योजना जैमिनीय सूत्रों में

ध्वन्यालोकः

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिद-लक्ष्यक्रमतया प्रकाशते कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः।

(अनु०) विवक्षितवाच्य ध्वनि की आत्मा दो प्रकार की होती है—(१) जिसमें ध्वनि के उद्योतन (व्यञ्जन) व्यापार का क्रम लक्षित न किया जा सके उसे असंल्लक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं और (२) जिसमें द्योतनक्रम लक्षित किया जा सके उसे संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।'

मुख्यरूप में प्रकाशमान व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि की आत्मा होता है। और वह वाच्यार्थ की दृष्टि से कोई तो अलक्ष्यक्रम रूप में प्रकाशित होता है और कोई क्रम के साथ, इस भाँति दो प्रकार माना जाता है।

तारावती

होगी; काव्य में ऐसी योजना नहीं होती। बस, इतना पर्याप्त है अधिक कहने की क्या आवश्य-कता। (यहाँ पर भट्टनायक के मीमांसक होने पर कटाक्ष किया गया है।)

(अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का दूसरा उदाहरण वाक्पतिराज के 'गौडवहो' से लिया गया है। यह प्रावृट्-वर्णन का पद्य है।) यहाँपर 'च' शब्द का प्रयोग अपि के अर्थ में किया गया है। आशय यह है कि केवल तारकित नहीं अपितु मतवाले मेघों से युक्त भी आकाश चित्त का आकर्षण करता है। जिस समय शीतल मन्द सुगन्धित पवन सहकारमण्डल को आन्दोलित करता है उस समय तो उसमें एक आकर्षण होता ही है। उस समय भी एक आकर्षण ही होता है जब धारायें अर्जुन वृक्षों का आलिङ्गन करती हैं। जिस समय निशायें निशाकर कीं श्वेत किरणों से स्वच्छ तथा धवलित हो जाती हैं उस समय उनमें एक सम्मोहिनी शक्ति तो होती ही है। निशायें उस समय भी मन को हर लेती हैं जिस समय चन्द्रदेव का सारा अहङ्कार समाप्त हो गया होता है और चारों ओर नीलिमा ही नीलिमा दृष्टिगत होती है। 'हरन्ति' का अर्थ है चित्त में उत्कण्ठा पैदा करती हैं। यहाँ पर मत्त शब्द का अभिधेयार्थ लिया जाना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि मत्त शब्द का अभिधेयार्थ है 'मद्य के उपयोग के कारण जिसकी चेतना कुण्ठित हो गई हो।' मद्य का उपयोग कोई मनुष्य ही कर सकता है मेघ कभी मदिरापान कर ही नहीं सकते। इस प्रकार यहाँपर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और सादृश्य के आधार पर गौणी लक्षणा से यह शब्द मेघ को लक्षित कराने लगता है। इससे प्रयोजनरूप व्यञ्जनाओं के रूप में अनेक धर्मों की ध्वनि हो सकती है। जैसे अयुक्तियुक्त कार्य करनेवाला अनिवार्य इत्यादि। इसी प्रकार चन्द्र का विशेषण निरहङ्कार शब्द भी चेतनविषयमात्र होने के कारण बाधित होकर गौणी लक्षणा से चन्द्र को लक्षित करता है। उससे प्रयोजन रूप में अनेक धर्मों

लोचन

अविवक्षितवाच्यस्य प्रभिन्नत्वम् इति यदुक्तं तत्कुतः? नहि स्वरूपादेव भेदो भवतीत्याशङ्क्य विवक्षितवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवक्षातदभावयोर्विरोधादित्यभिप्रायेणाह—असंलक्ष्येति। सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्योत उद्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः। ध्वनिशब्दसान्निध्याद्विवक्षिताभिधेयत्वेनान्यपरत्वमत्राक्षिप्तमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। ध्वनेरिति। व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। आत्मेति। पूर्वश्लोकेन व्यङ्ग्यस्य वाच्यमुखेन भेद उक्तः। इदानीं तु द्योतनव्यापारमुखेन द्योत्यस्य स्वात्मनिष्ठएवेत्यर्थः। व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह—वाच्यार्थापेक्षयेति। वाच्योऽर्थो विभावादिः॥ २॥

अविवक्षितवाच्य का भिन्न होना जो यह कहा वह किससे? स्वरूप से ही भेद नहीं होता यह शङ्का करके विवक्षितवाच्य से ही इसका भेद होता है क्योंकि विवक्षा और उसके अभाव का विरोध होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—असंल्लक्ष्य इत्यादि। यहाँ पर बहुव्रीहि है—ठीक रूप में लक्षित नहीं किया जा सकता क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अर्थात् उद्योतन व्यापार है जिसका। ध्वनि शब्द के निकट होने के कारण विवक्षिताभिधेय होने से अन्यपरत्व का यहाँ पर आक्षेप हो जाता है अतः स्वकण्ठ से नहीं कहा गया। 'ध्वनेः' इति। अर्थात् व्यङ्ग्य का। आत्मा इति। पूर्व श्लोक से व्यङ्ग्य का वाच्य के द्वारा भेद बतलाया गया। इस समय तो द्योतन व्यापार के द्वारा द्योत्य का आत्मनिष्ठ ही (भेद बतलाया जा रहा है) यह अर्थ है। यहाँ पर यह शङ्का करके कि 'व्यङ्ग्य ध्वनि का द्योतन करने में अपने अन्दर ही क्या क्रम हो सकता है?' कह रहे हैं—'वाच्यार्थ की अपेक्षा से' यह। वाच्य अर्थ विभाव इत्यादि।

तारावती

की अभिव्यक्ति होती है जैसे पराधीनता, विच्छायता और उद्गमन रूप विजय की इच्छा का त्याग इत्यादि। इस प्रकार यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण है ॥ १ ॥

(ऊपर अविवक्षितवाच्य के उदाहरणों की व्याख्या की गई है। अब ध्वनि के द्वितीय भेद की व्याख्या की जा रही है, जिसको विवक्षितान्यपरवाच्य कहते हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणा पर आधारित होती है और विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधा पर। इस प्रभेद में न तो बाध ही होता है, न अभिधेय का तिरस्कार, न अन्य संक्रमण। इसमें व्यञ्जना के साथ अभिधा का भी उपयोग होता है। किन्तु चरम लक्ष्य ध्वनि ही होता है। विवक्षितान्यपरवाच्य के भेद इस आधार पर किये गये हैं कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के मध्य में अन्तर लक्षित होता है या नहीं। जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति इतनी शीघ्र हो जाती है कि उनके मध्य का अन्तर लक्षित ही नहीं किया जा सकता वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। इसके रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावोदय, भावशबलता इत्यादि अनेक भेद होते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद होता है—संलक्ष्य-

तारावती

क्रमव्यङ्ग्य। जहाँ पर वाच्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में स्पष्ट अन्तर प्रतीतिगोचर हो। इसके मुख्य रूप में दो भेद होते हैं—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि और अर्थशक्तिमूलक ध्वनि। इनके उपभेदों का भी विस्तार शास्त्रों में पाया जाता है, जिसका विवेचन यथास्थान किया जावेगा।)

यह कहा गया था कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का एक प्रभेद है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अविवक्षितवाच्य की यह प्रभिन्नता किससे है? अपने स्वरूप से ही किसी का भेद नहीं होता। इस शङ्का के उत्तर में कहा जा सकता है कि अविवक्षितवाच्य का भेद विवक्षित-वाच्य से ही होगा। क्योंकि वाच्य की विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों में स्पष्ट विरोध है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका लिखी गई है। 'असंलक्ष्यक्रमोद्योत' शब्द में बहुव्रीहि समास है—'सम्' का अर्थ है सम्यक् या भलीभाँति और उद्योत का अर्थ है उद्योतन अथवा प्रकाशन व्यापार। इस प्रकार इस शब्द का विग्रह होगा—जिसका क्रम ठीक रूप में लक्षित न किया जा सके उसे 'असंलक्ष्यक्रम' कहते हैं। असंलक्ष्यक्रम है उद्योत या उद्योतन या प्रकाशनव्यापार जिसका उसे असंलक्ष्यक्रमोद्योत कहते हैं।

यहाँ पर विवक्षिताभिधेय या विवक्षितवाच्य शब्द का प्रयोग किया गया है—किन्तु कहा जाना चाहिये विवक्षितान्यपरवाच्य। यहाँ पर 'अन्यपर' शब्द छोड़ दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस कारिका में 'ध्वनि' शब्द भी साथ में रक्खा हुआ है। ध्वनि होती ही वहाँ पर है जहाँ वाच्यार्थ अन्यपरक होता है। अतः यहाँ पर 'अन्यपर' शब्द का आक्षेप कर लिया जाता है, आचार्य ने अपने कण्ठ से उसका उच्चारण नहीं किया है। यहाँ पर ध्वनि शब्द व्यङ्ग्यार्थ परक है। प्रथम कारिका में अविवक्षितवाच्य ध्वनि के व्यङ्ग्य के भेद वाच्यार्थ की द्विरूपता के आधार पर किये गये थे। इस कारिका में व्यञ्जनाव्यापार के आधार पर व्यङ्ग्यार्थ के आत्मनिष्ठ ही भेद किये गये हैं। (प्रश्न) व्यङ्ग्य ध्वनि के द्योतन में अपने अन्दर ही कौन सा क्रम हो सकता है? (उत्तर) व्यङ्ग्यार्थ का क्रम अपने अन्दर नहीं लगाया जाता अपितु वाच्यार्थ की अपेक्षा करते हुये उसके क्रम का निर्णय किया जाता है। वाच्यार्थ विभाव इत्यादि होते हैं॥ २॥

(अग्रिम प्रकरण में रसध्वनि पर विचार किया गया है। अतः इस प्रकरण को पूर्णतया हृदयङ्गम करने के लिये रस की सामान्य प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक न होगा। लौकिक भाषा में रति इत्यादि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी कहे जाते हैं वे ही जब नाट्य और काव्य में आते हैं तब उन्हें कारणादि शब्दों का परित्याग कर विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव इन नामों से पुकारा जाने लगता है। जब स्थायी भाव इन विभाव इत्यादिकों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं तब इन्हें रस कहने लगते हैं।

रस उत्पन्न नहीं होता किन्तु अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि लोक में हम

तारावती

कारणादि जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे शब्द रस के विषय में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। रस के कारण को विभाव कहते हैं क्योंकि ये रस का विभावन या प्रत्यायन करते हैं अर्थात् रस को प्रतीति के योग्य बनाते हैं। ये विभाव नामक कारण दो प्रकार के होते हैं—एक तो जनक कारण जिन्हें आलम्बन कहते हैं क्योंकि इन्हीं का आलम्बन लेकर रस का उद्गम होता है और दूसरे उद्दीपन अथवा पोषण में निमित्त। इन कारणों को उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद इत्यादि का निरूपण किया जाता है। उद्दीपन विभाव के अन्दर एक तो आलम्बन की ऐसी चेष्टायें आती हैं जो आश्रयगत भाव को बढ़ानेवाली होती हैं, उन्हें नायिकाओं के अलङ्कार के नाम से अभिहित किया जाता है। किसी भाव के अनुकूल परिस्थितियाँ भी उद्दीपन विभाव का दूसरा प्रकार है। भाव के उत्पन्न होने पर आश्रय की दशा कुछ और ही हो जाती है जिसको देखकर दूसरे लोग आश्रयगत भाव को समझ जाते हैं। ये चेष्टायें भाव का प्रभाव अथवा कार्य ही होती हैं। रस की अलौकिकता के कारण इनकी संज्ञा कार्य न रहकर अनुभाव हो जाती हैं। भाव के अनुभाव या अनुभवगोचर बनाने के ही कारण इन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। भाव दो प्रकार के होते हैं एक स्थायी दूसरे अस्थायी। स्थायी भाव विस्तीर्ण महासागर के समान स्थिर रहनेवाले होते हैं और अस्थायी भाव उस महासागर में उठकर गिरनेवाली लहरों के समान आते जाते रहते हैं। ये स्थायीभाव के सहकारी होते हैं। ये स्थायी भाव में व्यभिचरण या सञ्चरण करते हैं अर्थात् चारों ओर से घूम फिरकर बार-बार आते-जाते हैं। अतः इन भावोंको व्यभिचारी या सञ्चारी के नाम ते पुकारा जाता है। रति इत्यादि को स्थायी भाव इसलिये कहते हैं कि ये मनुष्यों के अन्तःकरणों में वासना रूप में सदा स्थायी बने रहते हैं। जब ये स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं तब इन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। रसों के आस्वादन में विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव और स्थायीभावों की प्रतीति समूहावलम्बनात्मक होती है। यह समूहावलम्बनात्मक प्रतीति घट और पट की समूहावलम्बनात्मक प्रतीति की भाँति नहीं होती, जिसमें घट, पट इत्यादि की पृथक्-पृथक् सत्ता प्रतीत हो किन्तु यह प्रतीति पानक रस के समान होती है जिसमें कपूर इत्यादि विभिन्न वस्तुओं की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं मालूम पड़ती। इस प्रकार जब विभिन्न उपकरणों द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर कोई भाव रसनीयता धारण करता है तब उसे रसध्वनि कहते हैं। इस रसास्वादन में पाठक इतना अधिक तादात्म्य प्राप्त कर लेता है कि उसे अपनी परिमित प्रमातृ-सत्ता का बोध ही नहीं रहता। इसे ही रसध्वनि कहते हैं। कभी कभी कोई भाव अनुचित होने के कारण पाठकों को पूर्ण तादात्म्य प्रदान नहीं कर सकता। पाठक अनुचित समझने के कारण उसके प्रति कुछ विराग अथवा द्वेषभाव से भर जाता है। इसको आचार्यों ने रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। जिस प्रकार पानक रस से किसी द्रव्य का स्वाद सर्वातिशायी होकर प्रमुख बन जाता है उसीप्रकार

तारावती

रसास्वादन के मध्यं में भी कोई भाव प्रमुखता को धारण कर लेता है और पाठकों या दर्शक के लिये पूरा रस आस्वाद का विषय न होकर वही भाव आस्वाद्य हो जाता है। उसे भाव-ध्वनि कहते हैं। जब उसी भाव में अनौचित्य का प्रतिभास होता है तब उसे भावाभास कहते हैं। कभी भाव का उत्पन्न होना ही आस्वाद का विषय होता है कभी उसका समाप्त होना, कभी दो भावों की सन्धि, कभी अनेक भावों का सङ्घात ही आस्वाद का विषय होता है। इस आधार पर आचार्यों ने भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशवलता इत्यादि को भी आस्वाद्य बतलाया है। यद्यपि रसोदय, रसशान्ति, रससन्धि इत्यादि नाम करण भी किये जा सकते थे किन्तु रस की अखण्ड सत्ता ही मानी जाती है, रस में उत्पत्ति, विनाश, सन्धि इत्यादि उपाधियाँ नहीं होतीं। दूसरी बात यह है कि रस की सत्ता भी भाव से अभिन्न होती है, अतः भावों के औपाधिक भेद से ही काम चल सकता है। इसलिये आचार्यों ने रसोदय इत्यादि के नामकरण की आवश्यकता नहीं समझी। यही असंलक्ष्यक्रम का संक्षिप्त विषय-विस्तार है।

एक दूसरा प्रश्न भी आचार्यों के विचार का विषय रहा है और वह है—परिशीलक का विभाव इत्यादि से क्या सम्बन्ध होता है जो कि उसे दूसरे के भाव में आनन्द आता है, उस रसास्वादन की प्रक्रिया क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने भरतमुनि के 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस रस सूत्र की व्याख्या में खोजने की चेष्टा की है। सूत्र की अनेक प्रकार की व्याख्यायें की गई हैं और उनसे अनेक वादों का प्रचलन हुआ है। काव्य-प्रकाशकार ने ४ प्रमुखवादों का परिचय दिया है। अतः उनका परिचय देना सर्वथा वाञ्छनीय होगा। इस सूत्र के दो शब्दों की व्याख्या ही विभिन्नवादों के प्रवर्तन में कारण हुई है—एक है 'संयोगात्' और दूसरा है 'निष्पत्ति'।

(१) प्रथम सिद्धान्त है भट्टलोल्लट तथा उनके अनुयायियों का। इस सिद्धान्त में निष्पत्ति शब्द का अर्थ किया गया है उत्पत्ति और संयोगात् शब्द का अर्थ किया गया है उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध। यह व्याख्या मीमांसकों के मत पर आधारित है। इसका सारांश इस प्रकार है—जब हम किसी नाटक को देखते हैं, या काव्य का अध्ययन करते हैं तो रति इत्यादि रसों के स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है। (१) नायिका इत्यादि आलम्बन और उद्यान इत्यादि उद्दीपन दोनों ही प्रकार के विभाव रति इत्यादि भावों को उत्पन्न करते हैं। (२) कटाक्ष भुजाक्षेप इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं और जिन्हें हम स्थायी भावों का कार्य कह सकते हैं, वे स्थायीभाव को इस योग्य बना देते हैं कि उसकी उत्पत्ति की प्रतीति हो सके अर्थात् दूसरे लोग उसकी उत्पत्ति को समझ सकें। (३) निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव जिन्हें हम स्थायी भावों का सहकारी कारण कह सकते हैं, इस स्थायी भाव का पोषण करते हैं यही रति इत्यादि स्थायी भावों की उत्पत्ति का स्वरूप है। इन भावों की उत्पत्ति प्रधान रूप से मुख्य वृत्ति से वास्तविक राम इत्यादि में ही होती है। जिसका कि नर्तक रङ्गमञ्च पर अनुकरण करता

तारावती

है। कारण यह है कि आलम्बन सीता इत्यादि से उसी का साक्षात् सम्बन्ध होता है। नर्तक राम इत्यादि का रूप धारण कर लेता है और दर्शक लोग उसी को राम समझने लगते हैं। अतएव वस्तुतः न होते हुए भी नर्तक में भी दर्शकों को रस की प्रतीति होने लगती है। यह प्रतीति उसीप्रकार की होती है जिस प्रकार रस्सी में साँप की प्रतीति होती है।

इस मत का सारांश यह है कि सीता इत्यादि आलम्बन से वास्तविक राम इत्यादि का ही सम्बन्ध होता है। अतः उन्हीं के हृदय में रति इत्यादि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। नर्तक का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः नट के हृदय में भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। नट राम इत्यादि का अभिनय करता है। अतः दर्शक भ्रमवश उसे ही राम समझ लेते हैं और उसी में उन्हें रस की प्रतीति होने लगती है।

किन्तु यह मत समीचीन नहीं। इसमें कई दोष हैं पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त में इस बात की उचित व्याख्या नहीं की जा सकी है कि दर्शकों को रसास्वादन क्यों होता है? इसमें तो केवल इतना बतलाया गया है कि रस की उत्पत्ति राम में होती है और नर्तक में उसकी प्रतीति होती है। दर्शकों का सीता इत्यादि आलम्बनों से क्या सम्बन्ध है। जो उन्हें भी उनके प्रेम में आनन्द आता है? दूसरी बात यह है कि रसों और विभावादिकों में कार्य-कारण भाव माना गया है जो सर्वथा असङ्गत है। कभी न कभी कार्य से पृथक् कारण अपना अस्तित्व अवश्य रखता है किन्तु यहाँ विभावादि की सत्ता रस के अभाव में सम्भव ही नहीं। इन्हीं कारणों से यह सिद्धान्त माननीय नहीं ठहरता।

दूसरा सिद्धान्त है न्यायशास्त्र का अनुसरण करनेवाले श्री शंकुक तथा उनके अनुयायियों का। इस सिद्धान्त का अनुसरण करने वाले निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति न मानकर अनुमिति तथा 'संयोगात्' का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक भाव मानते हैं। इनके मत में रस उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु उसका अनुमान किया जाता है। वह सिद्धान्त इस प्रकार है—जब नट राम इत्यादि किसी पात्र का अभिनय करता है उस समय दर्शकों को यह प्रतीत होने लगता है कि 'यह राम ही है'। इस प्रतीति को हम इन चारों प्रकार की प्रतीतियों में सन्निविष्ट नहीं कर सकते जो लोक में या न्यायशास्त्र में मानी जाती हैं—(१) इसे हम 'यही राम है' अथवा 'यह राम ही है' इस प्रकार की दो सम्यक् प्रतीतियों के अन्दर सन्निविष्ट नहीं कर सकते। सम्यक् प्रतीति वहीं पर होती है जहाँ सचमुच राम उपस्थित हों। यहाँ सचमुच राम उपस्थित नहीं हैं। अतएव यह प्रतीति यहाँ पर नहीं हो सकती। (२) यहाँ पर 'यह राम है' इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति भी नहीं हो सकती। मिथ्याप्रतीति वहीं पर होती है जहाँ राम न हों और उनको कोई राम कहे तथा जहाँ पर बाद में बाध अवश्य हो और यह प्रतीति होने लगे कि यह राम नहीं है। यहाँ पर यह मिथ्याप्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रतीति में उत्तरकालिक बाध नहीं होता। (३) इसे हम 'राम है या नहीं' इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नहीं

तारावती

कह सकते। यह संशयात्मक प्रतीति इसलिये नहीं कही जा सकती क्योंकि हमें यहाँ पर संशय का अनुभव नहीं होता। (४) 'यह राम के समान है' इस प्रकार की सादृश्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं होती। क्योंकि हमें सादृश्य का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार यह प्रतीति सम्यक् मिथ्या संशय और सादृश्य इन चारों प्रकार की लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण उसी प्रकार की नई ही प्रतीति होती है जिस प्रकार चित्र में बने हुए घोड़े की प्रतीति होती है। जब नट—'यह प्राणेश्वरी मेरे नेत्रों के सामने आ गई, यह वही मेरी प्रियतमा है जो स्पर्शमात्र से ही समस्त सन्ताप को शान्त कर देनेवाली होने के कारण मेरे अङ्गों के लिये सुधारस की वृष्टि प्रतीति होती है। नेत्रों के लिये ऐसी ही आनन्ददायिनी है जैसे मानों कर्पूर की आर्द्र सलाई हो। यह ऐसी ही प्रिय प्रतीत हो रही है मानो मन की मनोरथ-लक्ष्मी साक्षात् शरीर धारण कर आ गई हो।' इस प्रकार के संयोग सम्बन्ध से काव्यवाक्यों का अनुसन्धान करता हैं, अथवा—'दैववश आज मेरा उस चपल और विशाल नेत्रोंवाली नायिका से वियोग हुआ है और आज ही यह ऐसा समय भी आ उपस्थित हुआ जिसमें विलोल जलद हर समय घिरे रहते हैं।' इस प्रकार के काव्यगत वियोग-वाक्यों का अनुसन्धान करता है तथा शिक्षा और अभ्यास का आश्रय लेकर कलाकौशल प्रकट करता है, तब उन काव्यगत वाक्यों के अनुसन्धान के बल पर शिक्षा और अभ्यास के द्वारा प्रदर्शित किये हुये कार्य के बल पर उसी नट के द्वारा भावों के जिन कारणों कार्यों और सहकारियों को अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है वे होते तो वास्तव में कृत्रिम हैं किन्तु कलाकौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम मालूम नहीं पड़ते। इस प्रकार वे अपना कारण कार्य और सहकारी कारण नाम छोड़कर विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इनसे एक प्रकार की व्याप्ति बनती है और वह इस प्रकार की होती है—'जहाँ कहीं इन विभावादिकों का संयोग होता है वहाँ रति इत्यादि भाव अवश्य उत्पन्न होते हैं। इस व्याप्ति में गम्य अर्थात् अनुमाप्य तो रति इत्यादि भाव हैं और गमक अर्थात् अनुमापक विभावादिकों का संयोग है। इस व्याप्ति के बल पर नट में रति इत्यादि भावों का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु इसमें वस्तु की एक ऐसी सुन्दरता होती है जिससे उसमे आस्वाद उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। यही कारण है कि अनुमान होते हुये भी अन्य अनुमानों से विलक्षण होने के कारण यह अनुमान रूप में प्रतीत नहीं होता। तब इसका नाम स्थायी भाव पड़ जाता है। इस स्थायिभाव का अनुमान नट में ही लगाया जाता है। यद्यपि यह नट में विद्यमान नहीं होता है किन्तु समाज में उपस्थित दर्शक गण अपनी वासना से प्रेरित होकर इस रस का चर्वण करते हैं। यही रस कहलाता है।

इस मत का सारांश यह है कि जिस प्रकार उड़ती हुई धूल को धुआँ समझकर अग्नि का कोई अनुमान लगा ले उसी प्रकार जब नट यह प्रकट करता है कि ये विभावादि हमारे ही हैं तब विभावादि में नियत रति इत्यादि भाव का दर्शक लोग नट में ही अनुमान कर लेते हैं।

तारावती

यद्यपि वह रति भाव उसमें होता नहीं है। वही अनुमित रति भाव सामाजिकों के आस्वादन का कारण बनकर रस बन जाता है।

किन्तु इस मत में भी दोष हैं। पहली बात तो यह हैं कि इस मत में यह भुला दिया गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार का कारण होता है। जो चमत्कार प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा हो सकता है वह अनुमानजन्य ज्ञान के द्वारा नहीं। दूसरी बात यह है कि इस शङ्का का इसमें भी कोई समाधान नहीं किया गया कि जब दर्शक का आलम्बन से किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है तब उसे रसास्वादन होता कैसे है? इस प्रकार तर्क के सामने यह सिद्धान्त भी निस्सार सिद्ध हो जाता है।

(३) तीसरा मत है सांख्य शास्त्र के अनुयायी भट्टनायक तथा उनका अनुसरण करनेवाले अन्य आचार्यों का। इस मत के अनुयायी निष्पत्ति शब्द का अर्थ करते हैं भुक्ति और संयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध। इस प्रकार उनका कहना है कि सामाजिकों को प्रतीत होनेवाली रसकी सत्ता नायक अथवा उसका अनुसरण करनेवाले नर्तक के अन्दर नहीं मानी जा सकती और न उसकी सत्ता आत्मगत ही मानी जा सकती है, न यह उत्पन्न ही होता है और न अभिव्यक्त ही। नायक में रस की सत्ता अङ्गीकृत नहीं की जा सकती क्योंकि नायक उपस्थित नहीं है; अतः नायक के भाव भी उपस्थित नहीं हैं। जो असत् है सत्ता के द्वारा वह कभी भी प्रमाण का विषय हो सके यह सर्वथा असम्भव है। नर्तक में भी रस की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि जब सामाजिक के हृदय में स्वयं ही उसकी स्थिति नहीं है तो नर्तक में उसका अनुमान कर लेने पर भी सामाजिक के हृदय में चमत्कार की उद्भावना हो ही कैसे सकती है? रस सामाजिक के हृदय में भी विद्यमान नहीं माना जा सकता। दर्शक या सामाजिक के हृदय में रस के विद्यमान होने का यह आशय है कि जब कोई दर्शक नाटक को देखता है तो आनन्दातिरेक के कारण उसे यह ध्यान। ही नहीं रहता कि वह नायक के अतिरिक्त कोई और है। वह अपने को नायक ही समझने लगता है। इस प्रकार जब वह अपने को दुष्यन्त या राम के रूप में देखता है तब उसका शकुन्तला या सीता के प्रति प्रेम का आस्वादन करना सङ्गत हो जाता है। किन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि सीता जैसी जो पूज्य नायिकायें हैं और जिन्हें हम जगन्माता मानते हैं वे ही हमारे प्रेम का आधार कैसे हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जो हमारे कृतिसाध्य नहीं हो सकते। जैसे समुद्र पर पुल बाँधना, एक ही बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर देना इत्यादि। ऐसे कार्यों का हम अपने को आश्रय मान भी कैसे सकते हैं? तीसरी बात यह है कि यदि दर्शक अपने को नायक ही समझने लगेगा तो नायक के दुःख में दर्शक को दुःखी होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। दर्शक को नायक के शोक में भी आनन्दानुभूति ही होती है। रस उत्पन्न भी नहीं होते क्योंकि विभाव इत्यादि वास्तविक नहीं हैं और अवास्तविक वस्तु से किसी भी पदार्था-

तारावती

न्तर की उत्पत्ति होना असम्भव है। रस अभिव्यक्त नहीं होता क्योंकि व्यञ्जना से सिद्ध वस्तु ही किसी भाव को व्यञ्जित कर सकती है। सिद्ध न होने के कारण यहाँ व्यञ्जना का अवसर ही नहीं है। किन्तु होता यह है कि काव्य और नाट्य में अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक और वृत्ति मानी जाती है जिसका नाम है भावकत्व वृत्ति। इसका काम यह होता है कि यह विभावादिकों तथा आश्रयों के व्यक्तित्व अंश को हटा कर उन्हें सर्वसाधारण की एक वस्तु बना देती है। उदाहरण के लिये मान लो हम शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के प्रेम का अभिनय देख रहे हैं तो इस भावकत्व वृत्ति का यह काम होगा कि वह दुष्यन्त के अन्दर से दुष्यन्तत्व और शकुन्तला के अन्दर से शकुन्तलात्व को निकाल देगी तथा हमारे लिये दुष्यन्त का अर्थ होगा संसार के हम सभी मनुष्य और शकुन्तला का अर्थ होगा संसार की सभी प्रेमिकायें। उस अवस्था में रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण शकुन्तला को अपनी प्रेमिका के रूप में देखकर हम सभी उसके प्रेम का आस्वादन करने के योग्य हो सकते हैं। इस भावकत्व वृत्ति के अतिरिक्त एक वृत्ति और होती है जिसका नाम है भोजकवृत्ति। इस भोजकवृत्ति का काम यह है कि यह मनुष्यों के हृदयों पर पड़े हुये रजस् और तमस् के आवरण को जो रसास्वादन प्रक्रिया में व्यवधान डालते हैं—दूर कर देती है। और शुद्ध सत्त्वगुण का आविर्भाव और उद्रेक कर देती है। उस सत्त्व के उद्रेक से जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसमें केवल ऐसा ज्ञान शेष रह जाता है जिसमें चारों ओर आनन्द ही आनन्द होता है तथा संसार की अन्य समस्त वस्तुयें तिरोहित हो जाती हैं। भावकत्ववृत्ति के द्वारा रति इत्यादि स्थायी भाव का साधारणीकरण कर दिया जाता है; अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम सर्वसाधारण के प्रेम का रूप धारण कर लेता है और भोजकवृत्ति के द्वारा लोगों की चित्तवृत्तियाँ इस योग्य बना दी जाती हैं कि वे रसास्वाद कर सकें। इसी प्रकार रस का भोग होता है। रस के भोग का यही तात्पर्य है।

इस सिद्धान्त का आशय यह है; कि जिस प्रकार शब्द की अभिधावृत्ति होती है उसी प्रकार दो वृत्तियाँ और होती है, एक का नाम है भावक और दूसरी का भोजक। भावकवृत्ति का काम विभावादि से व्यक्तिरूप अंश को पृथक् कर उसे सर्वसाधारण की, बस्तु बना देना है और भोजक-वृत्ति का यह काम है कि वह सर्वसाधारण को चित्तवृत्ति को रसास्वादन के योग्य बना दे। बस इन्हीं दो वृत्तियों के आधार पर रसास्वादन होता है।

इस सिद्धान्त के द्वारा यह आपत्ति तो दूर हुई कि दर्शकों और पाठकों के रसास्वादन के हेतु की कोई व्याख्या नहीं की जा सकी थी। किन्तु एक आपत्ति और सर पर आई कि भावकत्व और भोजकत्व ये दो वृत्तियाँ कल्पित करनी पड़ीं। एक को यदि व्यञ्जना भी मानें तो भी एक और अधिक वृत्ति मानने का दोष तो आ ही जायेगा। दूसरी बात यह है कि रसास्वादन की जो प्रक्रिया बतलाई गई है वह भी सर्वथा नई ही है परम्परानुमोदित नहीं। अतएव यह सिद्धान्त भी त्याज्य है।

तारावती

(४) चतुर्थ मत है आचार्य अभिनव गुप्त का। यह मत अलङ्कार शास्त्र के आधार पर स्थिर किया गया है। इसमें संयोग का अर्थ मिलन माना गया है और निष्पत्ति शब्द का अर्थ अभिव्यक्ति माना गया है। इस सिद्धान्त का सार यह है—रति इत्यादि स्थायीभाव उन सहृदयों के हृदय में वासनारूप में निरन्तर विद्यमान रहते हैं जिन्हें लोक में प्रमदा इत्यादि कारणों, कटाक्ष इत्यादि कार्यों और निर्वेद इत्यादि सहकारियों के आश्रय से स्थायीभाव का अनुमान करने की पूर्ण पटुता प्राप्त हो चुकी है। अनुमान का प्रकार यह होगा—अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्तिविषयक रतिवाला है; क्योंकि उसमें कटाक्ष इत्यादि कार्य और लज्जा इत्यादि सहकारी विद्यमान हैं। जो रति के कार्यों और सहकारियों से युक्त होता है वह रति वाला होता है। जैसे देवदत्त स्वकान्ता विषयक रति वाला है। वैसा ही अमुक व्यक्ति भी है। अतएव अमुक व्यक्ति उसी प्रकार का (रतिमान) है। तर्कशास्त्र के यहाँ पञ्चावयव वाक्य हैं। इस अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा जो लोग लौकिक भावनाओं का अनुमान लगाने में पटु हैं उनके अन्दर वासनारूप में स्थायी भाव निरन्तर विद्यमान रहते हैं। इन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति उन्हीं प्रमदा कटाक्ष निर्वेद इत्यादि कारणों कार्यों और सहकारियों के सम्मिलन से ही होती है। किन्तु इसमें विशेषता यह है कि जब ये कारण कार्य और सहकारी काव्य और नाट्य क क्षेत्र में आते हैं तब ये अपना कार्य इत्यादि नाम छोड़ देते हैं और इनके लिये विभाव इत्यादि ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगता है जिनका व्यवहार लोक में नहीं होता। इस नामकरण का कारण यह है कि इनमें एक प्रकार की अलौकिकता होती है। वह अलौकिकता यह है कि लोक में हर्ष शोक और मोह के कारणों से हर्ष शोक और मोह उत्पन्न होते हैं। दूसरी बात यह है कि काव्य और नाट्य में इन कारणादिकों मे एक नये प्रकार की क्रिया या व्यापार होता है जिसे विभावन अनुभावन इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया जा सकता है और जिनके आधार पर विभावादि शब्दों का नामकरण हुआ है। किसी विशेष व्यक्ति से इनके किसी प्रकार के सन्बन्ध को स्वीकार करने का नियम नहीं है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा ही है, यह शत्रु का ही है यह किसी अन्य तटस्थ व्यक्ति का ही है। और न किसी विशेष व्यक्ति से किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध के परित्याग का ही नियम है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा भी नहीं है यह शत्रु का भी नहीं है और यह किसी तटस्थ व्यक्ति का भी नहीं है। हम इस आलम्बन इत्यादि को अपना नहीं कह सकते। यदि उसे हम अपना समझें तो अपने ही प्रेम इत्यादि का सबके सामने अभिनय होता देखकर हमें आनन्द के स्थान पर लज्जा का ही अनुभव होगा। यदि शत्रु का समझें तो आनन्द के स्थानपर द्वेष ही होगा। यदि उदासीन का समझें तो आनन्द के स्थान पर हम उदासीन हो जावेंगे। यदि हम यह समझने लगेंगे कि हमारा भी नहीं है, शत्रु का भी नहीं है और उदासीन का भी नहीं है तो हमें उससे सरोकार ही क्या रहेगा? बस इसी प्रकार के विभावादिकों के नाम से विख्यात कारणादिकों से दर्शकों की चित्तवृत्ति में वासनारूप में विद्य-

तारावती

मान रति इत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। वह अभिव्यक्ति यद्यपि उस समय नियमित रूप से अध्ययन करनेवाले के अन्तःकरण में ही होती है किन्तु ऊपर बतलाये हुये कारणों से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध का परित्याग कर देने के कारण साधारणीकरण के उपाय से प्रमाता के चित्त में एक ऐसा अपरिमित भाव जागृत हो जाता है कि उसे उस समय अपनी परिमित प्रमातृसत्ता का ज्ञान ही नहीं रहता और उस समय उसकी दृष्टि से वे सारी वस्तुयें तिरोहित हो जाती हैं जो जानने योग्य कही जा सकती हैं। इस प्रकार वह सारे विश्व से अपनी आत्मा को मिला देता है और सारे विश्व से एकात्मभाव का अनुभव करने लगता है। वह प्रमाता ही समस्त सहृदयों से एकाकार होकर उस रति इत्यादि भाव को प्रत्यक्ष करता है। यद्यपि यह बहुत ही साधारण रूप में उपस्थित किया जाता है और अभिन्न होता है—जिस प्रकार ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार रस का गोचरीकरण भी रस से भिन्न नहीं होता फिर भी इसका प्रत्यक्ष होता ही है। इसके प्राण अथवा स्वरूप की निष्पत्ति इसका चर्वण करना ही है। इसका जीवन उतने ही काल का होता है जबतक विभावादि विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार इलायची मिर्च शकर कपूर इत्यादि विलक्षण वस्तुओं से बनाया हुआ पानक रस समस्त वस्तुओं के समूह से तैयार किये हुये एक विभिन्न प्रकार के नवीन रस को व्यक्त किया करता है उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण लोकातीत आस्वाद का चर्वण इस रस में भी होता है। जब इसका स्वाद लिया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानों सारे शरीर का आलिङ्गन कर रहा हो अर्थात् सारे शरीर को अमृत से सींच रहा हो। यह अन्य सब कुछ तिरोहित कर देता है, यह उसी प्रकार आनन्द का अनुभव कराता है जिस प्रकार मुक्ति दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ करता है। (रसौ वै सः) यह सर्वथा अलौकिक होता है क्योंकि लौकिक आनन्द केवल एक व्यक्ति को होता है किन्तु यह सार्वजनीन है तथा लौकिक आनन्द अवसान में विरसता उत्पन्न करता है किन्तु इसमें यह बात नहीं होती। यही अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाला शृङ्गार इत्यादि रस नाम से पुकारा जाता है। इस रस को हम कार्य नहीं कह सकते क्योंकि कार्य उपादान से भिन्न अन्य कारणों के विनाश पर भी बना रहता है। जैसे घट इत्यादि कार्य दण्ड इत्यादि कारण के विनष्ट होने पर भी बने रहते हैं। किन्तु रस विभावादि के नष्ट हो जाने पर नहीं रहता। रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि ज्ञाप्य वही वस्तु होती है जो पूरी तौर से बन चुकी हो। जैसे घड़े के बन जाने पर ही दीपक घड़े को प्रकट कर सकता है। इसके प्रतिकूल यह रस कभी पूर्ण रूप से सिद्ध ही नहीं होता केवल विभाव इत्यादि के द्वारा यह व्यञ्जनावृत्ति से प्रकट होता है और तभी यह आस्वादन के योग्य हो जाता है। इस प्रकार न यह कार्य होता है न ज्ञाप्य। यहाँ पर कोई भी मुझसे पूछ सकता है कि इस रस से भिन्न क्या कहीं कोई चीज देखी गयी है जो न तो कार्य हो न ज्ञाप्य? इसपर मेरा उत्तर होगा कि वास्तव में ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई है। किन्तु इस प्रकार रस के समान कहीं किसी वस्तु का न देखा जाना केवल रस की अलौकिकता को ही सिद्ध करता है जो रस के

तारावती

लिये भूषण की ही बात है दूषण की नहीं। यदि आप चाहें तो इसे कार्य भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें चर्वणा की उत्पत्ति होती है, जिसको लेकर रसनिष्पत्ति शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार इसे हम ज्ञाप्य या ज्ञेय भी कह सकते हैं क्योंकि यह एक ऐसे स्वार्थपर्यवसित लोकोत्तरज्ञान का विषय होता है जो लोकप्रसिद्ध सभी प्रकार के ज्ञान से विलक्षण होता है। लोक के ज्ञान ये हैं—(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान। (२) अपूर्ण योगियों का ज्ञान जिसमें चक्षु इत्यादि बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं होती। (३) परिपक्व योगियों का ज्ञान जिसमें सांसारिक ज्ञेय पदार्थों का संस्पर्श भी नहीं होता और जिसका पर्यवसान अपनी आत्मा में ही होता है। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त किया हुआ यह ज्ञान आनन्दस्वरूप होने के कारण ज्ञाप्य भी कहला सकता है। न यह निर्विकल्पक हो सकता है न सविकल्पक। (तर्कशास्त्र में इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उद्भूत ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। तर्कशास्त्र के अनुसार किसी भी विशेष प्रकार के ज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण होता है। जैसे दण्डी के ज्ञान में दण्ड का ज्ञान कारण हैं। इसी प्रकार दण्ड के ज्ञान में दण्डत्व का ज्ञान कारण है। इस प्रकार विशेषण ज्ञान के आधार पर होनेवाले ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाते हैं। कुछ ऐसे ज्ञान हैं जिनमें कोई भी ज्ञान विशेषण नहीं होता। ऐसे ज्ञानों को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं।) रस का ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि हमें रसास्वादन में विभावादि विशेषणों का प्रत्यक्ष रूप में अनुभव होता है। इसे हम सविकल्पक भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका आस्वादन अलौकिक अखण्ड आनन्दमय होता है इसमें किसी प्रकार के विभेद अथवा विशेषण के लिये अवसर ही नहीं। इस प्रकार यह न तो सविकल्पक है न निर्विकल्पक। साथ ही निर्विकल्पक न होने से सविकल्पक भी कहा जा सकता है और सविकल्पक न होने से निर्विकल्पक भी हो सकता है। दोनों प्रकार का न होना और दोनों प्रकार का होना, यह जो विरोध है वह इस रसप्रक्रिया के लिये भूषण ही है दूषण नहीं क्योंकि यह इसकी अलौकिकता को ही सिद्ध करता है। यह है श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य का रसविषयक मत।

इस मत का सार यही है कि बार-बार रति इत्यादि कारणों से रति इत्यादि की उत्पत्ति देखकर संस्कार रूप में रति इत्यादि की भावना सहृदयों के हृदयों में अपना घर कर लेती है। फिर जब हम रङ्गमञ्च पर राम और सीता का अभिनय देखते हैं उस समय यद्यपि वह प्रेम राम और सीता के व्यक्तित्व के अन्दर सीमित होता है किन्तु भावनाओं का स्वाभाविक प्रकृति के कारण वह सर्वसाधारण की वस्तु बनने की क्षमता रखता है और उसके लिये अलग से भावक इत्यादि वृत्तियों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार साधारणीकृत रति इत्यादि अभिनीत भावों के द्वारा दर्शकों और पाठकों के अन्तःकरणों में अवस्थित रति इत्यादि भावों का उद्बोधन हो जाता है। यह उद्बोधन व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा होता हैं और इस प्रकार उसका आस्वादन होने लगता हैं। यही रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया है। इस सिद्धान्त और भट्टनायक के सिद्धान्त में यही

ध्वन्यालोकः

तत्र—

रस-भाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ ३॥

(अनु०) उन दोनों भेदों में :—

'रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावप्रशान्ति इत्यादि जब अक्रम रूप में व्यक्त हो रहे हों और प्रधान रूप में भी स्थित हों तब वे रस इत्यादि ध्वनि की आत्मा के रूप में व्यवस्थित होते हैं॥ ३॥

लोचन

तत्रेति। तयोर्मध्यादित्यर्थः। यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा। न त्वक्रम **एव सः, क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद् भवति। तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानरूपभेद-तेति वक्ष्यते। आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह। तेन रसादिर्योऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः। असंलक्ष्यक्रम इति यावत्।**

'तत्र' इति। अर्थात् उन दोनों के बीच से। जो रस इत्यादि अर्थ वही अक्रम होकर काव्य की आत्मा बनता है। वह अक्रम ही नहीं होता, उसका कदाचित् क्रमत्व भी हो जाता है। उस समय पर तो अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानरूप भेद यह कहेंगे। 'आत्म' शब्द स्वभाव का कहनेवाला होकर प्रकार को वतलाता है। उससे रस इत्यादि जो अर्थ वह ध्वनि का अक्रम नाम भेद वाला है। आशय यह है कि जिसका क्रम लक्षित न किया जा सके।

तारावती

अन्तर है कि इसमें दो वृत्तियाँ अलग से नहीं माननी पड़तीं और पूर्वमत में दर्शकों की चित्तवृत्ति में न रहनेवाली रति का भी आस्वादन होता था यह दोष भी नहीं रहा। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस प्रश्न का भी उत्तर हो जाता है कि सहृदयों को ही रस का आस्वादन क्यों होता है? मीमांसक वैय्याकरण इत्यादि को क्यों नहीं होता।

नाटयसूत्र में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव सब एक साथ मिलाकर लिख दिये गये हैं। इसका आशय यह है कि किसी वस्तु में अलग से किसी वस्तु की सत्ता नियत नहीं है। एक ही वस्तु कई भिन्न-भिन्न रसों से सम्बन्ध रख सकती है। उदाहरण के लिये भीरु पुरुषों के प्रति सिंह भयानक रस का आलम्बन हो सकता है; जिसने पहले कभी न देखा हो उसके हृदय में विस्मय पैदा करने के कारण वही सिंह अद्भुत रस का आलम्बन हो सकता है; जिनके बान्धवों को उस सिंह ने मार डाला हो उनके हृदय में क्रोध उत्पन्न करने के कारण वही सिंह रौद्र रस का भी आलम्बन हो सकता है। इसी प्रकार अश्रुपात इत्यादि अनुभाव श्रृङ्गार रस के हैं; वे ही करुण भयानक इत्यादि रसों के भी अनुभाव हो सकते हैं। चिन्ता विप्रलम्भ श्रृङ्गाररस का व्यभि-चारी भाव है। वही चिन्ता वीर करुण और भयानक रसों का भी व्यभिचारी भाव हो सकता

लोचन

ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः ? नेत्याह । किन्तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः । एतच्च सामान्यलक्षणे गुणीकृतस्वार्थावित्यत्र यद्यपि निरूपितम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम् । स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव; न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति । यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम् तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति । तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः। यथा—

(प्रश्न) क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि का प्रकार ही होता है ? (उत्तर) बतलाते हैं—ऐसा नहीं होता। किन्तु जब अङ्गित्व अर्थात् प्रधानत्व के रूप में अवभासित होता है । यह यद्यपि सामान्यलक्षणा में 'स्वार्थ को गौण बनानेवाले...' यहाँपर निरूपित कर दिया था तथापि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों के प्रकाशन को अवकाश देने के लिये अनुवाद कर दिया गया । वह रस इत्यादि ध्वनि व्यवस्थित ही होती है। उसके बिना कोई काव्य नहीं होता । यद्यपि समस्त काव्य रस के द्वारा ही जीवित रहता है तथापि एक घन चमत्कारात्मक उस रस का भी यह चमत्कार प्रयोजन के रूप में स्थित किसी अंश से अधिक हो जाता है। उसमें जब कोई व्यभिचारी उद्रिक्त अवस्था को प्राप्त होकर चमत्कार की अधिकता का प्रयोजक हो जाता है तब वह भावध्वनि होती है । जैसे—

तारावती

है । शृङ्गार में रूप इत्यादि की चिन्ता होती है; वीर रस में सहायक इत्यादिकों की भी चिन्ता होती है, करुण रस में बान्धवों के अपकार इत्यादि की चिन्ता होती है और भयानक रस में भय के कारणों (प्रचण्ड वस्तुओं) इत्यादि की चिन्ता होती है ।)

'तत्र' का अर्थ है उनमें अर्थात् ऊपर बतलाये हुये दो भेदों में । जब रस इत्यादि अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) अक्रम होता है तब वह ध्वनि की आत्मा के रूप में व्यवस्थित होता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि रस इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों में क्रम होता ही नहीं । क्रम कभी-कभी रस इत्यादि अर्थों में भी होता है । इस बात का विवेचन आगे चलकर करेंगे कि जब रस में व्यज्यमान अर्थों में क्रम की प्रतीति होती है तब उनका अन्तर्भाव अर्थशक्त्युद्भव संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में ही हो जाता है । 'ध्वनि की आत्मा' में शब्द का अर्थ है स्वभाव और यह शब्द ध्वनि के प्रकार को प्रकट करता है । इसका आशय यह है कि रस इत्यादि जो अर्थ होता है वह ध्वनि का ही एक भेद होता है जिसका नाम 'अक्रम' होता है । इसे हम दूसरे शब्दों में असंल्लक्ष्यक्रम कह सकते हैं । (प्रश्न) क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वत्र ध्वनि का प्रकार ही होता है अर्थात् जहाँ कहीं रस होता है वहाँ सर्वत्र ध्वनि ही कही जाती है ? (उत्तर) नहीं । किन्तु जब रस अङ्गी अर्थात् प्रधानता के रूप में अवभासित होता है तभी वह ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है।

लोचन

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति।
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः॥
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीम्।
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः। व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः। यदाह—विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिण इति। तदोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित्। यथा—

'कोपवश (शायद) प्रभाव से ढकी हुई स्थित हो (किन्तु) वह बहुत समय तक कुपित नही होती। (सम्भवतः) स्वर्ग को उछल कर चली गई हो (किन्तु) इसका मन मुझमें भावार्द्र है। देवताओं के शत्रु भी मेरे आगे स्थित उसको हरने में समर्थ नहीं हैं। और वह नेत्रों से अत्यन्त अगोचर हो गई हैं यह क्या विधि है ?'

यहाँ पर इतने विप्रलम्भ शृङ्गार के होने पर भी वितर्क नाम के व्यभिचारी भाव के चमत्कार से उत्पन्न आस्वाद की अधिकता ही है। व्यभिचारी उदय, स्थिति और अपाय इन तीन धर्मों वाले होते हैं। जैसा कहा है—'विविध रूप में सामने होकर जो विचरण करते हैं उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। उसमें कदाचित् उदयावस्था-प्रयुक्त होता है। जैसे—

तारावती

यद्यपि यह बात प्रथम उद्योत में ध्वनि के लक्षण करने के अवसर पर ही कह दी दी गई थी क्योंकि वहाँ पर कहा गया था कि 'जब शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर प्रधानतया अवभासित होता है तब उसे ध्वनि कहते हैं।' तथापि यहाँ पर पुनः कहा गया है कि 'जब रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में अवभासित होते हैं तब उनको ध्वनि कहते हैं।' इस पुनः कथन का मन्तव्य यह है कि जब आगे चलकर रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का प्रकाशन करेंगे वहाँपर यह बतलाया जावेगा कि रस इत्यादि कहाँ पर गौण होने पर उनका क्या नाम होता है। उसी वर्णन को अवकाश प्रदान करने के लिये यहाँ पर पुनः दोहरा दिया गया है कि जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान होते हैं वहीं पर ध्वनि होती है। 'व्यवस्थित' शब्द का आशय यह है कि वह रस इत्यादि ध्वनि व्यवस्थित ही होती है। उससे शून्य कोई काव्य नही होता। (जब रजस् और तमस् का आवरण भङ्ग हो जाता है और सत्त्व का उद्रेक होता है तथा चित्तवृत्ति रति इत्यादि से अवच्छिन्न चेतनामय हो जाती है तब उसे रस कहते हैं।) यद्यपि समस्त काव्य रस से ही जीवित होता है तथापि रस चमत्कारस्वरूप एकघन होता है तथा यह चमत्कार उस रस के किसी अंश से और अधिक बढ़ जाता है। अतः उस चमत्कारस्वरूप आस्वादन में वही अंश प्रधान माना जाता है। उस रस में जब कोई व्यभिचारी

लोचन

याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया।
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम्॥
भूयस्तत्प्रकृतं कृतञ्च शिथिलक्षिप्रैकदोर्लेखया।
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः॥

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाश-निराकरणात्तदेव काव्यजीवितम्। स्थितिः पुनरुदाहृता—'तिष्ठेत् कोपवशात्' इत्या-

गोत्रस्खलन के कर्णगोचर होनेपर शय्या को प्राप्त होनेवाली नायिका के द्वारा परिवर्तन (करवट बदलने) का ध्यान किया गया और फिर प्रारम्भ भी अङ्गीकार किया गया। फिर उसको प्रयत्न का विषय बनाया और एक भुजलता को शिथिल कर तथा दूसरी ओर डालकर (वह कार्य) किया भी, किन्तु वह कृशाङ्गी स्तनभार को प्रियतम के हृदय से पृथक् करने में समर्थ नहीं हो सकी।'

वहाँ पर प्रणय कोप का उदयावस्था में ही जो स्थित होना 'समर्थ नहीं हो सकी' इस (कथन के द्वारा) उदयावकाश के निराकरण कर देने से वही आस्वाद का जीवन है। 'तिष्ठेत् कोपवशात्......' इत्यादि पद्य के द्वारा स्थिति का उदाहरण दे ही दिया गया। कहीं व्यभिचारी

तारावती

भाव इस प्रकार उद्रिक्त अवस्था को प्राप्त होकर चमत्कार का प्रयोजक होता है तब उसे भाव-ध्वनि कहते हैं। जैसे विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के वियोग में पुरूरवा कह रहे हैं :—

'सम्भव हो सकता है कि क्रोध के कारण वह अपने प्रभाव से अन्तर्धान हो गई हो? किन्तु क्रोध तो वह अधिक समय तक करती नहीं। सम्भवतः स्वर्ग को चली गई हो। किन्तु मेरी ओर उसका मन भावपूर्ण तथा आर्द्र है। (अतः वह मुझ को छोड़ कर स्वर्ग को नहीं जा सकती।) देवताओं के शत्रु भी मेरे सामने से उसे हरकर नहीं ले जा सकते। किन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि वह बिलकुल ही मेरे नेत्रों के सामने से ओझल हो गई है।'

यहाँपर विप्रलम्भ शृङ्गार विद्यमान है किन्तु आस्वाद वितर्क नामक व्यभिचारी भाव के ही कारण होता है। व्यभिचारी भाव तीन प्रकार के होते हैं—(१) उदय की अवस्था में, (२) स्थिति की अवस्था में, तथा (३) विनाश की अवस्था में। जैसाकि कहा गया है—'विविध रूप में अभिमुख होकर जो विचरण करते है उन्हें व्यभिचारी कहते हैं।' (विविध कहने से उनकी त्रिप्रकारता व्यक्त होती है।) उनमें व्यभिचारी भाव कभी उदयावस्था में ही चमत्कार तथा आस्वादन में निमित्त होता है। उदाहरण :—

'नायिका प्रियतम के साथ एक ही शय्या पर लेटी हुई थी। सहसा प्रियतम के मुख से गोत्रस्खलन हो गया। (नायिका का नाम लेने के स्थान पर उसकी सौत का नाम मुख से निकल गया।) जब वह सौत का नाम नायिका के कर्णगोचर हुआ तब उसने दूसरी ओर

लोचन

दिना। क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः। यथोदाहृतं प्राक्—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया' इति। अयं तत्प्रशम इत्युक्तः। अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम्।

क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम्। यथा—

ओसुरु सुम्भि आइं मुहु चुम्बइ जेण।
अमिअरस घोण्टाणं पडिजाणिउ तेण॥

का प्रशमावस्थाप्रयुक्त चमत्कार होता है। जैसा कि पहले उदाहरण दिया गया—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया······' इत्यादि। यह उसका प्रशम है यह कहा गया। यह ईर्ष्या विप्रलम्भ रस का भी प्रशम है यह योजना की जा सकती है। कहीं तो व्यभिचारी की सन्धि भी चर्वणा का स्थान होती है। जैसे—

'जिसने ईर्ष्या के आँसुओं से शोभित (नायिका) के मुख का चुम्बन किया उसने अमृत-रस के निगरण की तृप्ति जान ली।'

तारावती

करवट लेने का विचार किया, करवट बदलने का उद्योग प्रारम्भ करना भी चाहा; उसके लिये उद्योग किया भी और अपनी बाहुलता को ढीला करके तथा दूसरी ओर डालकर उस कार्य की पूर्ति भी की। किन्तु वह कृशाङ्गी प्रियतम के वक्षःस्थल से अपने स्तनों के भार को खींचकर पृथक् करने में समर्थ न हो सकी।'

यहाँपर प्रणयकोप का उदय होना ही चाहता था; किन्तु 'समर्थ न हो सकी' कहकर उसका निराकरण कर दिया गया, इस प्रकार उदयावस्था में स्थित प्रणयकोप ही यहाँ पर आस्वाद का जीवन है। भावस्थिति का उदाहरण—'तिष्ठेत्कोपवशात् प्रभावपिहिता······' इस पद्य में दिया ही जा चुका है। कहीं पर व्यभिचारी भाव की प्रशमावस्था ही चर्वणा में निमित्त होती है। जैसा कि पहले—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया······' इस उदाहरण की व्याख्या में बतलाया जा चुका है (पृष्ठ ११६)। वहाँ पर ईर्ष्या और रोष का प्रशम आस्वाद में कारण बतलाया गया था। ईर्ष्या विप्रलम्भ का प्रशम भी आस्वादन में कारण होता है यह भी योजना यहाँ पर की जा सकती है। (वस्तुतः ईर्ष्या भाव की प्रशान्ति मानना ही ठीक है। क्योंकि आचार्यों ने रस के अखण्डस्वरूप होने के कारण उसके रसोदय इत्यादि भेद नहीं माने हैं।)

कहीं-कहीं दो व्यभिचारी भावों की सन्धि भी रस चर्वणा में कारण होती है। जैसे उक्त प्राकृत गाथा जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार की हो सकती है :—

ईर्ष्याश्रुशोभितायाः मुखं चुम्बितं येन।
अमृतरसनिगरणानां तृप्तिर्ज्ञाता तेन॥

लोचन

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकषायगद्गदमन्दरुदितापायेन मुखं चुम्बितं तेनामृतरसनिगरणविश्रान्तिपरम्पराणां तृप्तिर्ज्ञातेति कोपप्रसादसन्धिश्चमत्कारस्थानम्।

क्वचिद्व्यभिचार्यन्तरशबलतैव विश्रान्तिपदम्। यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा।
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्॥
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा।
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति॥

यहाँ पर शब्दश्रुति के द्वारा क्रोध के कहे जाने पर 'कोप से कलुषित गद्गद तथा मन्द-मन्द रोनेवाली (नायिका) के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने अमृतरस-निगरण से उत्पन्न विश्राम परम्परा की तृप्ति जान ली। इस प्रकार कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है। कहीं व्यभिचारी की आन्तरिक शबलता ही विश्राम स्थान होती है। जैसे—

'कहाँ तो यह दुष्कर्म और कहाँ शशाङ्क का निर्मल कुल? वह फिर दिखलाई पड़ जाती ?? हमारा शास्त्र तो दोषों को शान्त करने के लिये होना चाहिये ? अहो उसका मुख तो क्रोध में भी सुन्दर है। पापरहित कुशलबुद्धिवाले न जाने क्या कहेंगे ? वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ हैं। हे चित्त स्वास्थ्य को प्राप्त हो। न जाने कौन धन्य युवक उसका अधरपान करेगा ?'

तारावती

ईर्ष्या के आँसुओं से शोभित होनेवाली नायिका के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने ही ठीक रूप में जान पाया कि अमृत रस को पीने में कैसी तृप्ति होती है ?'

यहाँपर कोप शब्द का कण्ठरव से उच्चारण किया गया है। जिस समय प्रियतमा क्रोध के कारण कषाय और गद्गद कण्ठ से मन्द-मन्द रो रही हो उस समय उसके मुख को चुम्बन करने का जिसे सौभाग्य प्राप्त हो गया उसे मानो अमृत रस को स्वाद ले-लेकर और रुक-रुककर पीने का आनन्द प्राप्त हो गया। यहाँपर कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार में कारण है।

कहीं कहीं पर व्यभिचारियों की दूसरे व्यभिचारियों से शबलता आनन्ददायक होती है। जैसेः—

'कहाँ तो यह दुष्कार्य और कहाँ विशुद्ध चन्द्रवंश ! एक बार मुझे फिर देखने को मिल जाती ? मेरा शास्त्रानुशीलन मुझे शान्ति प्रदान करनेवाला होना चाहिये ? उसका मुख क्रोध में भी कितना कमनीय मालूम होता है ? न मालूम पापरहित कुशल लोग मेरे इस कार्य के विषय में क्या कहेंगे ? उसका स्वप्न में भी प्राप्त हो सकना दुर्लभ है ? हे चित्त शान्त हो और स्वस्थता को प्राप्त करो ? न मालूम कौन धन्य युवक उसके अधरपान का सौभाग्य प्राप्त करेगा ?'

लोचन

अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये, मतिस्मरणे, शङ्कादैन्ये, धृतिचिन्तने परस्परं बाध्यबाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। एतानि चोदयसन्धिशबलत्वादिकानि कारिकायामादिग्रहणेन गृहीतानि।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरनुभावध्वनिश्च वक्तव्यः। मैवम्; विभावानुभावौ तावत्स्वशब्दवाच्यावेव। तच्चर्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम्। यदा तु विभावानुभावावपि व्यङ्ग्यौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते? यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।

यहाँपर निस्सन्देह वितर्क-औत्सुक्य, मति-स्मरण, शङ्का-दैन्य, धृति-चिन्ता परस्पर बाध्य-बाधकभाव से जोड़े में होते हुये, अन्त में चिन्ता को ही प्रधानता देते हुये परम आस्वाद का स्थान है। इसी प्रकार अन्य की भी उत्प्रेक्षा कर ली जानी चाहिये। ये उदय, सन्धि और शबलत्व इत्यादि कारिका में आदि ग्रहण से ग्रहण किये गये हैं।

(प्रश्न) इस प्रकार विभाव-अनुभावमुख से भी अधिक चमत्कार देखा जाता है इस प्रकार विभावध्वनि और अनुभावध्वनि भी कही जानी चाहिये। (उत्तर) ऐसा मत कहो। विभाव और अनुभाव तो स्वशब्दवाच्य ही होते हैं। उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों में ही पर्यवसित होती है इस प्रकार रस और भाव से अधिक चर्वणा योग्य नहीं होता। जब विभाव और अनुभाव भी व्यङ्ग्य होते हैं तो वस्तुध्वनि को भी क्यों नहीं सहन किया जाता? जब तो विभावाभास से रत्याभास का उदय हो तब विभाव के आभास से चर्वणा का आभास होता है तब रसाभास का विषय होता है। जैसे रावणकाव्य के सुनने में शृङ्गाराभास होता है। यद्यपि मुनि ने निरूपित किया है कि 'जो शृङ्गारानुकृति होती है वह हास्य कहलाती है' तथापि वहाँपर हास्यरस उत्तरकालिक होता है।

तारावती

(यह देवयानी की कामना में ययाति की उक्ति है। देवयानी ब्राह्मणकन्या हैं अतः ययाति के हृदय में उसके प्रेम के विषय में ये सङ्कल्प-विकल्प उठ रहे हैं।) यहाँ पर 'कहाँ तो······चन्द्रवंश' में वितर्क और 'एक बार······मिल जाती' में औत्सुक्य, 'मेरा शास्त्रानुशीलन ······होना चाहिये' में मति और 'उसका मुख······प्रतीत होता है' में स्मरण, 'न मालूम······क्या कहेंगे' में शङ्का और 'उसका स्वप्न······दुर्लभ है' में दैन्य, 'हे चित्त······प्राप्त करो' में धृति और 'न मालूम······कर सकेगा' में चिन्ता, एक दूसरे के बाध्य-बाधक के रूप में उपस्थित हुये हैं

लोचन

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम् ।
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना ॥

'दूर से आकर्षण मोहमन्त्र के समान उसके नाम के श्रुतिगोचर होने पर उसके बिना चित्त काल के एक अंश के लिये भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होता।'

तारावती

और अन्त में चिन्ता को ही प्रधानता प्रदान करते हुये आस्वाद में कारण हुये हैं। इन भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का ग्रहण कारिका के आदि शब्द से हो जाता है।

(प्रश्न) कभी-कभी चमत्कार की अधिकता विभाव और अनुभाव के कारण भी देखी जाती है, अतः भावध्वनि के समान विभावध्वनि और अनुभावध्वनि का भी निरूपण क्यों नहीं करना चाहिये? (उत्तर) विभाव और अनुभाव सर्वदा शब्दवाच्य ही होते हैं; व्यङ्ग्य कभी नहीं होते। अतः विभावध्वनि और अनुभावध्वनि नहीं होतीं। विभाव और अनुभाव की चर्वणा का पर्यवसान भी चित्तवृत्ति में ही हो जाता है अतः उनका आस्वाद भी रस और भाव से पृथक् नहीं होता। (प्रश्न) कभी कभी विभाव और अनुभाव भी व्यङ्ग्य होते हैं उस दशा में इन दोनों की ध्वनियों का पृथक् विवेचन अनिवार्य हो जाता है? (उत्तर) विभाव और अनुभाव के व्यङ्ग्य होने पर वस्तुध्वनि क्यों नहीं सहन की जाती? अर्थात् ऐसे स्थान पर विभाव और अनुभाव की ध्वनि नहीं कही जावेगी अपितु वस्तुध्वनि ही कही जावेगी।

जहां पर विभावाभास हो अर्थात् रति इत्यादि भाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति व्यक्त किये गये हों जिनके प्रति उन भावों का व्यक्त करना अनुचित हो तो वहां पर वह रति इत्यादि भाव भी रत्याभास का रूप धारण कर लेता है और विभावाभास के कारण उस भाव की चर्वणा भी चर्वणाभास हो जाती है। उसे भी रसाभास कहते हैं, जैसे रावणकाव्य में रावण का सीता के प्रति प्रेम शृङ्गाराभास के रूप में स्थित है। यद्यपि भरत मुनि ने लिखा है कि—'शृङ्गार के अनुकरण में हास्य रस होता है? किन्तु वह हास्य-रस शृङ्गारानुभूति के बाद ही व्यक्त होता है।

'दूराकर्षण मोहमन्त्र......' इत्यादि पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार है:—

एतैराकुलितस्य विक्षततरैरङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्।

रावण सीता के वियोग में कह रहा है—'दूर से आकर्षण करनेवाले मोहमन्त्र के समान जब से मैंने सीता का नाम सुना है तब से मेरा चित्त एक क्षणभर भी कहीं स्थिर नहीं हो रहा है। काम से पीडित अपने इन अङ्गों के कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ। संसार के सभी पदार्थों से मेरा मन हट गया है। मुझे बिल्कुल ही पता नहीं चल रहा है कि उस (सीता) के प्राप्त करने का सुख मुझे किस प्रकार मिल सकेगा।'

लोचन

इत्यत्र तु न हास्यरसचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थाबन्धाभावात्। केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयते। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्रावस्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्। एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलाषे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव।

यहाँ पर तो हास्यरस की चर्वणा का अवसर नहीं होता। (प्रश्न) यहाँ पर रति स्थायीभाव नहीं है क्योंकि परस्पर आशाबन्ध का अभाव है। (उत्तर) यह किसने कहा कि रति है। वह तो रत्याभास है। यह आभासता इसलिये है जिससे 'सीता मुझमें उपेक्षिका या द्वेषपूर्णा है' यह प्रतिपत्ति इसके हृदय को स्पर्श नहीं ही करती। निस्सन्देह उसके स्पर्श करने पर उसकी भी अभिलाषा विलीन हो जावे। 'यह मेरे अन्दर अनुरक्त है' इस निश्चय का अभाव भी नहीं है क्योंकि कामजन्य मोह से (ऐसा) निश्चय विद्यमान है ही। अतएव वस्तुतः उसका आभासत्व वहाँ पर स्थापित किया जाता है। जैसे शुक्ति में रजत का आभास। और यह शृङ्गारानुकृति शब्द का प्रयोग करनेवाले मुनि ने भी सूचित किया है। अनुकृति अर्थात् अमुख्यता या आभास यह एक ही अर्थ है। अतएव एकतरनिष्ठ अभिलाष में भी शृङ्गार शब्द से विभिन्न स्थानों पर व्यवहार उसके आभास के रूप में माना जाना चाहिये। शृङ्गार से वीर इत्यादि की भी आभासरूपता का उपलक्षण हो ही गया।

तारावती

यहाँ पर रावण का सीता के प्रति प्रेम वर्णित किया गया है जो कि रसाभास है। किन्तु यहाँ पर हास्य रस की प्रतीति ही नहीं होती। (प्रश्न) यहाँ पर रति भी तो स्थायी भाव नहीं है? (उत्तर) जब कि दोनों ओर अनुराग का बन्धन है ही नहीं तब यह कौन कहता है कि यह रति स्थायी भाव है? यहाँ पर रत्याभास है। यह आभास इस प्रकार समझना चाहिये कि—'सीता मेरी उपेक्षा करती है या मुझसे द्वेष करती है।' यह विचार रावण के चित्त का स्पर्श ही नहीं कर पाता। यदि यह विचार रावण के चित्त में आ जावे तो तत्काल ही उसका भी प्रेम विलीन हो जावे। कामजन्य मोह के कारण 'सीता मुझ पर प्रेम करती है' इस निश्चय की भी रावण को आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये ऐसे स्थान पर आभास की स्थापना कर ली जाती है। जैसे शुक्ति में रजत का आभास हो जाता है। यही बात 'शृङ्गारानुकृति' शब्द का प्रयोग कर भरत मुनि ने भी सूचित की है। अनुकृति शब्द का अर्थ है मुख्य न होना और यही आभास शब्द का भी अर्थ है। इस प्रकार दोनों शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करनेवाले हैं। इसीलिए जहाँ कामना केवल एक ओर से दिखलाई पड़े और वहाँ पर शृङ्गार शब्द का प्रयोग

लोचन

एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः। आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससंमूर्छितामोदोपभोगेऽपि शुद्धमास्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। यथा—

> कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले।
> मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता॥
> मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ।
> साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥

इस प्रकार भावध्वनि इत्यादि रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं। आस्वाद में प्रधान प्रयोजक अंश को विभक्त कर पृथक् व्यवस्थापित किया जाता है। जैसे गन्ध की युक्ति को जाननेवालों के द्वारा आस्वादन में मिले हुये आमोद के उपभोग किये जाने पर भी शुद्ध मांसी इत्यादि से प्रयुक्त यह सुगन्ध है (ऐसा कहा जाता है)। यहाँ पर रसध्वनि तो वही होती है जो यहाँ पर मुख्य रूप से विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के संयोग से उत्पन्न स्थायी की प्रतिपत्ति करनेवाले प्रतिपत्ता (सहृदय) का स्थायी अंश की चर्वणा से प्रयुक्त होकर ही आस्वाद का प्रकर्ष होता है। जैसे—

'कठिनाई से दोनों ऊरुओं को व्यतीतकर बहुत देर तक नितम्बस्थल में भ्रमण कर, त्रिवलीरूपी तरङ्ग से विषम इसके मध्य भाग में निश्चलता को प्राप्त हुई मेरी दृष्टि प्यासी सी इस समय तुङ्ग स्तनों पर धीरे धीरे चढ़कर जलकणों को बहानेवाले दोनों नेत्रों को आकांक्षापूर्वक बार-बार देखती है।'

तारावती

किया गया हो वहाँ पर उसका मन्तव्य शृङ्गाराभास ही समझना चाहिये। शृङ्गाराभास कहने से वीराभास इत्यादि का उपलक्षण हो ही जाता है। इस प्रकार भावध्वनि इत्यादि रस ध्वनि के ही छोटे छोटे प्रवाह हैं। जहाँ पर रस का कोई एक अंश प्रधान रूप से प्रयोजक होता है वहाँ पर पृथक् रूप में उसी के अंश के नाम पर ध्वनि की व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिये यदि एक पेया विभिन्न द्रव्यों से तैय्यार की जावे और उन सब द्रव्यों का एक ही रस तैय्यार हो जावे तथा उनकी सम्मिलित सुगन्धि का भी उपभोग किया जा रहा हो फिर भी पृथक् करके लोग कहते हैं कि इस द्रव्य में शुद्ध जटामांसी द्रव्य की विशेष गन्ध आ रही है। इसीप्रकार शृङ्गारादि रस में किसी एक भाव का विशेष रूप से नाम ले लिया जाता है। (और उसे भावध्वनि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है।) रसध्वनि वहीं पर होती है जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायीभाव की प्रतिपत्ति हो और अनुशीलनकर्ता स्थायी भाव के अनुशीलन से ही आस्वाद-प्रकर्ष का अनुभव करे। जैसे—

ध्वन्यालोकः

रसादिरर्थो सहेव वाच्येनावभासते। सचाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।

(अनु०) रस इत्यादि (वाच्य के बाद इतना शीघ्र प्रकट होता है कि ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानों) वाच्य के साथ ही अवभासित हो रहा हो। वही जब प्रधानतया अवभासित होता है तब ध्वनि की आत्मा बनता है।

लोचन

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपवित्रितचित्रफलकावलोकनाद्वत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति। तदलं बहुना? स्थितमेतत्—रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति। सहेवेति। इवशब्देनासंलक्ष्यता? विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। वाच्येनेति। विभावानुभावादिना ॥ ३ ॥

यहाँ पर निस्सन्देह नायिका के आकार (के कारण) बार-बार वर्णन किये जाते हुये और अपनी प्रतिकृति से पवित्रित चित्रफलक के अवलोकन से वत्सराज का परस्पर आशाबन्ध रूप रतिस्थायीभाव विभाव और अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणारूढ हुआ है इसलिये अधिक की आवश्यकता नहीं। यह निश्चित होता है—रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में भासमान होकर असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकार होता है। सहेव इति। 'इव' शब्द के क्रम के विद्यमान रहते हुये भी असंल्लक्ष्यता की व्याख्या की गई है। 'वाच्येन' का अर्थ है विभाव अनुभाव इत्यादि के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

रत्नावली में वत्सराज उदयन ने विदूषक के साथ वाटिका-विहार के अवसर पर एक चित्र-फलक प्राप्त किया है। इसी चित्र फलक में रत्नावली का चित्र बना हुआ है। इसी चित्र को देखकर वत्सराज विदूषक से कह रहे हैं :—

'मेरी दृष्टि—एक तृषित रमणी के समान—कठिनाई से इसके दोनों ऊरुओं को पार कर गई, बड़ी देर तक नितम्बस्थल पर घूमती रही, त्रिवली रूप तरङ्गों के कारण विषम भाग में बिल्कुल स्थिर होकर रह गई! इस समय (तृषित रमणी के समान मेरी दृष्टि) धीरे-धीरे ऊँचे स्तनों पर चढ़कर जलकणों (आँसुओं) को बहानेवाले नेत्रों को उत्कण्ठा पूर्वक देख रही है।'

(जिस प्रकार कोई प्यासी स्त्री किसी वन में घूमती रहे, विषम और ऊँचे नीचे प्रदेशों को बड़ी कठिनाई से पार कर जावे और अन्त में किसी ऊँचे पहाड़ी टीले पर चढ़कर किसी जलप्रवाह को उत्कण्ठा के साथ देखने लगे यही दशा राजा की दृष्टि की भी हुई। यहाँपर ऊरुओं और नितम्बों की विशालता, मध्य की कृशता, स्तनों की ऊँचाई से सौन्दर्य का आधिक्य और अश्रुओं के कारण नायिका की वियोगव्यथा अभिव्यक्त होती है।)

यहाँ पर रत्नावली आलम्बन है, चित्रदर्शन उद्दीपन है। दृष्टि स्तम्भ इत्यादि अनुभाव और

ध्वन्यालोकः

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विविक्तो विषय इति प्रदर्श्यते—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ ४॥

(अनु०) अब यहाँ पर यह बतलाया जा रहा है कि रसवत् इत्यादि अलङ्कार की अपेक्षा असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि किस प्रकार भिन्न है।

'जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान हो और विभिन्न प्रकार के वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) तथा उन दोनों की चारुता में हेतु (गुण और अलङ्कार) उन रस इत्यादि का ही अनुसरण करनेवाले हों तथा उन्हीं के अधीन हों वह ध्वनि का विषय माना जाता है' ॥ ४॥

लोचन

नन्वङ्गित्वेनावभासमान इत्युच्यते तत्राङ्गत्वमपि किमस्ति रसादेर्येन तन्निराकरणायैतद्विशेषणमित्यभिप्रायेणोपक्रमते—इदानीमित्यादिना।

(प्रश्न) अङ्गित्व के रूप में अवभासमान यह कहा जाता है। उसमें क्या रस इत्यादि अङ्गत्व भी होता है जिसके निराकरण के लिये यह विशेषण हैं? इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—इदानीं इत्यादि के द्वारा।

तारावती

औत्सुक्य इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर रत्नावली तथा उदयन दोनों में परस्पर-आस्थाबन्ध को प्राप्त होनेवाली रति ही स्थायीभाव के रूप में चर्वणा में कारण होती है। आशय यह है कि राजा जिस चित्रफलक को देख रहे हैं उसमें रत्नावली का चित्र बना हुआ है। उसकी आँखों में आँसू भरे हुये हैं। इससे रत्नावली का राजा के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। यह चित्र-फलक राजा की अपनी प्रतिकृति से भी पवित्र है। (भावावेश में भरकर रत्नावली ने एकान्त स्थान पर जाकर उदयन का चित्र बनाया था जिसको छिपकर उसकी अन्तरङ्गिणी सखी ने देख लिया और उस चित्र के पास ही उस का भी चित्र बना दिया। वह चित्र सम्भ्रम के कारण वहीं छूट गया और संयोगवश राजा के हाथ में पड़ गया। राजा उस चित्र को देख रहे हैं और उसका वर्णन विदूषक से कर रहे हैं।) यहाँ पर उस चित्र फलक के अवलोकन से वत्सराज का आस्थाबन्ध उभयनिष्ठ हैं। अतः यह रतिभाव विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से चर्वणा की पदवी पर आरूढ़ हुआ हैं। (अतः सच्चे अर्थ में यही रस है। अधिक कहने की क्या आवश्यकता?) उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में प्रकाशित होकर असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि का प्रकार कहलाते हैं। वृत्तिकार ने उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करते हुए लिखा है—'रस इत्यादि अर्थ मानों वाच्य के साथ अवभासित होते हैं और वे अङ्गी के रूप में अवभासित होकर ध्वनि की आत्मा बनते हैं।' इस वाक्य में

लोचन

अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः। अनया च भङ्ग्या रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति । पूर्वं समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम् । वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्चेति द्वन्द्वः। वृत्तावपि शब्दाश्चालङ्काराश्चार्थालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः । मत इति। पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः।

आशय यह है कि रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि और समाहित इन अलङ्कारों की रूपता में रस इत्यादि का अङ्गत्व भी होता है। कथन की इस भङ्गिमा से रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस इत्यादि की ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता यह सूचित करते हैं। पहले निस्सन्देह समासोक्ति इत्यादि में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता यह दिखलाया गया। वाच्य, वाचक और उनकी चारुता में हेतु यह द्वन्द्व है। वृत्ति में भी शब्द और शब्दालङ्कार, अर्थ और अर्थालङ्कार यह द्वन्द्व है। मतः इति अर्थात् यह पहले ही कह दिया गया।

तारावती

'मानों' का आशय यह है कि क्रम विद्यमान तो रहता है किन्तु लक्षित नहीं होता। 'वाच्य के साथ में' का अर्थ है विभाव इत्यादि के साथ में ॥ ३ ॥

(प्रश्न) तृतीयकारिका की व्याख्या में जो यह कहा गया था कि—'जब रस इत्यादि अङ्गी के रूप में अवभासित होते हैं तभी वे ध्वनि का रूप धारण करते हैं।' तो क्या ऐसा भी कोई स्थान होता है जहाँ पर रस इत्यादि अभिव्यक्त होते हुए भी अङ्गी के पद पर आरूढ़ न हों? क्योंकि जब रस इत्यादि की अप्रधानता का कोई स्थान प्राप्त हो जावे तभी उसके निराकरण के लिये रस इत्यादि का यह विशेषण (अङ्गी के रूप में अवभासित होना) प्रयोजनीय हो सकता है। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत कारिका (चतुर्थ कारिका) लिखी गई है। इसीलिये इस कारिका की व्याख्या का उपक्रम करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है—'अब रसवत् अलङ्कार इत्यादि की अपेक्षा ध्वनि का विषय भिन्न होता है यह बतलाया जा रहा है।' आशय यह है कि जब रस इत्यादि अभिव्यक्त होकर अलङ्काररूपता को धारण कर लेते हैं तब रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार कहे जाते हैं। इस रूप में कारिकाकार ने यह सिद्ध कर दिया कि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस इत्यादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता। पहले (प्रथम उद्योत में) यह दिखलाया था कि समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारों में वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता। (यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि रसध्वनि का विषय रसवत् इत्यादि अलङ्कारों से सर्वथा पृथक् होता है।) 'वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां' शब्दमें द्वन्द्व समास है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी वाच्य और वाचक तथा उनकी चारुता में हेतु। इस शब्द की व्याख्या करते हुये वृत्ति में लिखा है—'शब्दार्थालङ्काराः' इसमें भी द्वन्द्व है।

लोचन

ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता सीतायाः। सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्? न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः? नचोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते। अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रतीतिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः किन्त्व-

(प्रश्न) भट्टनायक ने कहा है—'रस जब परगत रूप में प्रतीतिगोचर होता है तब (उसमें) तटस्थता ही होगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि राम इत्यादिके चरितमय काव्य से वह स्वगत के रूप में प्रतीत होता है। आत्मगत रूप में प्रतीति मानने पर अपने अन्दर रस की उत्पत्ति ही मानी हुई होगी। सीता की वह बात (सीता के प्रति सामाजिकों में रति की उत्पत्ति) अनुचित है क्योंकि (सीता) सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं हो सकतीं। यदि कहो कि साधारण कान्तात्व वासना के विकास में हेतु विभावरूपता में प्रयोजक होता है तो देवता इत्यादि के वर्णन में वह भी कैसे हो सकता है? यह भी नहीं कह सकते कि मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण अनुभव का विषय बन जाता है। अलोकसामान्य राम इत्यादि के जो समुद्र सेतुबन्धन इत्यादि विभाव हैं वे किस प्रकार साधारणता को प्राप्त हो सकते हैं? उत्साहादिमान् राम का स्मरण कर लिया जाता है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि (राम का) अनुभव नहीं किया गया है। शब्द से भी उसकी प्रतिपत्ति में रसोत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे प्रत्यक्ष रूपमें नायक मिथुन की प्रतिपत्ति में (रसोपजनन नहीं हो सकता)। उत्पत्ति पक्ष में करुणा के उत्पन्न होने से दुःखित्व होने पर करुण रस प्रधान नाट्यों में पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये न उत्पत्ति है और नहीं ही अभिव्यक्ति। शक्तिरूप (सूक्ष्म वासना रूप) शृङ्गार की अभिव्यक्ति में विषयार्जन के तारतम्य की ओर प्रवृत्ति हो जावेगी। उसमें भी क्या स्वगत रस अभिव्यक्त होता है या परगत, यह पहले के समान ही दोष है। अतः काव्य से रस न प्रतीत होता है, न

तारावती

इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—शब्द तथा अलङ्कार और अर्थ तथा अलङ्कार। 'कारिका में लिखा है—वह ध्वनि का विषय माना गया है' इस वाक्य में 'माना गया है' का अर्थ है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

लोचन

न्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य—व्यंशताप्रसादात् । तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम् । भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंशभूताः व्यापाराः । तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः ? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम् । श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम् ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः । यद्वशादभिधा विलक्षणैव । तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम । भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति । व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति ।

उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। किन्तु तीन अंशरूपता की कृपा से काव्यात्मक शब्दों का अन्य शब्दों से वैलक्षण्य होता है। उसमें अभिधायकत्व तो वाच्य विषयक होता है, भावकत्व रस इत्यादि विषयक और भोगकृत्व सहृदय विषयक, इस प्रकार अंशभूत तीन व्यापार होते हैं। उसमें यदि अभिधाभाग शुद्ध (इतर व्यापारानालिङ्गित) हो तो तन्त्र इत्यादि शास्त्र न्यायों से श्लेष इत्यादि अलंकारों का क्या भेद हो ? और वृत्ति भेद वैचित्र्य भी अकिञ्चित्कर (हो जावे)। श्रुतिदुष्ट इत्यादि का वर्जन भी किसलिये हो ? इसलिये रसभावना नामक दूसरा व्यापार होता है जिसके वश में अभिधा विलक्षण ही (प्रतीत होती है)। काव्य का रसों के प्रति जो यह भावकत्व वह विभाव इत्यादि का साधारणता सम्पादन नहीं है। भावितरस में जो उसका भोग वह अनुभव स्मरण इत्यादि प्रतिपत्तियों से विलक्षण ही द्रुतिविस्तार-विकासात्मक (होता है ? जिसमें) रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्वमय अपने चित्स्वभावरूप लोकोत्तरानन्दमय विश्रान्तिलक्षणवाला परब्रह्मास्वाद के समकक्ष होता है। वही प्रधानीभूत अंश सिद्धरूप होता है। व्युत्पत्ति तो अप्रधान ही होती है।' यह (भट्टनायक ने कहा है)।

तारावती

इस विषय में भट्टनायक ने लिखा है—नाटक में रसानुभव में तीन व्यक्तित्व होते हैं—(१) जिनका अनुकरण किया जाता है जैसे राम इत्यादि। इन्हें अनुकार्य कहते हैं। (२) अनुकरण करनेवाला नट इत्यादि और (३) आस्वाद लेनेवाला सामाजिक। यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामाजिक जिस रस का आस्वादन करता है वह रस उस सामाजिक से ही सम्बन्ध रखता है या अन्य (नट या अनुकार्य) से ? यदि रस परगत होता है अर्थात् उसका सम्बन्ध सामाजिक से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति (नट या अनुकार्य) से होता है तो सामाजिक तो एक तटस्थ व्यक्ति हो गया। वह अपने से सम्बन्ध न रखनेवाले रस का आस्वादन ही क्यों करेगा ? यदि रस स्वगत माना जावे अर्थात् रस की अवस्थिति सामाजिक में ही मानी

तारावती

जावे और राम इत्यादि के चरित्र का अभिनय इत्यादि उस रसास्वादन का प्रवर्तक माना जावे तो इसका आशय यही होगा कि सामाजिक में रस की उत्पत्ति हुई है। अब मान लीजिये रङ्गमञ्च पर राम और सीता के प्रेम का अभिनय हो रहा है। उस अवस्था में सामाजिक के हृदय में सीता के प्रति रति जागृत हो ही कैसे सकती है ? सीता जैसी जगत्पूज्य नायिकाओं के प्रति वासना का उद्‌बोध सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि सीता राम के ही प्रेम का आलम्बन है, वे सामाजिक के प्रेम का आलम्बन हो ही कैसे सकती हैं ? अभिनय या काव्य परिशलीन सीता से व्यक्तित्व अंश को पृथक् कर देता है और सीता सीता न रहकर सामान्य कान्ता बन जाती हैं। यही सर्वसाधारणत्व की भावना सामाजिकों की वासना के विकास में हेतु विभावरूपता की प्रयोजक होती है। आशय यह है कि वासना विकास एक कार्य है और उसका कारण है कान्ता का प्रत्यक्षीकरण। सीता के अन्दर से सीतास्वरूप व्यक्तित्व अंश के पृथक् हो जाने से तथा सर्व-साधारण कान्तात्व की प्रतीति होने के कारण सामाजिकों में रसवासना का उद्बोध हो जाता है' यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि देवता इत्यादि पूज्यों के प्रति कान्ता-बुद्धि हो ही नहीं सकती। यह भी नही कहा जा सकता कि मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण हो आता है इसलिये रसास्वादन होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सर्व-साधारण की शक्ति का विषय कभी हो ही नहीं सकते। जैसे समुद्र पर पुल बाँधना, समुद्र को लाँघना इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनको अपनी शक्ति से सम्पन्न करने की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। वे कार्य हमें अपने उत्साह इत्यादि का स्मरण कैसे करा सकते हैं और हमारे उत्साह इत्यादि के उद्बोधक कैसे हो सकते हैं। निस्सन्देह ये कार्य सर्व-साधारण की वस्तु हो ही नहीं सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य इत्यादि के अध्ययन से उत्साह इत्यादि से युक्त राम इत्यादि का स्मरण हो आता है जोकि रसास्वादन में कारण हो जाता है। स्मरण उसी का होता है जिसका पहले अनुभव किया हो। राम इत्यादि का पहले कभी अनुभव नही किया था, अतएव सामाजिक को उनका स्मरण हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार दो प्रेमियों को एक साथ देखकर रतिभाव का आस्वादन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शब्द के द्वारा राम इत्यादि के उत्साह इत्यादि की प्रतिपत्ति होने पर भी रसास्वादन नहीं हो सकता। रस उत्पन्न होता है यह भी नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि करुण रस की उत्पत्ति हो और उससे सामाजिकों को दुःख हो तो उसको पढ़ने में कौन प्रवृत्त होगा ? दुःख में कोई पड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती और न अभिव्यक्ति ही मानी जा सकती है। (अभिव्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की होती हैं जो पहले से विद्यमान हो और प्रकाश इत्यादि के द्वारा वह प्रकट कर दी जावे। जैसे अन्धेरे में रक्खे हुये घड़े को दीपक का प्रकाश अभिव्यक्त कर देता है।) रस की अभिव्यक्ति तभी मानी जा सकती है जब रस सामाजिकों के अन्तःकरणों में पहले से विद्यमान मान लिया जावे और अभिव्यक्ति काव्य

तारावती

परिशीलन के द्वारा मानी जावे। किन्तु इसमें भी यह दोष है कि शक्ति अर्थात् वासनारूप में स्थित विषय के उपार्जन में सामाजिकों की प्रवृत्ति का तारतम्य अधिकाधिक रूप में प्रकट होने लगेगा। (आशय यह है कि यदि घड़ा अन्धकार में रक्खा हो तो उसको देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। यदि प्रकाश मन्द हो तो घड़ा उतना स्पष्ट दिखलाई नहीं देगा। घड़े को अधिकाधिक स्पष्टता देने के लिए प्रकाश की मात्रा का अधिकाधिक बढ़ाना वाञ्छनीय होता है। इसी प्रकार काव्यरसास्वादन भी उसी को होगा जिसने अधिक से अधिक विषयों का सेवन किया होगा। अतएव काव्यरसास्वादन की मात्रा बढ़ाने के लिये सामाजिक लोग विषयों का सेवन करने की ओर अधिक से अधिक आकृष्ट होने लगेंगे और काव्य विषय वासनाओं को बढ़ाने का एक माध्यम हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि यह मान लेने पर भी इस प्रश्न का कोई उचित समाधान नहीं किया जा सकता कि रस की स्थिति स्वगत होती है अथवा परगत। इस प्रकार काव्य से रस न तो प्रतीत होता है और न अभिव्यक्त ही होता है। किन्तु मानना पड़ेगा कि काव्य के शब्दों में अन्य शब्दों से यही विलक्षणता होती है कि काव्य के शब्दों में तीन अंशों का सम्बन्ध होता है। वे तीन अंश वृत्तियाँ हैं—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधायकत्ववृत्ति का पर्यवसान वाच्यार्थ में होता है। रस इत्यादि के विषय में भावकत्ववृत्ति मानी जाती है और सहृदयों के विषय में भोजकत्ववृत्ति से काम लिया जाता है। काव्य में यही तीन अंशभूत व्यापार होते हैं। उनमें यदि शुद्धरूप में अभिधा-व्यापार को ही काव्य में प्रयोजनीय मानें और उसका संसर्ग भावकत्व और भोजकत्व इन दो पृथक् वृत्तियों से स्वीकार न करें तो तन्त्र इत्यादि अन्य शास्त्रीय न्यायों से काव्य का क्या भेद रह जावे? (आशय यह है कि दूसरे शास्त्रों में भी एक शब्द के कभी-कभी कई-कई अर्थ ले लिये जाते हैं और उसके लिये वे लोग तन्त्र, एकशेष इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। काव्य में भी एक शब्द के कभी-कभी कई अर्थ ले लिये जाते हैं और उसके लिये श्लेष शब्द का प्रयोग होता है। फिर अन्यशास्त्रों से काव्य के शब्दों में विलक्षणता क्या रही? यदि कोई विलक्षणता हो सकती है तो यही कि काव्य में अभिधा से भिन्न भावकत्व नाम की वृत्तियाँ स्वीकार की जावें। अन्यथा काव्य में भी तन्त्र इत्यादि से ही काम चलाया जा सकता है। श्लेष इत्यादि मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।) यदि केवल अभिधावृत्ति ही स्वीकार की जावे तो काव्य में उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों की कल्पना ही व्यर्थ हो जावे। (उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ स्वसामर्थ्य से रसास्वादन में कारण होती हैं। यदि केवल अभिधावृत्ति ही मानी जावेगी तो शब्द का वाच्यार्थ मात्र गृहीत होगा, उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों का क्या उपयोग रह जावेगा?) कर्णकटु इत्यादि दोष भी तभी सार्थक माने जाते हैं जब काव्य में अभिधा से भिन्न वृत्तियाँ गृहीत होती हैं। यदि केवल अभिधायकत्ववृत्ति ही मानी जावेगी तो श्रुतिकटु इत्यादि दोषों का मानना भी व्यर्थ हो जावेगा। अतएव अभिधायकत्ववृत्ति से

तारावती

भिन्न भावकत्व नाम की एक दूसरी वृत्ति का मानना अनिवार्य हो जाता है। यही वह वृत्ति है जिसके कारण अन्य शास्त्रों के अभिधेयार्थों से काव्य के अभिधेयार्थ में भिन्नता होती है और उसी के कारण काव्यगत अभिधेयार्थ विलक्षण प्रकार का प्रतीत होता है। इस भावकत्व वृत्ति का यही काम है कि काव्य में आनेवाले जितने भी विभाव इत्यादि होते हैं उनके अन्दर से व्यक्तित्व अंश को हटाकर उसमें साधारणीकरण कर दिया जाता है; अर्थात् उस समय उस भावकत्व वृत्ति के प्रभाव से सीता इत्यादि से विशिष्ट व्यक्तित्व अंश निकल जाता है और सीता इत्यादि एक साधारण प्रेयसी का रूप धारण कर लेती हैं जिससे उनमें सामाजिकों के रसास्वादन के प्रयोजक बनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। जब उन विभावादि रसके अङ्गों का साधारणीकरण हो जाता है और वे आस्वाद के योग्य बन जाते हैं तब सामाजिक लोग तीसरी भोजकत्ववृत्ति के प्रभाव से उस रस का भोग (चर्वणा या आस्वादन) करते हैं। यह भोग स्मरण अनुभव इत्यादि सब प्रकार की लौकिक प्रतिपत्तियों से भिन्न होता है। सामाजिकों की चित्तवृत्ति उस रसास्वादन काल में कभी-कभी द्रवित हो जाती हैं, कभी-कभी उनका विस्तार होता है और कभी-कभी उनका विकास हो जाता है। यह आस्वाद उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का ब्रह्मानन्द हुआ करता है। अथवा योगी को मधुमती भूमिका में प्राप्त हुआ करता है। वह आस्वाद शुद्ध सत्त्व गुण से परिपूर्ण होता है जिसमें हम यह भूल जाते हैं कि अमुक वस्तु हमारी ही है या दूसरे की ही अथवा हमारी नहीं है या दूसरे की नहीं है। (आशय यह है कि लोक में हम दूसरों के सुख-दुःख इसलिये नहीं समझ पाते कि हमारी चित्तवृत्तियाँ संकुचित होती हैं। हम उनमें अपनी आत्मा के व्यापकत्व का अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु रसास्वादन के अवसर पर इस भोजकत्व वृत्ति के प्रभाव से हमारी चित्तवृत्तियों में सत्त्व का उद्रेक हो जाता है और हम संसार के साथ अपनी चित्तवृत्तियों को एकाकाररूपता में परिणत कर देते हैं जिससे हमें काव्य या नाट्य में ये क्रियायें आनन्द देने लगती हैं जिनको पराया समझकर लोक में हम तटस्थ बने रहते हैं।) उस सत्त्व के उद्रेक में रजोगुण और तमोगुण की विचित्रतायें भी सम्मिलित रहती हैं किन्तु प्रधान सत्ता सत्त्व की ही रहती है। अपनी सत्ता के द्वारा उस समय हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिसमें संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में ही हो जाता है। (रजोगुण के प्रभाव से हमारी आत्मा में द्रुति उत्पन्न हो जाती है, तमोगुण से विस्तार हो जाता है और सत्त्वगुण के प्रभाव से उसका विकास हो जाता है।) वह रस चैतन्य चित्तवृत्तिस्वरूप होता है। वही प्रधान अंश होता है! चित्तवृत्तियाँ सिद्ध होती हैं अतः रस भी सिद्ध ही कहा जाता है। उस रसास्वादन के लिये पाठकों को जिस प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है वह अप्रधान होती है। रस सर्वदा सिद्धरूप ही माना जाता है। यह है श्री भट्टनायक का सिद्धान्त।

लोचन

अत्रोच्यते—रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथाहि—पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः। विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्। सामाजिकगते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नियतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोजनस्य विशिष्टताप्रतीतौ ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

यहाँ पर (उत्तर के रूप में) कहा जा रहा है—पहले तो रसस्वरूप में ही विरोधियों की विप्रतिपत्तियाँ हैं। वह इस प्रकार—पूर्वावस्था में जो स्थायी वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्यगत ही रस होता है। नाट्य में तो प्रयुक्त होने के कारण नाट्यरस यह कुछ लोग (कहते हैं)। प्रवाहधर्मिणी चित्तवृत्तियों में (एक) चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष का क्या अर्थ? विस्मय शोक क्रोध इत्यादि का तो क्रमशः परिपोष नहीं होता अतः अनुकार्यगत रस नहीं (हो सकता।) अनुकर्ता (नट) में उसके मानने पर लय इत्यादि का अनुसरण नहीं होगा। सामाजिकगत मानने में चमत्कार ही क्या? प्रत्युत करुण इत्यादि में दुःख की प्राप्ति होगी। अतः यह पक्ष नहीं है। तो क्या है? यहाँ पर अनन्त होने के कारण नियत का अनुकरण नहीं किया जा सकता। निष्प्रयोजन भी है क्योंकि विशिष्टता की प्रतीति में तटस्थ के रूप में (चतुर्वर्गोपाय रूप) व्युत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

तारावती

इस विषय में मुझे (श्री अभिनव गुप्त को) यह कहना है कि रसस्वरूप के निरूपण में ही विरोधियों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। (सर्वप्रथम भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को ले लीजिये—इस सिद्धान्त के अनुसार रस की उत्पत्ति अनुकार्य (वास्तविक राम) में ही होती है। ललना इत्यादि आलम्बन विभाव इस उत्पत्ति में कारण होते हैं। उद्दीपन विभाव इसे उद्दीप्त करते हैं। कटाक्ष इत्यादि अनुभाव इसके कार्य हैं क्योंकि इन्हीं कटाक्ष इत्यादि के द्वारा रस की सत्ता प्रतीति के योग्य होती है और निर्वेदादि व्यभिचारीभाव इस रस के सहचर होते हैं। इनके द्वारा रस का परिपोष होता है। इस प्रकार यह रस वास्तविक अनुकार्य राम में ही उत्पन्न होता है। उसका अनुकरण रङ्गमञ्च पर नट भी करता है। अतएव नट में भी वास्तविक राम के रूप का आरोप कर लिया जाता है। अतएव नट में भी रस प्रतीत होता है। यह भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद है। इसके अनुसार रस की अपरिपुष्ट और अविकसित अवस्था में रति इत्यादि स्थायी भाव होते हैं वे ही व्यभिचारीभाव इत्यादि के सम्मिश्रण से परिपोष को प्राप्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं और यह रस वास्तविक राम में ही उत्पन्न होता है।) नाट्य में इसका प्रयोग होता है इसीलिए इसे नाट्यरस की संज्ञा प्रदान की जाती है। (यह है भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का सार) अब इस सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा कर लीजिये—इसमें कहा

तारावती

गया है कि स्थायी भाव का व्यभिचारीभाव के द्वारा परिपोष होता है। स्थायीभाव एक प्रकार की चित्तवृत्ति हैं और सञ्चारीभाव भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति सर्वदा प्रवाहधर्मिणी होती है अर्थात् एक चित्तवृत्ति का उदय और अस्त होता रहता है। अतएव एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति के द्वारा परिपोष किस प्रकार को सकता है ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक चित्तवृत्ति का निरन्तर बना रहना कालान्तर में उसे परिपुष्ट कर देता है। देखा जाता है कि चित्तवृत्ति का सर्वदा ह्रास ही होता है विकास कभी नहीं होता। विस्मय शोक क्रोध इत्यादि भावनायें जितनी तीव्रता के साथ हमारे अन्तःकरणों में उत्पन्न होती हैं उतनी तीव्रता निरन्तर बनी नहीं रहती। धीरे-धीरे ये भावनायें शान्त होती जाती हैं। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक राम में रस की उत्पत्ति होती हैं। जिस प्रकार रस अनुकार्य-गत नहीं माना जा सकता उसी प्रकार अनुकर्तृगत (नटगत) भी नहीं माना जा सकता। यदि नट में रस की सत्ता सिद्ध रूप में मान ली जाये तो फिर उसके परिपोष के लिये लय इत्यादि के अनुसरण की आवश्यता ही क्या पड़े ? इसीप्रकार रस सामाजिक-गत भी नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि रस सामाजिक की चित्तवृत्ति में पहले ही से विद्यमान हो तो उसे आनन्द ही किस बात में आवे ? उदाहरण के लिए करुण रस का स्थाथीभाव शोक है। यदि रस शोक की सत्ता सामाजिक की चित्तवृत्ति में पहले से ही सिद्ध रूप में उपस्थित है तो सामाजिक को शोक का ही अनुभव होना चाहिये। उसे उस शोक में आनन्द का अनुभव नहीं होना चाहिये। ऐसी दशा में उस करुणरसमय अभिनय को देखने के लिये किसी की प्रवृत्ति ही क्यों होगी ! वस्तुतः करुण रस के परिशीलन में भी ब्रह्मानन्द-सहोदर एक अनिर्वच-नीय रस का आस्वादन किया जाता है। शोकाश्रुओं में भी सहृदयों को अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिकों में सिद्धरूप में रस विद्य-मान रहता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि नट राम इत्यादिकों रति इत्यादि भावनाओं का अनुकरण करता है। एक ही रति इत्यादि भावना विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की होती है। किसी में वह भावना मन्द होती है किसी में मन्दतर होती है और किसी में मन्दतम होती है। दूसरे व्यक्ति में उसका परिमाण दूसरे प्रकार का होता है। इस प्रकार जब भावनाओं की सर्वत्र एकरूपता होती ही नहीं तब निश्चित एक विशेष अवस्थावाली किसी भावना का कोई दूसरा व्यक्ति अनुकरण कर ही कैसे सकता है। दूसरी बात यह है कि कोई उसका अनुकरण करने में सफल भी हो जावे तो भी उसका उपयोग क्या होगा। जब कि दर्शक यह समझ ही जावेगा कि नट राम इत्यादि व्यक्ति-विशेष की भावना का अनुकरण मात्र कर रहा है। वस्तुतः नट के अन्दर वह भावना है ही नहीं, तो फिर असत्य का प्रतिभास हो जाने से उनमें आस्वाद की उत्पत्ति हो ही किस प्रकार सकेगी। और उन्हें चतुर्वर्गफल प्राप्ति भी किस प्रकार हो सकेगी ? इस प्रकार यह पक्ष किसी प्रकार भी समीचीन नहीं जान पड़ता।

लोचन

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किन्त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः नानुकार्यादिष्विति केचित्।

अतएव अनियत अवस्थावाले स्थायीभाव के उद्देश्य से संयुक्त होनेवाले विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के द्वारा 'यह राम सुखी है' इस स्मृति से विलक्षण, स्थायी में प्रतीतिगोचर होनेवाली आस्वादरूपिणी प्रतिपत्ति (जब) अनुकर्ता का अवलम्ब लेकर केवल नाट्यगामिनी (होती है) (तब उसे) रस (कहते हैं)। वह व्यतिरिक्त आधार की अपेक्षा नहीं करती। किन्तु अनुकार्य से अभिन्नरूप में अभिमत नर्तक में आस्वाद लेनेवाला सामाजिक ही होता है। वस यह इतना ही है। इसलिये नाट्य में ही रस होता है अनुकार्य इत्यादि में नहीं, यह कुछ लोग कहते हैं।

तारावती

अतएव रस की प्रक्रिया इस प्रकार होगी कि जब विभाव-अनुभाव और सञ्चारीभावों का एक ऐसे स्थायी भाव से सम्बन्ध होता है जिसमें न तो कोई अवस्था ही नियत होती है और न उसमें किसी व्यक्ति का सम्बन्ध ही होता है उस समय सामाजिक लोग उस रति इत्यादि भाव का अनुमान लगा लेते हैं। (यह अनुमान नट में ही लगाया जाता है और नट को ही लोग चित्रतुरग-न्याय से वास्तबिक राम समझ लेते हैं। नट में अनुमान इस प्रकार लगाया जाता है कि यह राम सुखी है। इस प्रतीति का समावेश स्मृति में नहीं हो सकता क्योंकि स्मृति की अपेक्षा इसमें एक प्रकार की विलक्षणता होती है। अब चूंकि अभिनय इत्यादि वस्तु के सौन्दर्य के कारण रति इत्यादि स्थायी भाध ही प्रतीतिगोचर होते हैं अतएव उनके विषय में लगाई हुई अनुमिति भी आस्वाद को प्रकट करने वाली हो जाती है। इसी आस्वादमयी प्रतीति को रस कहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि नट की सत्ता सर्वदा अनुकरण करनेवाले नट में ही होती है और वह सर्वदा नाट्य में ही विद्यमान रहती है। उस रस के अनुमान के लिये किसी अतिरिक्त आधार की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अनुकार्य (राम इत्यादि से) अभिन्न रूप में स्वीकृत नट में सामाजिक ही उस रस का आस्वादन करता है। बस इस रसनिष्पत्ति के लिये इतनी ही सामग्री अपेक्षित है। अतएव नाट्य में ही रस माना जाता है, अनुकार्य इत्यादि में रस नहीं माना जाता। (क्योंकि उक्त रीति से रस नटाश्रित ही होता है) अतः नाट्य में ही रस मानना ठीक है। इसलिये नाट्यरस यह संज्ञा चरितार्थ होती है। यह है कुछ लोगों का (शंकुक इत्यादि का) मत।

दूसरे आचार्यों का कहना है—'जिस प्रकार भित्ति पर हरताल इत्यादि से अश्व का

लोचन

अन्ये तु अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीतास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः। अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्र्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणाविशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेव रसाः। अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम् अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

दूसरे लोग तो (यह कहते हैं)—अनुकर्ता में जो अभिनय इत्यादि सामग्री से उत्पन्न किया हुआ स्थायी का अवभास (होता है) जैसा कि भित्ति पर हरिताल इत्यादि के द्वारा अश्व का अवभास होता है वही लोकातीत होने के कारण आस्वाद इस दूसरी संज्ञावाली प्रतीति से आस्वादगोचर होनेवाला रस होता है; इस प्रकार नाट्य से रस होने के कारण नाट्यरस (कहलाता है)। फिर दूसरे लोग (कहते हैं) विभाव और अनुभावमात्र ही विशिष्ट सामग्री से समर्पित किये जाते हुये उसके द्वारा विभावित तथा अनुभावित की जानेवाली स्थायी चित्तवृत्ति के अनुकूल वासना से अनुषक्त होकर अपनी (सहृदय की) निर्वृति रूप विशिष्ट प्रकार की चर्वणा ही रस होती है। उनका नाट्य (अभिनय) ही रस होता है। अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग केवल स्थायी को, और लोग व्यभिचारी को, अन्य लोग उनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्य को, कुछ लोग समस्त समुदाय को रस कहते हैं। बस अधिक कहने की क्या आवश्यकता?

तारावती

चित्र बना दिया जाता है और उस चित्र में अश्व का अवभास होने लगता है उसी प्रकार अभिनय इत्यादि सामग्री के सहकार से अनुकरण करनेवाले नट में स्थायी भाव का अवभास होने लगता है। यह एक ऐसी प्रतीति होती है जिसकी तुलना लोक में होनेवाली किसी भी प्रतीति से नहीं हो सकती। अतएव इस प्रतीति में एक प्रकार का आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रतीति का दूसरा नाम आस्वाद भी हो जाता है। इस रसन या अस्वादन को रस कहते हैं। यह रसन या अस्वादन नाट्य से होता है अतः इसे नाट्यरस कहते हैं। दूसरे लोगों का कहना है कि जब सामाजिकों के प्रति विभाव और अनुभाव नाट्य की विशिष्ट सामग्री के द्वारा समर्पित किये जाते हैं तब उन विभावादिकों को जिस स्थायी चित्तवृत्ति का विभावन और अनुभावन करना अभीष्ट होता है उस स्थायी चित्तवृत्ति की उपयुक्त वासना से संवलित होकर वे ही विभाव और अनुभाव रस कहे जाते हैं, जिनमें (अन्तरात्मा को बाह्य जगत् से विमुख करते हुये) स्वमात्र विश्रान्त निर्वृति के साथ आनन्द का अनुभव किया जाता है। उसी नाट्य को रस कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि शुद्ध विभाव ही रस

लोचन

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति-वक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक-प्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र-नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः, उपायवैलक्षण्यादियमेव तावदत्र सरणिः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादि विकल्पेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। रसाः प्रतीयन्त इति तु ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतेरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी के स्थानवाले काव्य में भी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो प्रकारों से अलौकिक प्रसन्न मधुर और ओजस्वी शब्दों से समर्पित किये जानेवाले विभाव इत्यादि के योग से यही रस की वार्ता है। अथवा यहाँ पर नाट्य से विलक्षण रूपवाली रसप्रतीति हो; उपाय की विलक्षणता से यही (आगे कही जानेवाली) पद्धति (ठीक है)। ऐसी स्थिति में प्रथमपक्षमें ही प्रतीति के स्व-परगत इत्यादि विकल्प के द्वारा ये दोष हैं। सभी पक्षों में रस की प्रतीति अपरिहार्य है। अप्रतीत निस्सन्देह पिशाच के समान अव्यवहार्य हो जावेगा। किन्तु जिस प्रकार केवल प्रतीति को लेकर अविशिष्ट होते हुये भी प्रत्यक्षकृत, आनुमानिक, आगमोत्थ, प्रतिभाजन्य, योगिप्रत्यक्षजन्य प्रतीतियाँ अन्य ही होती हैं उसी प्रकार यह प्रतीति भी चर्वणा आस्वादन भोग इन दूसरे नामोंवाली हो जावे। क्योंकि उनके निदानभूत हृदयसंवाद इत्यादि से उपकृत विभाव इत्यादि सामग्री लोकोत्तर रूप होती है। रस प्रतीत होते हैं यह तो ओदन पकाता है के समान व्यवहार होता है। प्रतीयमान ही रस होता है। प्रतीति ही विशिष्ट आस्वादन है। वह तो नाट्य में लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होता है और उसकी प्रमुख रूप में उपाय के रूप में अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य में अन्य शब्द प्रतीति से विलक्षण और उसकी प्रधान रूप में उपाय के रूप में अपेक्षा करती है।

तारावती

होता है, दूसरे लोग कहते हैं कि शुद्ध अनुभाव ही रस कहा जाता है, कुछ लोग कहते हैं केवल स्थायी भाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं व्यभिचारी भाव ही रस होता है, और लोग इन सबके संयोग को रस मानते हैं। कुछ लोग अनुकार्य (वास्तविक राम इत्यादि) को ही रस कहते हैं और कुछ लोग समस्त समुदाय को रस मानते है। अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता, सारांश यह है कि विचारकों में रस के विषय में ऐकमत्य है ही नहीं।

तारावती

जो बात नाट्यरस के विषय में कही जाती है वही काव्यरस के विषय में भी कही जा सकती है जिस प्रकार नाट्य में दो प्रकार का अभिनय होता है—लोकधर्मी और नाट्धर्मी। कुछ अभिनय ऐसा होता है जो लोक व्यवहार के अत्यन्त सन्निकट पड़ता है उसे लोकधर्मी अभिनय कहते हैं, दूसरे प्रकार का अभिनय ऐसा होता है जो लोक-व्यवहार में नित्यप्रति नहीं आता जैसे स्वर अलङ्कार इत्यादि—उसी प्रकार काव्य भी दो प्रकार का होता है स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इन दोनों प्रकारों का आश्रय लेकर प्रसाद माधुर्य और ओज गुणों से परिपूर्ण अलौकिक शब्दों के द्वारा काव्य में भी पाठकों को विभाव इत्यादि का समर्पण किया जाता है। अतएव उनके संयोग से काव्यरस के क्षेत्र में भी वही जटिलता उत्पन्न हो जाती है। अथवा यही मान लो कि काव्यरस, नाट्यरस की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का होता है। उपायों की विलक्षणता के कारण जिस रस प्रक्रिया का उल्लेख किया जावेगा वही प्रक्रिया सबसे अधिक समीचीन जान पड़ती है। भट्टलोल्लट के उत्पत्ति पक्ष में दोष दिखलाये ही जा चुके हैं। उसमें वतलाया ही जा चुका है कि रसप्रतीति की अवस्थिति स्वगत या परगत इत्यादि वैकल्पिक पक्षों के कारण निश्चित ही नहीं की जा सकती। किसी भी पक्ष का आश्रय लिया जावे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रस की प्रतीति होती है। यदि रस की प्रतीति ही न मानी जावे तो उसका व्यवहार उसी प्रकार असङ्गत हो जावे जिस प्रकार पिशाच का ठीक रूप में ज्ञान न होने के कारण उसका व्यवहार ही असङ्गत माना जाता है। यद्यपि प्रतीति एक ही होती है और सब प्रकार की प्रभा के लिये प्रतीति शब्द का प्रयोग होता है किन्तु विभिन्न प्रकार की प्रभा के लिये विभिन्न प्रकार के उपायों से काम लिया जाता है। अतएव उपायों की विभिन्नता के कारण प्रतीति के भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रतिभा, योगि प्रत्यक्ष, ये विभिन्न भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार रस प्रतीति भी प्रत्यक्षादि सब प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। चर्वणा, आस्वाद, भोग इत्यादि इसी प्रतीति के विभिन्न नाम हैं। यह प्रतीति प्रत्यक्ष इत्यादि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण इसलिये मानी जाती है कि हृदय-संवाद के द्वारा उपकृत होकर जो विभाव इत्यादि सामग्री इस रस को प्रतीत करने में निदान (कारण) होती है वह सर्वदा अलौकिक ही हुआ करती है। अतएव लौकिक प्रत्यक्ष इत्यादि प्रतीतियों में उसका समावेश हो ही नहीं सकता। वस्तुतः प्रतीति को ही रस कहते हैं। प्रतीति और रस में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। फिर भी 'रस प्रतीत होता है' यह व्यवहार किया जाता है। यह व्यवहार उसी प्रकार होता है जैसे 'भात पका रहा है' यह लौकिक व्यवहार हुआ करता है। जिस प्रकार पके हुए चावलों को ही भात कहते हैं, वह स्वतः पका हुआ है ही। किन्तु लौकिक व्यवहार में 'भात पक रहा है' यह कहा जाता है, उसी प्रकार प्रतीति ही रस है, किन्तु रस प्रतीत हो रहे हैं यह व्यवहार किया जाता है। नाट्य में यह प्रतीति लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होती है, किन्तु लौकिक अनुमान प्रतीति को उपाय के रूप में अपने सामने रखकर ही प्रवृत्त

लोचन

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—"तासामनादित्वम् आशिषो नित्यत्वात्। जातिकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।" इति। तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां

अतः पूर्व पक्ष अनुत्थान रूप में ही उपहत हो गया। यही तो महान् साहस है कि राम इत्यादि का चरित्र सबके हृदय से मेल नहीं खाता। क्योंकि चित्त में विचित्र प्रकार की वासनाओं की विशिष्टता होती है। जैसा कहा है—'उनका अनादित्व होता है क्योंकि आकाङ्क्षायें नित्य होती हैं। जाति देश और काल से व्यवहितों का भी आनन्तर्य होता है क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप होते हैं।' इससे रस की प्रतीति तो सिद्ध हो गई। वह प्रतीति आस्वादन रूप में उत्पन्न होती है। वाच्य-वाचक का तो वहाँ पर अभिधा से पृथग्भूत व्यञ्जनात्मक ध्वनन व्यापार ही होता है। काव्य का भोगकरणव्यापार रसविषयक ध्वन्यात्मक ही होता है और कुछ नहीं। भावकत्व भी समुचित गुणालङ्कारपरिग्रहात्मक (ही होता है जिसको) हम ही विस्तृत करके कहेंगे। क्या यह अपूर्व है? जो यह कहा जाता है कि काव्य रसों के प्रति भावक होता है उससे आपने ही भावन के कारण उत्पत्ति पक्ष को ही प्रत्युज्जीवित कर दिया। केवल काव्य

तारावती

होता है। उसी प्रकार काव्य में भी शाब्दी प्रतीति अन्य लौकिक शाब्दी प्रतीतियों से विलक्षण होती हैं अर्थात् लोक में जिस प्रकार शब्द में अर्थ की अवगति होती है वैसी अवगति काव्य में नहीं होती। दोनों प्रतीतियों में भेद होता है। किन्तु काव्य की प्रतीति उपाय के रूप में लौकिक शाब्दी प्रतीति को सामने रखते हुये उसकी अपेक्षा अवश्य करती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि रस प्रतीत होता है। अतएव भट्टनायक का यह कहना कि 'रस प्रतीत ही नहीं होता' किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पूर्व पक्ष (भट्टनायक का पक्ष) तो अपने उत्थान काल में ही उपहत हो गया। यह कहना बहुत बड़े साहस की बात है कि 'राम इत्यादि का चरित्र सभी लोगों के हृदयों में मेल नहीं खा सकता' हमारे चित्तों में विचित्र प्रकार की विभिन्न वासनायें भरी रहती हैं। (हम भले ही समुद्र पर पुल बाँधना इत्यादि कार्यों को अपनी शक्ति से सम्पन्न न कर सकें किन्तु इस प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के लिये हमारे अन्तःकरणों में वासनायें जागृत होती ही रहती हैं। जिन कार्यों का घटनारूप में परिणत होना सर्वथा असम्भव होता है उनके स्वप्न

लोचन

केवलानां भावकत्वम् अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इतित्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद्द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोति कमुपालभामहे। तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा। प्रधानत्वे ध्वनिः अन्यथा रसाद्यलङ्काराः।

शब्दों का ही भावकत्व नहीं होता। क्योंकि अर्थ के न जानने पर वह होता नहीं। केवल अर्थों का भी नहीं होता क्योंकि दूसरे शब्दों से अर्पण करने पर वह नहीं होता। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा—'जहाँ अर्थ और शब्द उस अर्थ को व्यक्त करते हैं' यहाँ पर। अतएव व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलङ्कार के औचित्यवाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्यरसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशोंवाली भावना में कारण अंश में ध्वनन ही आ जाता है। भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता। अपितु घने मोहरूपी अन्ध सङ्कट से निवृत्ति के द्वारा आस्वाद इस दूसरे नामवाले अलौकिक द्रुति विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तव्य में ध्वननव्यापार भी मूर्धाभिषिक्त होता है। और वह यह भोगकृत्त्व रस के ध्वननीय सिद्ध होने पर दैवसिद्ध हो जाता है। क्योंकि भोग रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से अतिरिक्त नहीं होता। सत्व इत्यादि के अङ्गाङ्गिभाववैचित्र्य की अनन्तता के कारण द्रव इत्यादि के रूप में आस्वाद गणना उचित नहीं है। इस रसास्वादन का परब्रह्मास्वाद सादृश्य हो जावे। शास्त्र और इतिहास से उत्पन्न शासन और प्रतिपादन से (रस का) व्युत्पादन विलक्षण होता है। 'जैसे राम वैसा मैं हूँ' इस उपमान से भिन्न रसास्वाद में उपायभूत अपनी प्रतिभा के विजृम्भण रूप व्युत्पत्ति को अन्त में कर देता है, इसके लिये हम किसको उपालम्भ दें। इससे यह स्थित है कि रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादनगोचर होते हैं। उनमें अभिव्यक्ति प्रधान रूप में हो या अन्यथा। प्रधान होने पर ध्वनि (होती है) अन्यथा रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं।

तारावती

तो देखा ही करते हैं अथवा उनके विषय में ख्याली पुलाव पकाते ही रहते हैं। अतः समुद्रलङ्घन इत्यादि लोकोत्तर चरित्रों से भी हमारा हृदय मेल खा ही जाता है।) जैसा कि योग दर्शन में कहा गया है (यहाँ पर लोचनकार ने पौर्वापर्य क्रम को बदलकर योग दर्शन के दो सूत्रों को उद्धृत किया है। इन सूत्रों में इस बात पर विचार किया गया है कि जब कोई बच्चा किसी पशु के गर्भ से उत्पन्न होता है तब उत्पन्न होते ही उसके अन्दर उस योनि के अनुकूल प्रवृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न हो जाती हैं। सामान्य नियम है कि हमारी प्रवृत्ति अनुभव के आधार पर होती है उदाहरण के लिए जब तक हम पहले दूध पीकर भूख शान्त न कर चुके हों तब तक हमें यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि दूध पी लेने से भूख शान्त हो जाती है। किन्तु जब किसी पशु का कोई बच्चा पहले-पहल जन्म लेता है तब भूख लगने पर उसकी स्वतः प्रवृत्ति दूध पीने की ओर हो जाती है। घोड़े का बच्चा घोड़े के कार्य करने लगता है, गाय का बच्चा अपना वर्ग समझ जाता है। यह कैसे होता है? इसी बात का इन सूत्रों में विचार किया गया है। इन सूत्रों का सारांश यह है कि जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर जीव कभी न कभी उस विशेष योनि में आया ही होगा। अनेक योनियों का व्यवधान पड़ जाने से उस समय की उसकी स्मृतियाँ तो समाप्त ही हो जाती हैं किन्तु उस समय के अनुभव संस्काररूप में उसके अन्दर सन्निहित रहते हैं और उसी विशेष योनि को प्राप्त कर उन्हीं संस्कारों के अनुकूल उसकी प्रवृत्ति भी होने लगती है।) सांसारिक जीव नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु किसी योनि में अनुभव करने के बाद पुनः उसी योनि में आने तक बीच में सहस्रों योनियों का व्यवधान हो जाता है। किन्तु पहले उस योनि-विशेष के शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के सहकार से जो वासनायें प्रकट हुई थीं उसी प्रकार के शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के पुनः उत्पन्न होने पर उसी प्रकार की वासनायें प्रादुर्भूत हो जाती हैं। **"यद्यपि दोनों शरीरों में जाति, देश, काल इत्यादि का व्यवधान हो जाता है किन्तु स्मृति और संस्कारों की एकरूपता के कारण निरन्तरता बनी ही रहती है।"** उसका क्रम इस प्रकार होता है—जिस समय कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उस समय चित्त की सत्ता के कारण उसमें वासना रूप में संस्कार का आविर्भाव हो जाता है। वही संस्कार स्वर्ग-नरक इत्यादि का अङ्कुर होता है। अथवा यज्ञ इत्यादि कर्मों का शक्ति के रूप मे स्थित होना ही संस्कार कहलाता है; अथवा कर्ता की शक्ति को ही संस्कार कहते हैं जिससे वह भोग्य और भोक्ता का रूप धारण करता है। संस्कार से स्मृति, स्मृति से सुख दुःख का उपभोग उस उपभोग के अनुभव से संस्कार और स्मृति इत्यादि की उत्पत्ति, बस यही क्रम स्मृति और संस्कार की परम्परा-वाहिता में माना जाता है। (प्रश्न) प्रथम शरीर में वासना की सत्ता किस प्रकार मानी जा सकती है? (उत्तर) **वे वासनायें अनादि होती हैं क्योंकि महामोह पूर्ण कामनायें निरन्तर बनी रहती** है।' सदैव सुख-साधनों की प्राप्ति हो, सुख-साधनों से मेरा वियोग कभी न हो, बस यही विशेष प्रकार के सङ्कल्प वासनाओं में कारण होते

लोचन

केवलानां भावकत्वम् अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इतित्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति। सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद्द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोति कमुपालभामहे। तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा। प्रधानत्वे ध्वनिः अन्यथा रसाद्यलङ्काराः।

शब्दों का ही भावकत्व नहीं होता। क्योंकि अर्थ के न जानने पर वह होता नहीं। केवल अर्थों का भी नहीं होता क्योंकि दूसरे शब्दों से अर्पण करने पर वह नहीं होता। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा—'जहाँ अर्थ और शब्द उस अर्थ को व्यक्त करते हैं' यहाँ पर। अतएव व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलङ्कार के औचित्यवाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्यरसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशोंवाली भावना में कारण अंश में ध्वनन ही आ जाता है। भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता। अपितु घने मोहरूपी अन्ध सङ्कट से निवृत्ति के द्वारा आस्वाद इस दूसरे नामवाले अलौकिक द्रुति विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तव्य में ध्वननव्यापार भी मूर्धाभिषिक्त होता है। और वह यह भोगकृत्त्व रस के ध्वननीय सिद्ध होने पर दैवसिद्ध हो जाता है। क्योंकि भोग रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से अतिरिक्त नहीं होता। सत्व इत्यादि के अङ्गाङ्गिभाववैचित्र्य की अनन्तता के कारण द्रव इत्यादि के रूप में आस्वाद गणना उचित नहीं है। इस रसास्वादन का परब्रह्मास्वाद सादृश्य हो जावे। शास्त्र और इतिहास से उत्पन्न शासन और प्रतिपादन से (रस का) व्युत्पादन विलक्षण होता है। 'जैसे राम वैसा मैं हूँ' इस उपमान से भिन्न रसास्वाद में उपायभूत अपनी प्रतिभा के विजृम्भण रूप व्युत्पत्ति को अन्त में कर देता है, इसके लिये हम किसको उपालम्भ दें। इससे यह स्थित है कि रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादनगोचर होते हैं। उनमें अभिव्यक्ति प्रधान रूप में हो या अन्यथा। प्रधान होने पर ध्वनि (होती है) अन्यथा रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं।

तारावती

तो देखा ही करते हैं अथवा उनके विषय में ख्याली पुलाव पकाते ही रहते हैं। अतः समुद्रलङ्घन इत्यादि लोकोत्तर चरित्रों से भी हमारा हृदय मेल खा ही जाता है।) जैसा कि योग दर्शन में कहा गया है (यहाँ पर लोचनकार ने पौर्वापर्य क्रम को बदलकर योग दर्शन के दो सूत्रों को उद्धृत किया है। इन सूत्रों में इस बात पर विचार किया गया है कि जब कोई बच्चा किसी पशु के गर्भ से उत्पन्न होता है तब उत्पन्न होते ही उसके अन्दर उस योनि के अनुकूल प्रवृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न हो जाती हैं। सामान्य नियम है कि हमारी प्रवृत्ति अनुभव के आधार पर होती है उदाहरण के लिए जब तक हम पहले दूध पीकर भूख शान्त न कर चुके हों तब तक हमें यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि दूध पी लेने से भूख शान्त हो जाती है। किन्तु जब किसी पशु का कोई बच्चा पहले-पहल जन्म लेता है तब भूख लगने पर उसकी स्वतः प्रवृत्ति दूध पीने की ओर हो जाती है। घोड़े का बच्चा घोड़े के कार्य करने लगता है, गाय का बच्चा अपना वर्ग समझ जाता है। यह कैसे होता है ? इसी बात का इन सूत्रों में विचार किया गया है। इन सूत्रों का सारांश यह है कि जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर जीव कभी न कभी उस विशेष योनि में आया ही होगा। अनेक योनियों का व्यवधान पड़ जाने से उस समय की उसकी स्मृतियाँ तो समाप्त ही हो जाती हैं किन्तु उस समय के अनुभव संस्काररूप में उसके अन्दर सन्निहित रहते हैं और उसी विशेष योनि को प्राप्त कर उन्हीं संस्कारों के अनुकूल उसकी प्रवृत्ति भी होने लगती है।) सांसारिक जीव नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु किसी योनि में अनुभव करने के बाद पुनः उसी योनि में आने तक बीच में सहस्रों योनियों का व्यवधान हो जाता है। किन्तु पहले उस योनि-विशेष के शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के सहकार से जो वासनायें प्रकट हुई थीं उसी प्रकार के शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के पुनः उत्पन्न होने पर उसी प्रकार की वासनायें प्रादुर्भूत हो जाती हैं। **"यद्यपि दोनों शरीरों में जाति, देश, काल इत्यादि का व्यवधान हो जाता है किन्तु स्मृति और संस्कारों की एकरूपताके कारण निरन्तरता बनी ही रहती है।"** उसका क्रम इस प्रकार होता है—जिस समय कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उस समय चित्त की सत्ता के कारण उसमें वासना रूप में संस्कार का आविर्भाव हो जाता है। वही संस्कार स्वर्ग-नरक इत्यादि का अङ्कुर होता है। अथवा यज्ञ इत्यादि कर्मों का शक्ति के रूप मे स्थित होना ही संस्कार कहलाता है; अथवा कर्ता की शक्ति को ही संस्कार कहते हैं जिससे वह भोग्य और भोक्ता का रूप धारण करता है। संस्कार से स्मृति, स्मृति से सुख दुःख का उपभोग उस उपभोग के अनुभव से संस्कार और स्मृति इत्यादि की उत्पत्ति, बस यही क्रम स्मृति और संस्कार की परम्परा-वाहिता में माना जाता है। (प्रश्न) प्रथम शरीर में वासना की सत्ता किस प्रकार मानी जा सकती है ? (उत्तर) **वे वासनायें अनादि होती हैं क्योंकि महामोह पूर्ण कामनायें निरन्तर बनीरहती है।'** सदैव सुख-साधनों की प्राप्ति हो, सुख-साधनों से मेरा वियोग कभी न हो, बस यही विशेष प्रकार के सङ्कल्प वासनाओं में कारण होते

तारावती

हैं। ये सङ्कल्प सदा ही बने रहते हैं अतः वासनायें भी नित्य होती हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि चाहे किसी प्रकार का अभिनय क्यों न हो वासना के कारण हमें उसमें रस की प्रतीति होने लगती है। वह प्रतीति आस्वादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती है। इस आस्वादन की प्रतीति के लिये अभिधाव्यापार कुछ नहीं कर सकता। अतः उसके लिये व्यञ्जना-रूप ध्वननव्यापार ही मानना पड़ता है। भट्टनायक ने काव्य में जो एक नई भोजकवृत्ति मानी थी वह और कुछ नहीं केवल ध्वननव्यापार ही है। भावकत्ववृत्ति भी और कुछ नहीं विभिन्न रसों के लिये उपयुक्त गुण और अलङ्कार में ही उसका परिग्रह हो जाता है। इस बात को आगे चलकर हम स्वयं ही बतलावेंगे। यह भावकत्व व्यापार कोई नई वस्तु तो है नहीं। आप जो यह कहते हैं कि 'काव्यरस के प्रति भावक होता है' उसका एकमात्र अर्थ यही है काव्य रस को उत्पन्न कर देता है। भावक शब्द का सम्बन्ध ही 'भव' (भूधातु) से है जिसका अर्थ हैं उत्पन्न होना। जिस उत्पत्ति पक्ष का आपने खण्डन किया था भावकवृत्ति को अङ्गीकार कर लेने से वही पुनः प्रत्युज्जीवित हो गयी। दूसरी बात यह है कि केवल काव्य शब्द ही रस के भावक नहीं हो सकते। क्योंकि अर्थ का ज्ञान न होने पर रस की भावना हो ही नहीं सकती। केवल अर्थ भी रस के भावक नहीं होते क्योंकि वही बात जब दूसरे शब्दों के द्वारा प्रकट की जाती है तब रस की भावना हो ही नहीं सकती। यदि कहो कि दोनों ही भावक होते हैं तो यह बात तो हमने (प्रथम उद्योत की १३ वीं कारिका मे) कह ही दी कि—'जहाँ पर अर्थ या शब्द अपने को अथवा अपने अर्थ को गौण बनाकर उस विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं, विद्वान् लोग उसे ध्वनि कहते हैं।' इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार और गुण तथा अलङ्कार इत्यादि के औचित्य रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावकता को प्राप्त होकर काव्य ही रसों को भावित करता है। (इसको इस प्रकार समझिये—मीमांसकों के मत में 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य के द्वारा पुरुष के प्रति स्वर्ग के उद्देश्य से यज्ञ इत्यादि धर्म का विधान किया जाता है। 'यजेत' इस क्रिया के दो भाग हैं—'यज' धातु और प्रत्यय। प्रत्यय के भी दो भाग हैं—आख्यातत्व और लिङ्। ये दोनों अंश भावना का ही अर्थ देते हैं। 'भावना' का अर्थ है—'सत्ता में आनेवाली वस्तु को सत्ता में लाने के अनुकूल क्रिया।' यह भावना दो प्रकार की होती है आर्थी भावना और शाब्दी भावना। आर्थी भावना तीन पदार्थों की अपेक्षा करती है—१—साध्य, २—साधन और ३—इति कर्तव्यता। भावना के विषय में तीन प्रश्न किये जा सकते हैं—१—कौन वस्तु भावित की जाती है ? २—किसके द्वारा भावित की जाती है ? ३—किस प्रकार भावित की जाती है ? प्रथम प्रश्न के उत्तर में साध्य का सम्बन्ध होता है जैसे उक्त वाक्य में स्वर्ग। दूसरे प्रश्न के उत्तर में धातु के अर्थ का अन्वय होता है और वही करण कहा जाता है जैसे उक्त वाक्य में 'यज' धातु के अर्थ का अन्वय होताहै—'यज्ञ के द्वारा भावित की जाती है।' तृतीय प्रश्न के उत्तर में

लोचन

इतिकर्तव्यता रूप प्रयाजादि यज्ञ-क्रियाकलाप का सन्निवेश हो जाता है। इसी प्रकार काव्य भावक होता है और वह रस को भावित करता है। रसास्वादन में रस ही साध्य होता है। रस को भावित करने के लिये काव्य जिस भावना का आश्रय लेता है उसमें करण होता है व्यञ्जकत्वव्यापार। गुण तथा अलङ्कार के औचित्य उसमें इतिकर्तव्यता का रूप धारण करते हैं। भावना के यही तीन अंश होते हैं।) यद्यपि भावना तीन अंशों में विभक्त हो जाती हैं तथापि साधन (करण) अंश में ध्वननव्यापार का ही समावेश होता है। यह तो हुई भावकत्व की बात, भोजकत्व के विषय में भी यही कहा जा सकता है। भोग भी काव्य शब्दों के द्वारा ही नहीं होता। वस्तुतः हमारे अन्तःकरणों में आनन्द की निरन्तर सत्ता बनी रहती है। (ब्रह्मरूप होने के कारण आत्मा में नित्य आनन्द का होना स्वाभाविक ही है।) वह आनन्दांश अज्ञानरूपी घने अन्धकार के द्वारा निरन्तर आवृत रहता है। (जैसे माया के आवरण के कारण जीव अपने को ब्रह्मरूप में नहीं देख पाता। सर्व ब्रह्मवाद के अनुसार जीव भी ब्रह्म का ही स्वरूप है। किन्तु माया के आवरण में जीव में द्वित्वबुद्धि उत्पन्न हो जाती है वह अपनी ब्रह्मरूपता का अनुभव नहीं कर पाता। यह भेदबुद्धि ही जीव में कष्ट और दुःख के उत्पादन में हेतु होती है। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरण का आनन्दांश भी भेदवाद रूपी अज्ञानान्धकार से आवृत रहता है। यह हमारे लिये एक सङ्कट की बात है। इस सङ्कट के कारण हम दूसरे व्यक्तियों से तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पाते और भेदवाद के चक्कर में पड़कर कष्ट उठाया करते हैं।) काव्य के परिशीलन के द्वारा वही अज्ञानरूपी आवरण भङ्ग हो जाता है। (जैसे ब्रह्मज्ञान के द्वारा माया का पर्दा विशीर्ण हो जाता है और ब्रह्मवेत्ता अपने को और सारे विश्व को ब्रह्ममय देखने लगता है।) इस प्रकार उस चिरन्तन आनन्द का उद्रेक हो जाता है जिसका दूसरा नाम रसास्वादन है। यह आस्वाद लौकिक आस्वाद से सर्वथा विलक्षण होता है। जिस समय हमारे अन्दर अज्ञानान्धकार के विशीर्ण हो जाने से द्वैतबुद्धि का अभाव हो जाता है और आनन्द का उद्रेक होता है उस समय चित्तवृत्ति की तीन प्रकार की अवस्थायें होती हैं। १—चित्त में द्रवणशीलता उत्पन्न हो जाती है अर्थात् परिस्थिति विशेष के प्रभाव से हमारे हृदय पिघलने लगते हैं। इस दशा को द्रुति नाम से अभिहित किया जाता है। २—चित्त का विस्फारण हो जाता है जिसे विस्तार की संज्ञा प्रदान की जाती है, और ३—चित्त विकसित हो जाता है जिसे चित्त का विकास कहा जाता है। (चित्त की द्रवणशीलता माधुर्य गुण की परिचायिका होती है। श्रृंगार, करुण और शान्तरसों के आस्वादन में चित्त में द्रवणशीलता उत्पन्न हो जाती है। चित्तवृत्ति का विस्तार ओज गुण का परिचायक है। यह अवस्था वीर, वीभत्स तथा रौद्र रसों में उत्पन्न होती है। विकास प्रसन्नता का परिचायक है जो कि श्रृङ्गार तथा हास्य में हुआ करता है। इनके अतिरिक्त विक्षोभ और विक्षेप नामक दो चित्तवृत्तियाँ और होती हैं। विक्षोभ क्रोध तथा शोक में होता है और विक्षेप घृणा तथा भय में। इन चित्तवृत्तियों में एक प्रकार की अलौ-

ध्वन्यालोकः

रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः।

(अनु०) जहाँ पर रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशान्ति इत्यादि तत्त्व मुख्य हो रहे हों तथा उनका अनुसरण करनेवाले शब्द, अर्थ, अलङ्कार और गुण, ध्वनि की दृष्टि से विभिन्नरूप में व्यवस्थित किये जावें, वहाँ पर काव्य में ध्वनि होती है।

लोचन

तदाह—मुख्यार्थमिति। व्यवस्थिता इति। पूर्वोक्तयुक्तिभिर्विभागेन व्यवस्थापितत्वादिति भावः ॥ ४ ॥

वह कहते हैं—मुख्यार्थमिति। व्यवस्थिता इति। भाव यह है कि युक्तियों के द्वारा विभाग से व्यवस्थापित होने के कारण ॥ ४ ॥

तारावती

किकता होती है। ये चित्तवृत्तियाँ ही आस्वाद का स्वरूप बन जाती हैं और वह आस्वाद भी अलौकिक ही होता है।) इस लोकोत्तर भोग में ध्वननव्यापार ही मूर्धाभिषिक्त है। जब कि रस को ध्वनिवृत्तिगम्य मान लिया गया तो यह भोगकृत्त्व स्वभावतः सिद्ध होता है क्योंकि रसन (आस्वादन) से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार से भिन्न भोग कोई अन्य वस्तु नहीं है। इस आस्वाद के भेदोपभेदों की द्रुति इत्यादि रूपों में गणना की ही नहीं जा सकती क्योंकि सत्त्व इत्यादि गुणों के अङ्गाङ्गिभाव की विलक्षणता अनन्त प्रकारकी होती है। भट्टनायक का यह कथन माना जा सकता है कि रसास्वादन का आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि 'रसास्वादन की प्रक्रिया सर्वथा अप्रधान होती है।' शास्त्र द्वारा शासन करने में और इतिहास द्वारा प्रतिपादन करने में जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है रस- प्रक्रिया उससे सर्वथा विलक्षण होती है। शास्त्र और इतिहास से हमें केवल इस उपमान की प्रतीति होती है कि 'राम के समान व्यवहार करना चाहिये रावण के समान नहीं।' किन्तु काव्य में इस उपमान की प्रतीति भी होती है और अन्त में रसास्वाद में उपायभूत (सामाजिक की) प्रतिभा का विकास भी व्युत्पत्ति के रूप में होता है। यही इन दोनों व्युत्पत्तियों में अन्तर है। जब कि यह अन्तर स्पष्ट रूप में प्रतीतिगोचर हो रहा है और यह आपके (भट्टनायक के) प्रतिकूल हैं तो अब हम इसका उपालम्भ किसको दें। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि रसकी अभिव्यक्ति होती है और उसका आस्वादन प्रतीति के रूप में ही किया जाता है अर्थात् प्रतीतिगोचर होना ही रस का आस्वादन है। यह अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है—(१) जहाँ अभिव्यक्त रस इत्यादि प्रधान हो उसे ध्वनि कहते हैं और (२) जहाँ पर अभिव्यक्त तत्त्व गौण हो उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं। यही बात वृत्ति में इस प्रकार कही गई

ध्वन्यालोकः

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ५ ॥

(अनु०) "अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग हो रहे हों उस काव्य में रस इत्यादि अलङ्कार बन जाते हैं यह मेरी सम्मति है" ॥ ५ ॥

लोचन

अन्यत्रेति। रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा। मे मतिरित्यन्यपक्षं दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्टत्वात् स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति—तथापीति। स हि परदर्शितो विषयो भाविर्नीत्या नोपपन्न इति भावः। यस्मिन् काव्ये इति। स्पष्टत्वेनासङ्गतं वाक्यमित्थं

अन्यत्र इति। रसस्वरूप में वस्तुमात्र में अथवा अलङ्कार के योग्य (वस्तु) में। 'मे मतिः' अन्यपक्ष को दूषित करने योग्य के रूप में हृदय में रखकर अभीष्ट होने से अपना पक्ष पहले दिखलाते हैं—तथापि इति। निःसन्देह वह दूसरे के द्वारा दिखलाया हुआ विषय भावी नीति से उपपन्न नहीं होता, यह भाव है। यस्मिन् काव्ये इति। स्पष्टरूप में असंगत वाक्य की योजना

तारावती

है—'जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति इत्यादि अभिव्यज्यमान तत्त्व प्रधान हों और शब्द अर्थ अलंकार और गुण परस्पर विभिन्न रूप में ध्वनि की दृष्टि से ही व्यवस्थित किये जावें उसे ध्वनि कहते हैं।' व्यवस्थित किये जावें कहने का आशय यह है कि जो युक्तियाँ पहले दी जा चुकी हैं उन्हीं के आधार पर गुण अलंकार इत्यादि के विभिन्न रूप में व्यवस्थित किये जाने के कारण ही अभिव्यज्यमान अर्थ को प्रधानता प्राप्त होती है और इसीलिये वह ध्वनि का रूप धारण करता है।

[उक्त विवेचन का सारांश यही है कि अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का विवेचन किया है। निस्सन्देह रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में भी रस इत्यादि की अभिव्यक्ति होती ही है किन्तु उनमें रस इत्यादि की स्थिति उपमा इत्यादि से अच्छी नहीं होती। जिस प्रकार उपमा इत्यादि अलङ्कार दूसरे तत्त्व को अलंकृत कर आनन्द-साधना में कारण बनते हैं उसी प्रकार रस इत्यादि भी आनन्द-साधना में परमुखापेक्षी ही होते हैं। इसके प्रतिकूल जहाँ आनन्द साधना ही प्रधान होती है, पाठक आस्वादन में तन्मय हो जाता है और अलङ्कार शब्द, अर्थ, गुण, रीति इत्यादि काव्य के समस्त तत्त्व उस आनन्द के उपकरण के रूप में अवस्थित होते हैं वहाँ रसध्वनि होती है। रसध्वनि में अलङ्कार इत्यादि का स्वतन्त्र सौन्दर्य आस्वादन में निमित्त नहीं होता अपितु आस्वादन में स्वतन्त्र रूप से निमित्त रसध्वनि के सौन्दर्य का वह अभिवर्धक मात्र होता है] ॥ ४ ॥

'अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग होते हैं मेरी सम्मति में वहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार बन जाते हैं।' इस दूसरी कारिका में अन्यत्र शब्द का अर्थ है—

ध्वन्यालोकः

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतया-न्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

(अनु०) यद्यपि अन्य आचार्यों ने भी रसवत् अलङ्कार का विषय दिखलाया है तथापि मेरा पक्ष यह है कि जिस काव्य में अन्य अर्थ प्रधानतया वाक्यार्थ हो जावे और रस इत्यादि उसके अङ्ग हों वहाँ रस इत्यादि अलङ्कार का विषय होते हैं। जैसे चाटूक्तियों में प्रेयोलङ्कार वाक्यार्थ होते हुये भी रस इत्यादि प्रेयोऽलङ्कार के अङ्ग रूप में देखे जाते हैं।

लोचन

योजनीयम्—यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, चशब्दस्तुशब्दार्थे। यस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदलङ्कारशब्दस्य विषयाः, स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः; न त्वन्य इति यावत्। अत्रोदाहरणमाह—तद्यथेति। तदित्यङ्गत्वम्। यथात्र वक्ष्यमाणोदाहरणे, तथान्यत्रापीत्यर्थः। भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्। भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम्। तत्र प्रेयानलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः। न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्। यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम्। चमत्कारकारितेति यावत्।

इस प्रकार करनी चाहिये 'जिस काव्य में पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्गभूत हों और वाक्यार्थ के रूप में स्थित अर्थ दूसरा ही हो। 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। उस काव्य के सम्बन्धी जो रस इत्यादि अङ्गभूत व रस इत्यादि अलङ्कार के अर्थात् रसवत् इत्यादि अलङ्कार शब्द के विषय होते हैं। वही अलङ्कारशब्दवाच्य होता है जो अङ्गभूत हो और कोई नहीं। यहाँ पर उदाहरण देते हैं—'वह इस प्रकार'। वह का अर्थ है अङ्गत्व। अर्थात् जिस प्रकार यहाँ कहेजानेवाले उदाहरण में वैसे ही अन्यत्र भी। भामह के अभिप्राय से चाटुओं में प्रेयोऽलंकार के वाक्यार्थ होने पर भी रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं। इस प्रकार यह एक वाक्य है। निःसन्देह भामह ने गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयक प्रीतिवर्णन को 'प्रेयोलङ्कार' यह कहा है। वहाँ पर 'प्रियतर है अलङ्कार जहाँ वह प्रेयोलङ्कार अर्थात् अलङ्करणीय' यहाँ कहा गया है। अलङ्कार का वाक्यार्थत्व यहाँ पर उचित नहीं है। अथवा वाक्यार्थत्व प्रधानत्व को कहते हैं अर्थात् चमत्कार कारकता।

तारावती

जहाँ पर चौथी कारिका में बतलाई गई स्थिति नहीं होती अर्थात् जहाँ पर वाच्य, वाचक इत्यादि काव्य के अनेक तत्त्व रसादिपरक ही नहीं होते अपितु इसके प्रतिकूल रस इत्यादि ही वाक्यार्थपरक होते है। ऐसी स्थिति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) जहाँ पर प्रधानता

तारावती

किसी दूसरे रसस्वरूप की हो, (२) जहाँ एकमात्र कोई वस्तु प्रधान हो, और (३) जहाँ पर कोई ऐसी वस्तु प्रधान हो जिसे अलङ्कार के नाम से भी अभिहित किया जा सके। 'मेरी सम्मति हैं' कहने से प्रकट होता है कि अन्य पक्षों को अपने हृदय में रखकर और यह समझते हुये कि वे सब पक्ष दूषित हैं पहले अपने पक्ष की स्थापना की जा रही है, क्योंकि अभीष्ट तो अपना ही पक्ष है। 'तथापि' शब्द के प्रयोग से व्यक्त होता है कि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का दूसरों द्वारा दिखलाया हुआ विषय उपपन्न नहीं होता क्योंकि जिस नीति का आगे चलकर उल्लेख किया जावेगा उसी से दूसरों के पक्षों का खण्डन किया जा सकता है। 'यस्मिन्............विषया इति मामकीनः पक्षः' यह वाक्य स्पष्ट रूप में असङ्गत है। अतः इसकी योजना इस प्रकार की जानी चाहिए—'जिस काव्य में वे पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्ग के रूप में स्थित हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थ के रूप में स्थित हो।' यहाँ पर 'च' शब्द का अर्थ है 'तु' शब्द। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'जिस काव्य में पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्ग हों और वाक्यार्थ कोई अन्य हो उस काव्य से सम्बन्धित जो रस इत्यादि होते हैं वे रस इत्यादि अलङ्कार के अथवा रसवत् इत्यादि अलङ्कार के विषय होते हैं। आशय यह है कि वही तत्त्व अलङ्कारशब्दवाच्य होता है जो अङ्ग हो, जो अङ्गी अर्थात् प्रधान हो उसे अलङ्कार नहीं कहते। इस विषय में उदाहरण देते हुये वृत्तिकार ने कहा है—"वह इस प्रकार—जैसे चाटूक्तियों में प्रेयोलङ्कार के वाक्यार्थ होने पर भी रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।" इस वाक्य में 'वह' का अर्थ है 'अङ्ग होना' अर्थात् इस वाक्य में बतलाया गया है कि रस इत्यादि अङ्ग किस प्रकार होते हैं। वृत्तिकार का आशय यह है कि जो बात यहाँ पर बतलाई जावेगी वही अन्यत्र भी समझ लेनी चाहिये। इस पूरे वाक्य की दो प्रकार से योजना की जाती है और दो प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं—एक है भामह के अनुसार और दूसरा है उद्भट के अनुसार। (प्रेयोऽलङ्कार के विषय में भामह और उद्भट में मतभेद है। भामह गुरु, देव, नृपति और पुत्र के प्रति प्रेम को प्रेयोलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते हैं जब कि उद्भट किसी प्रकार के भाव को प्रेयोलङ्कार कहते हैं। अतः भामह के अनुसार रसवत् अलङ्कार प्रेयोलङ्कार से भिन्न होता है और उद्भट के अनुसार रसवत् अलङ्कार भी प्रेयोलङ्कार के अन्दर ही आ जाता है। इस भेद को ध्यान में रखते हुये ही दोनों के अनुयायी अपने-अपने अनुसार आदन्दवर्धन के इस वाक्य का अर्थ लगाते हैं।) भामह के अनुसार इस पूरे वाक्य का सीधा अर्थ होगा—"चाटूक्तियों में यद्यपि वाक्यार्थ प्रेयोलङ्कारपरक होता है तथापि उनमें रस इत्यादि अङ्ग के रूप में आये हुये देखे जाते हैं।" (आशय यह है कि जहाँ पर राजविषयक रति इत्यादि का वर्णन किया जाता है और उसकी पुष्टि शृङ्गार वीर इत्यादि रसों के माध्यम से की जाती है वहाँ पर प्रधानता तो राजविषयक रति इत्यादि की ही होती है और पोषक रस उसके अङ्ग हो जाते

लोचन

उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते—चाटुषु चाटुविषये वाक्यार्थत्वे चाटूनां वाक्यार्थत्वे प्रेयोऽलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः। उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः, प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयः प्रभृतेरपीत्यपिशब्दार्थः। रसवच्छब्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदाद्यलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह—रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इति उक्तविषय इति शेषः।

उद्भट के मत का अनुसरण करनेवाले तो (वाक्य का) भङ्ग करके व्याख्या करते हैं—चाटुओं में अर्थात् चाटु के विषय के अर्थात् चाटुओं के वाक्यार्थ होने पर अर्थात् चाटुओं के प्रतिपाद्य विषय होने पर प्रेयोऽलङ्कार का भी विषय होता है यह पूर्व से सम्बन्ध है। उद्भट के मत में भावालङ्कार ही प्रेय (होता है) यह कहा गया है प्रेम से भावों का उपलक्षण हो जाता है। 'अपि' शब्द का अर्थ यह है कि केवल रसवत् अलङ्कार का ही विषय नहीं है अपितु प्रेय इत्यादि अलङ्कारों का भी विषय है। रसवत् शब्द से और प्रेय शब्द से सभी रसवत् इत्यादि अलङ्कार उपलक्षित हो जाते हैं। वही कहते हैं—रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं। 'उक्त विषय' में यह और शेष रह गया अर्थात् उक्त वाक्य में इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये।

तारावती

हैं। इस अर्थ के करने में कारण यह है कि भामह गुरुविषयक, देवविषयक, नृपतिविषयक और पुत्रविषयक प्रीतिवर्णन को प्रेयोलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते हैं। (चाटूक्तियों में राजविषयक रति ही प्रधानतया वर्ण्य-विषय होती है, शेष रस उसके पोषक मात्र होते हैं।) जो प्रधानतया वर्ण्य-विषय हो उसे अलङ्कार कहा ही नहीं जा सकता। अतएव भामह के मत में प्रेयोलङ्कार शब्द का विशेष अर्थ करना पड़ेगा। 'प्रेयोऽलंकार' शब्द में एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है दूसरा कर्मधारय। 'प्रेयोलंकारस्य वाक्यार्थत्वे' वृत्तिकार से इस वाक्य में बहुव्रीहि समास मानना ही ठीक है। बहुव्रीहि के अनुसार प्रेयोलंकार शब्द का अर्थ होगा—'प्रेय है अलंकार जिसमें' अर्थात् अलंकरणीय वस्तु जिसमें राजविषयक रति इत्यादि का वर्णन हो। यहाँ पर अलंकार शब्द का अर्थ 'अलंकरणीय वस्तु' करना पड़ा है। इस प्रकार भामह के मत में इस वाक्य की सङ्गति लग जाती है। क्योंकि इन स्थानों पर राजविषयक रति ही अलंकरणीय वस्तु होती है और राजा के शृङ्गार शौर्य इत्यादि के वर्णन में आई हुई दाम्पत्य रति, उत्साह इत्यादि कविगत राजविषयक रति के पोषक तत्त्व ही होते हैं। अथवा यहाँ पर समानाधिकरण तत्पुरुष अथवा कर्मधारय भी माना जा सकता है—उस दशा में प्रेयोऽलंकार शब्द का अर्थ होगा प्रेय ही अलंकार। तब यहाँ पर वही प्रश्न उपस्थित होगा कि कोई अलंकार वाक्यार्थ कैसे हो सकता है। तब वाक्यार्थ का अर्थ करना होगा प्रधानता और प्रधानता का अर्थ होगा—चमत्कारपर्यवसायिता। अर्थात् प्रेयोलंकार जहाँपर चमत्कार-पर्यवसायी हो वहाँ पर रस इत्यादि अङ्ग रूप में आते हुये देखे जाते हैं। यह तो हुई भामह के अनुसार व्याख्या।

तारावती

उद्भट के अनुसार यह व्याख्या सङ्गत नहीं हो सकती। क्योंकि उद्भट रसवत् अलंकार को भी प्रेयोऽलंकार के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं। (जैसा कि उन्होंने कहा है—'रति इत्यादि भावों को जब अनुभाव इत्यादि के द्वारा सूचित करते हुये काव्यनिबद्ध किया जाता है तब सज्जन लोग उसे प्रेयस्वत् काव्य कहते है।' इसकी व्याख्या करते हुये प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—'यहाँ पर रति इत्यादि का अर्थ हैं दूसरे स्थायीभाव व्यभिचारी भाव और सात्त्विक भाव। तथा अनुभाव इत्यादि का अर्थ है—विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव।' आशय यह हुआ कि जहाँ पर विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के द्वारा कोई भी स्थायी भाव, सञ्चारी भाव या सात्विक भाव सूचित किया जावे वहाँ सर्वत्र उद्भट के मत में प्रेयोलंकार होता है। इस प्रकार उद्भट के मत में रसवत् भी प्रेय के अन्दर ही अन्तर्भुक्त हो गया। तव यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि प्रेयोलंकार में रसवत् उसका अङ्ग होता है। क्योंकि अपना ही अङ्ग कभी कोई नहीं हो सकता।) अतएव उद्भट के मत में उक्त वाक्य को दो खण्डों में विभक्त कर व्याख्या करनी होगी—पहला खण्ड होगा 'चाटुषु प्रेयोऽलंकारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि' इसकी योजना इस प्रकार होगी—'चाटुषु वाक्यार्थत्वेऽपि प्रेयोऽलंकारस्य' प्राकरणिक होने के कारण 'विषयः' शब्द का अध्याहार कर लिया जाता है। 'चाटुषु' शब्द में विषय सप्तमी हैं। चाटुओं के विषय में भी वाक्यार्थ होने पर भी अर्थात् चाटुओं की वाक्यार्थता में भी प्रेयोलंकार का विषय होता है। आशय यह हैं कि उद्भट के मत में वाक्यार्थ चाटु (खुशामद) होता है और रति इत्यादि सभी भाव उसका अङ्ग होते हैं (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि उद्भट का मत ठीक नहीं है क्योंकि 'चाटुषु' में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी नहीं हो सकती। यहाँ पर षष्ठी के अर्थ में सप्तमी नहीं है अपितु विषयसप्तमी है। 'चाटूनां वाक्यार्थत्वे' इसमें षष्ठी का प्रयोग तो लोचनकार ने फलितार्थ के रूप में किया हैं।) निस्सन्देह उद्भट के मत में सभी प्रकार के भावालंकारों को प्रेय अलंकार का नाम दिया जाता है। क्योंकि प्रेय शब्द का आशय है प्रेम, और प्रेम का प्रयोग सभी भावों के उपलक्षण के रूप में किया गया है। इस वाक्य में 'अपि' शब्द का अर्थ होगा—'यह विषय केवल रसवत् अलंकार का ही नहीं होता अपितु प्रेयः प्रभृति जितने भी इस कोटि के अलंकार होते हैं उन सबका समावेश इसमें हो जाता है। 'रसवत्' शब्द और प्रेयः शब्द ये दोनों शब्द रसवत् इत्यादि समस्त अलंकारों के उपलक्षण हैं। यही बात उद्भट के मत में दूसरे वाक्यखण्ड में कही गई है कि 'रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।' यहाँ पर 'उक्त विषय में' इस शब्द को और जोड़कर इसकी व्याख्या करनी चाहिये अर्थात् उक्त विषय में—जहाँ वाक्यार्थ प्रधान हो रस इत्यादि अङ्ग के रूप में आते हुये देखे जाते हैं। यह है उद्भट के मतानुयायियों के अनुसार व्याख्या।

[ऊपर आनन्दवर्धन के मत के अनुसार 'रसवत्' अलंकार का विषय बतलाया गया है। 'मेरी सम्मति है' कहने का आशय यह है कि दूसरी भी सम्मतियाँ विद्यमान हैं जिन्हें मैं नहीं मानता। वे सम्मतियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

ध्वन्यालोकः

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—

(अनु०) वह रस इत्यादि अलङ्कार दो प्रकार का होता हैं शुद्ध अथवा सङ्कीर्ण। उनमें प्रथम (शुद्ध) का उदाहरण :—

तारावती

(१) रस इत्यादि सर्वदा अलङ्कार्य ही होते हैं अतः वे अलङ्कार का रूप कभी धारण ही नहीं कर सकते। यह कहना ही असत्य है कि रस अलङ्कार होते हैं।

समीक्षा—रस अलङ्कार्य वहीं पर होते हैं जहाँ जहाँ उनमें प्रधानता हो। ऐसा भी देखा जाता हैं कि जहाँ पर रस इत्यादि की निष्पत्ति तो होती है किन्तु वहाँ पर प्रधानता किसी अन्य वाक्यार्थ की होती है। अतः वहाँ पर रस अलङ्कार ही होता है अलङ्कार्य नहीं।

(२) अलङ्कार वही होता है जो शब्दगत अथवा अर्थगत हो। रस न शब्द गत होता है न अर्थगत। अतः न इसे हम शब्दालङ्कार में सन्निविष्ट कर सकते हैं और न अर्थालङ्कार में। अतः रस के अन्दर अलङ्कारता आ ही नहीं सकती।

समीक्षा—यह नियम ठीक नहीं है कि जो शब्दगत या अर्थगत हो उसे ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार के प्रयोजक शब्द और अर्थ नहीं होते अपितु चमत्कार ही अलङ्कारता का प्रयोजक होता है। वह चमत्कार रसगत हो ही सकता है अतः रस की अलङ्काररूपता में कोई दोष नहीं आता। दूसरी बात यह है यदि अलङ्कार को शब्दार्थगतता माननी अभीष्ट ही है तो भी व्यङ्ग्य भी तो शब्द और अर्थ के आश्रित ही होते हैं। अतः रस शब्दगत तथा अर्थगत कहे भी जा सकते हैं। इस प्रकार उनकी अलङ्कारता अक्षुण्ण बनी रह सकती हैं।

(३) रस इत्यादि वहीं पर अलङ्कार होते हैं जहाँ पर वे अङ्गी (प्रधान) हों। यदि वे अङ्ग (गौण) हों तो उदात्त अलङ्कार का दूसरा भेद होता है।

समीक्षा—जहाँ पर रस अङ्गी (प्रधान) होंगे वहाँ पर उन्हें अलङ्कार की संज्ञा प्राप्त ही कैसे हो सकेगी ? वहाँ पर वे अलङ्कार्य हो जावेंगे। रसादि के अप्रधान होने पर उदात्त अलङ्कार भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि उदात्त अलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ महापुरुषों के चरित्र का उपलक्षण हो। रस इत्यादि के उपलक्षण में उदात्त अलङ्कार नहीं होता।

(४) रस इत्यादि का 'अलङ्कार' यह नामकरण रूपक इत्यादि के साम्य पर ही किया जाता है, अतः यह गौण है।

समीक्षा—रूपक इत्यादि में रमणीयता का एक प्रकार होता है और रस इत्यादि में सर्वथा भिन्न कोई दूसरा ही प्रकार होता है। जब विच्छित्ति में अन्तर है तब आप उस प्रयोग को गौण नहीं कह सकते।]

वह रस इत्यादि अलङ्कार दो प्रकार का होता है—१. शुद्ध और २. सङ्कीर्ण। शुद्ध का अर्थ है जिसमें केवल वही रस काव्य के किसी दूसरे तत्त्व को अलङ्कृत कर रहा हो तथा जिसमें

ध्वन्यालोकः

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः।

(कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा करते हुये कह रहा है :—)

"आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह स्वप्नों में अपने प्रियतमों को देखता है और उपालम्भ देता है कि—'तुम बहुत दिनों बाद तो प्राप्त हुये हो फिर भी मुझसे हँसी कर रहे हो जोकि मुझे दर्शन नहीं देते। हे निष्करुण! यह तुम्हें प्रवास में रुचि क्यों हो गई है? मेरे किस अपराध ने तुम्हें मुझसे दूर कर दिया है?" स्वप्न के प्रलापों में इस प्रकार कहते हुये तथा प्रियतमों के कण्ठों में बाहुपाश डाले हुये आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह जब जाग पड़ता है और देखता है कि उसका बाहुवलय तो रिक्त है तब जोर से रो पड़ता है।"

यहाँ पर शुद्ध करुण रस स्पष्ट ही अङ्ग हो गया है। अतः यहाँ पर रसवत् अलङ्कार है। इसी प्रकार ऐसे ही विषय में दूसरे भी रसों का स्पष्ट ही अङ्गभाव हो सकता है।

लोचन

शुद्ध इति। रसान्तरेणाऽङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु सङ्कीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशबन्धान्नात्र मोक्ष्यामि। अत एव रिक्तबाहुवलय इति। स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह—केयं निष्करुणेति। केनासीति। गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित् खेदितोऽसि। स्वप्नान्तेषु स्वप्नायितेषु सुप्तप्रलपितेषु पुनःपुनरुद्भूततया बहुष्विति वदन् युष्माकं रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः

शुद्ध इति। अङ्गभूत दूसरे रस से अथवा दूसरे अलङ्कार से न मिला हुआ। भलीभाँति मिला हुआ तो सङ्कीर्ण होता है। स्वप्न के अनुभूत के समान होने से हँसता हुआ ही प्रियतम स्वप्न में देखा गया। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इस समय विदितशठभाववाले तुमको बाहुपाश से नहीं छोड़ूँगी। इसीलिये कहा है–'रिक्त बाहुवलय' यह। स्वीकृत का उपालम्भ उचित ही है अतः कहते हैं—'केयं निष्करुणेति'। 'केनासि' इति। गोत्रस्खलन इत्यादि में भी मेरे द्वारा कभी खेदित नहीं किये गये। स्वप्नान्त में अर्थात् स्वप्नायित में अर्थात् स्वप्न के प्रलापों में बार-बार उद्भूत होने के कारण बहुत बार यह कहते हुये आपसे सम्बद्ध रिपुस्त्रीसमूह प्रियतम में विशेष रूप से आसक्त कर दिया गया है कण्ठग्रह जिसके द्वारा इस प्रकार का ही होते हुये जागकर शून्य-

लोचन

सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति। अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः। नहि त्वया रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाच्यार्थः। सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति चन्द्रादिना वस्तुना तथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतयावभासात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं भाति इति रसस्यापि वस्तुत एवालङ्कारत्वे को विरोधः।

वलय के आकार में बना लिया है बाहुपाश जिसने इस प्रकार का होते हुये तार अर्थात् मुक्तकण्ठ से रोता है। यहाँ पर स्वप्नदर्शन से उद्दीप्त शोक-स्थायीवाले चर्वणागोचर होनेवाले करुण रस मे सुन्दर हुआ राजा का प्रभाव शोभित होता है इस प्रकार शुद्ध करुण ही अलङ्कार है। 'तुम्हारे द्वारा शत्रु मार डाले गये' यह इस प्रकार का जैसा अनलंकृत वाक्य है उस प्रकार का यह नहीं है अपितु यहाँ पर वाक्यार्थ अधिक सुन्दर हो गया हैं। और सौन्दर्य करुण रस का ही किया हुआ है। चन्द्र इत्यादि वस्तु के द्वारा जिस प्रकार दूसरी वस्तु अलंकृत की जाती है क्योंकि उसके द्वारा उपमित होने के कारण चारुता का अवभास होने लगता है। उसी प्रकार रस के द्वारा भी वस्तु या दूसरा रस उपस्कृत होकर सुन्दर रूप में शोभित होने लगता है इस प्रकार रस का भी वस्तु के समान अलङ्कार होने में क्या विरोध है?

तारावती

न तो कोई दूसरा अलङ्कार ही मिला हो। जिसमें अङ्गभूत कोई दूसरा रस अथवा अलङ्कार मिला होता है उसे सङ्कीर्ण कहते हैं। (यहाँ पर शुद्ध का उदाहरण दिया गया है: कोई कवि आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करते हुये ये शब्द कह रहा है। वह राजा के शत्रुओं की स्त्रियों का कारुण्य दिखलाकर राजा की प्रभावशालिता का वर्णन करना चाहता है। वह कह रहा है कि—) हे राजन्—आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ स्वप्नों में अपने प्रियतमों को देखती हैं और उपालम्भ देती हैं कि "एक तो तुम बहुत दिनों बाद मुझे पुनः प्राप्त हुये हो फिर भी मेरे साथ हँसी कर रहे हो जो कि मुझे दर्शन नहीं देते।"

स्वप्न में उसी के समान वस्तु दिखलाई पड़ती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका हो। शत्रु स्त्रियाँ अपने प्रियतमों को सर्वदा हँसते हुये ही देखती थी। अतएव अब जबकि उनके प्रियतम मारे गये हैं और उन्हें स्वप्नों में देखती हैं तब भी हँसते हुये ही देखती हैं। 'तुम मुझे दर्शन नहीं देते हो' कहने का आशय यह है कि मैं तुम्हारी शठता समझ गई हूँ (यह प्रेम-पूर्ण उपालम्भ है।) अब मैं तुम्हें तुम्हारी शठता का ऐसा कड़ा दण्ड दूँगी कि तुम्हें बाहुपाश के बन्धन में बाँध कर रक्खूँगी और कभी नहीं छोड़ूँगी। इसीलिए तो कहा है कि 'उन स्त्रियों के बाहुवलय रिक्त होते हैं।' आशय यह कि स्त्रियाँ जब अपने प्रियतमों को स्वप्न में देखती हैं तब स्वप्न के प्रलाप के साथ अपनी दोनों बाहुओं को (दोनों हाथों की उँगलियों को एक

तारावती

दूसरे में डालकर) एक ऐसे घेरे के रूप में बना लेती हैं मानों वे अपनी भुजाओं को प्रियतमों के कण्ठ में डाले हों। किन्तु वस्तुतः उनके बाहुओं के घेरे रिक्त ही होते हैं क्योंकि उनके प्रियतम तो कब के मारे जा चुके हैं। किन्तु उन स्त्रियों को स्वप्नों में अपने प्रियतम दिखलाई पड़ते हैं और जब प्रियतम मिल ही गये तो उपालम्भ देना ठीक ही है। इसीलिये वे कहती हैं कि हे करुणारहित ? तुम्हें यह प्रवास की रुचि क्यों हो गई है ? (जोकि मैं तुम्हारे वियोग में मरी जाती हूँ और तुम्हें दया नही आती।) जिनको अपना बना लिया जाता है उनको उपालम्भ देना ठीक ही है। 'तुम्हें मुझसे किसने दूर कर दिया।' इसमें 'किसने' का अर्थ है 'मेरे किस अपराध ने' अर्थात् मैंने कभी तुम्हारे द्वारा गोत्रस्खलन इत्यादि में भी तुम्हें खिन्न नहीं किया। (यहाँ पर स्त्री के द्वारा गोत्रस्खलन की व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि गोत्रस्खलन तो पुरुषों का ही उचित होता हैं। कारण यह है कि पुरुषों का ही बहुपत्नी-प्रेम उचित माना जाता है। स्त्रियों के गोत्रस्खलन का आशय यही होगा कि उनका अनेक पुरुषों से प्रेम है जो कि सामाजिक तथा शास्त्रीय दोनों विधियों के विरुद्ध है।) स्वप्नान्त का अर्थ है स्वप्न के प्रलापों में (यहाँ पर स्वप्नान्त का 'स्वप्न के अन्तिम भागों में' यह अर्थ भी सम्भव है क्योंकि इससे ध्वनित होता हैं कि उन स्त्रियों को निद्रा नहीं आती और वे बार-बार जाग पड़ती हैं। इससे शत्रु-स्त्रियों का संतापाधिक्य तथा चिन्ताधिक्य अभिव्यक्त होकर इस भाव को और अधिक सरस बना देता हैं।) यहाँ पर 'स्वप्नान्तेषु' में बहु-वचन का प्रयोग किया गया है जिससे अभिव्यक्त होता है कि शत्रुओं की स्त्रियाँ बार-बार स्वप्न देखती हैं और बार-बार उनकी निद्रा टूटती है। 'बार-बार' यह कहते हुये शत्रुओं की स्त्रियाँ अपनी बांहों की उँगलियों को एक दूसरे से सटाकर ऐसा एक पाश सा बना लेती हैं मानों उनके प्रियतमों के कण्ठ उनके बाहुपाश के अन्दर हों। किन्तु जब वे यह जानती हैं कि वलयाकार रूप में बनाये हुये उनके बाहुपाश रिक्त हैं अर्थात् उनमें उनके प्रियतम विद्यमान नहीं हैं तब वे गला फाड़कर जोर से रोने लगती हैं। यहाँ पर शोक स्थायी भाव है; उसका उद्दीपन स्वप्नदर्शन के द्वारा हुआ है जिससे करुण रस की अभिव्यक्ति होती है और वह करुण रस ही चर्वणा का विषय बनता है। यहाँ पर मुख्यतः वर्ण्य विषय राजा का प्रभाव है। वह राजा का प्रभाव चर्वणागोचर होनेवाले करुण रस के द्वारा अधिक सुन्दर हो जाता है तथा उसकी शोभा अधिक बढ़ जाती हैं। इस प्रकार दूसरी वस्तु की शोभा बढ़ाने के कारण करुण रस अलङ्कार हो गया है। इस पद्य में करुणरस का सहयोगी कोई दूसरा अलङ्कार विद्यमान नहीं है अतः यह शुद्ध करुण रस के अङ्ग होने का उदाहरण है। यहाँ पर 'तुमने शत्रुओं को मार डाला है' यह अनलंकृतवाक्यार्थ जिस प्रकार का होता है वैसा यह नहीं हैं अपितु अधिक सुन्दर हो गया है और इस सौन्दर्य का समावेश करुण रस ने ही किया है। (यह सौन्दर्य का आधान सर्वथा वैसा ही है जैसा कि उपमा इत्यादि अलङ्कारों में हुआ करता है।) जिस प्रकार उपमा इत्यादि दूसरी वस्तु अलंकृत

लोचन

नन्‌ रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते ? तर्हि उपमयापि किं कुर्वत्यालङ्क्रियेत। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनापि तर्हि सरसीक्रियेत सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत्। तेन यत्केचिदचूचुदन्—'अत्र रसेन विभावादीनां मध्ये किमलङ्क्रियते' तदनभ्युपगमपराहतम्, प्रस्तुतार्थस्यालङ्कृतत्वेनाभिधानात्। अस्यार्थस्य भूयसा लक्ष्ये सद्भाव इति दर्शयति—एवमिति। अत्र राजादेः प्रभावख्यापनं तादृश इत्यर्थः।

(पू० प०) क्या करते हुये रस के द्वारा प्रकृत अर्थ अलंकृत किया जाता है ? (उत्तर) तो उपमा के द्वारा भी क्या करते हुये अलंकृत किया जावे ? (पू० प०) निस्सन्देह उपमा के द्वारा प्रस्तुत अर्थ उपमित किया जाता है। (उ० प०) तो रस के द्वारा भी वह अर्थ सरस किया जाता है यह स्वसंवेद्य है। तो जो कुछ लोगों ने कहा था—'यहाँ पर विभावादिकों के मध्य में रस के द्वारा क्या अलंकृत किया जाता है ?' स्वीकृति के द्वारा विभाव इत्यादि को अलङ्कार्य न मानने द्वारा निराकृत कर दिया गया। क्योंकि अलङ्कार्य के रूप में प्रस्तुत अर्थ का अभिधान किया जा चुका है। इस अर्थ का लक्ष्य में बहुत अधिक सद्भाव अर्थात् सत्ता होती है यह दिखलाते हैं—'एवम् इति' अर्थात् जहाँ पर राजा का प्रभावख्यापन हो वैसे उदाहरण में।

तारावती

की जाती है और वहाँ पर चारुता की प्रतीति उपमित इत्यादि रूप में ही होती है उसी प्रकार यहाँ पर भी रस के द्वारा उपस्कृत होकर या तो कोई वस्तु अधिक सुन्दर प्रतीत होने लगती है अथवा कोई दूसरा रस ही अधिक सुन्दर हो जाता है। इस प्रकार जैसे उपस्कृत करनेवाली वस्तु को हम अलङ्कार संज्ञा प्रदान करते हैं उसी प्रकार एक रस के भी अलङ्काररूपता में परिणत हो जाने में कौन सा विरोध उत्पन्न हो सकता है ?

(पूर्वपक्ष) रस कौन-सा कार्य करते हुये प्रकृत अर्थ को अलंकृत करता है ? (उ० प०) तो फिर उपमा ही यदि यहाँ पर प्रयुक्त की जाती तो क्या कार्य करते हुये प्रकृत अर्थ को अलंकृत करती। (पू० प०) निस्सन्देह उपमा तो प्रकृत अर्थ को अलंकृत करने के लिये उसमें सादृश्य का आधान करती। (उ० प०) तो फिर रस भी उस अर्थ को सरस बना देता है इसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, यह बात तो स्वसंवेदनसिद्ध ही है। अतएव कुछ लोगों ने जो यह कहा था कि 'विभावादिकों में कौन-सा तत्त्व रस के द्वारा अलंकृत किया जाता है।' यह उनका कथन इसी प्रकार खण्डित हो जाता है कि हम विभाव इत्यादि को अलंकार्य मानते ही नहीं। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि प्रस्तुत अर्थ ही अलङ्कार्य होता है। यह बात केवल एक पद्य में ही नहीं अपितु लक्ष्य में बहुत अधिक देखी जाती है, यही बात बतलाने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'इसी प्रकार ऐसे विषय में दूसरे रसों का अङ्ग हो जाना स्पष्ट ही है। ऐसे विषय का आशय यह है कि जहाँ पर राजा इत्यादि का प्रभावख्यापन किया जाता है। इस प्रकार के विषय में।

ध्वन्यालोकः

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः।
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

(अधु०) संकीर्ण होकर रस इत्यादि के अङ्ग होने का उदाहरण :—

'त्रिपुर-दाह के अवसर पर भगवान् शंकर की शराग्नि अपराध में आर्द्रकामी के समान जब त्रिपुर युवतियों के हाथ में लगी तब उन युवतियों ने अपने नेत्र–कमलों को आंसुओं से भरकर उसे एक ओर को फेंक दिया। जब उसने वस्त्र का छोर पकड़ा तब बलात् उसको तिरस्कृत कर दिया। केश पकड़ने पर उसको दूर फेंक दिया, पैरों पर गिरने पर सम्भ्रम से उसकी ओर देखा भी नहीं और आलिङ्गन करने पर उसे दूर हटा दिया। वही भगवान् शंकर की शराग्नि आपलोगों के पापों को जलाड ाले।'

लोचन

क्षिप्त इति। कामिजनपक्षेऽनादृतः इतरत्र धुतः। अवधूत इति न प्रतीप्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारूकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया अपरत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्य श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वं, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तच्चारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषसहितस्येत्येतावदेवावोचत् न तु करुणसहितस्येत्यपि।

क्षिप्त इति। कामी के पक्ष में अनादृत कर दिया अन्यत्र (अरि पक्ष में) कँपा कर अलग कर दिया। अवधूत का अर्थ है प्रत्यालिङ्गन के द्वारा उसके प्रेम को स्वीकृत नहीं किया। अन्यत्र सारे अङ्गों को हिलाकर विशीर्ण कर दिया। साश्रु होना एक ओर ईर्ष्या से और दूसरी ओर प्रत्याशा रहित होने से। 'कामी के समान' इस श्लेष के द्वारा अनुगृहीत उपमान से जो ईर्ष्या-विप्रलम्भ आकृष्ट किया गया था—श्लेष और उपमा के सहित उसकी अङ्गरूपता (गौणरूपता) हो जाती है केवल की नहीं। यद्यपि यहाँ पर करुण रस वास्तविक भी है तथापि वह उसकी चारुता की प्रतीति के लिये व्याप्त नहीं होता है इस अभिप्राय से 'श्लेष के सहित' इतना ही कहा करुगरस के सहित यह भी नहीं कहा।

तारावती

दूसर उदाहरण रस इत्यादि के सङ्कीर्ण होकर अर्थात् दूसरे अलङ्कारों से साङ्कर्य को प्राप्त होकर अङ्गरूपता को धारण करने का है। यह पद्य अमरुशतक के मङ्गलाचरण से उद्धृत किया गया है। (इस पद्य का अर्थ अनुवाद के अन्दर देखिये।) यहाँपर क्षिप्त शब्द के दो अर्थ हैं—

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति । एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषयः । अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः ।

(अनु०) यहां पर (प्रधानीभूत) वाक्यार्थ है त्रिपुररिपु का प्रभावातिशय । श्लेष (तथा उपमा) के साथ ईर्ष्या-विप्रलम्भ उसका अङ्ग हो गया । इसी प्रकार के स्थान रसवत् इत्यादि अलंकार के न्याय्य विषय होते हैं । इसीलिये ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण को अङ्ग के रूप में समाविष्ट करने के कारण (विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश) दोष नहीं होता ।

लोचन

एतमर्थमपूर्वतयोत्प्रेक्षितं द्रढीकर्तुमाह—एवंविध एवेति । अतएवेति । यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं ततो हेतोरित्यर्थः । न दोष इति । यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत् । रतिस्थायिभावत्वेन तु सापेक्षभावो विप्रलम्भः । स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य विरुद्ध एव ।

पूर्वरूप में उत्प्रेक्षित इस अर्थ को दृढ़ करने के लिये कह रहे हैं—एवंविध एव इति । अतएव इति । क्योंकि यहाँपर विप्रलम्भ की अलङ्कारता है वाक्यार्थता नहीं, इस हेतु से । यदि दो में एक रस की प्रधानता होती तो दूसरे रस का समावेश हो ही नहीं सकता । रति के स्थायिभाव होने से यहाँ सापेक्षभाव में विप्रलंम्भ है । और वह शोक के स्थायी होने से निरपेक्ष भाव में स्थित करुण के विरुद्ध ही है ।

तारावती

कामी के पक्ष में इसका अर्थ है अनादर कर दिया और दूसरे पक्ष में (शराग्नि के विषय में) इसका अर्थ है हिला-डुलाकर दूर हटा दिया । 'अवधूतः' शब्द का कामी के पक्ष में अर्थ है प्रत्यालिङ्गन के द्वारा अभिनन्दन नहीं किया और शराग्नि के पक्ष में अर्थ है—सारे अङ्गों को हिला-डुलाकर इधर-उधर उसे विशीर्ण कर दिया । त्रिपुर-युवतियों की आँखों से आँसू कामी के पक्ष में ईर्ष्याजन्य हैं और शराग्नि पक्ष में—अपने प्रियतमों के समागम की पुनः प्रत्याशा न होने के कारण उनका अश्रुप्रवाह हुआ है । यहाँपर शराग्नि उपमेय है; कामी उपमान है, इव वाचक शब्द है और क्षिप्त करना इत्यादि धर्म हैं । इन धर्मों के सम्पादन में सहायक होता है श्लेष । इस प्रकार श्लेष से अनुगृहीत उपमा के द्वारा प्राकरणिक शराग्निपरक अर्थ की ओर ईर्ष्या विप्रलम्भ शृङ्गार जो कि स्फुट रूप में अभिव्यक्त होता है—खींचकर लाया जाता है । इस प्रकार यहाँपर केवल ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार ही शराग्निपरक वाच्यवस्तु को उपस्कृत नहीं करता अपितु उसके साथ श्लेष और उपमा का सहकार भी अपेक्षित होता है । इसीलिये यह सङ्कीर्ण रसवत् का उदाहरण है; शुद्ध रसवत् का नहीं । यद्यपि यहाँपर अभिव्यक्ति वास्तविक करुण रस की होती है । (मारे गये त्रिपुरासुर आलम्बन हैं, शङ्कर की शराग्नि इत्यादि उद्दीपन है; अश्रु इत्यादि

ध्वन्यालोकः

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम् ?। अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। तथा चायमत्र संक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

(अनु०) निस्सन्देह जहां पर रस मुख्यतया वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हो वहां पर वह अलंकार हो ही कैसे सकता है ? जो चारुता में हेतु हो उसे ही अलंकार कहते हैं। यही परम्परागत रूप में प्रसिद्ध है। यह स्वयं हो अपनी ही चारुता में हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार यहां पर यह सारांश है :—

रस और भाव इत्यादि तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निवेश करना ही सभी अलंकारों की अलंकारता को सिद्ध करनेवाला होता है।

लोचन

एवमलङ्कारशब्दप्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति तदुक्तं तत्रैवकारस्याऽभिप्रायंष्टे व्याच—यत्र हीति। सर्वासामुपमादीनाम्।

अयं भावः—उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरात्मभावः। तदुक्तं—रसभावादितात्पर्यमिति। तस्येति-प्रधानस्यात्मभूतस्य। एतदुक्तं भवति—उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभिरपि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते।

इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसङ्ग से समावेश को सिद्ध करके 'इस ही प्रकार' में जो 'ही' (एव) शब्द का प्रयोग किया उसका अभिप्राय बतलाते हैं—'यत्र हि' इत्यादि। सभी अर्थात् उपमादिकों का।

भाव यह है—'उपमा इत्यादि की अलङ्कारता में जैसी बात है वैसी रस इत्यादि की भी है। तो अवश्य अन्य अलङ्कार्य होना चाहिये। यद्यपि वस्तुमात्र भी होता है तथापि फिर भी विभाव इत्यादि रूपता में उसका पर्यवसान होने से रस इत्यादि का ही तात्पर्य है अतः सर्वत्र रसध्वनि की हो आत्मरूपता होती है। वही कहा है—'रसभावादि तात्पर्य' इत्यादि। तस्य इति। अर्थात् प्रधानीभूत आत्मतत्त्व का। यह कहा गया है—उपमा के द्वारा यद्यपि वाच्य अर्थ अलंकृत किया जाता है तथापि उसका वही अलङ्करण है जो उसके व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जन सामर्थ्य का कथन है। इस प्रकार वास्तव में ध्वन्यात्मक ही अलङ्कार्य होता है। शरीर समवायी कटक-कुण्डल इत्यादि के द्वारा भी विभिन्न चित्तवृत्तिविशेष के औचित्य सूचनात्मक होने से चेतन आत्मा अलंकृत की जाती है।

तारावती

अनुभाव हैं और विषाद इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर त्रिपुर युवतियों का शोक करुण रस का रूप धारण कर लेता है। तथापि यहाँपर ईर्ष्या-विप्रलम्भ के साथ उपमा और श्लेष का साङ्कर्य बतलाया गया है; करुण और विप्रलम्भ का साङ्कर्य नहीं। कारण यह है कि यहाँपर करुण रस चारुता प्रतीति में व्यापक रूप में अवस्थित नहीं होता हैं। (आशय यह है कि प्रस्तुत पद्य में चारुता प्रतीति ईर्ष्या-विप्रलम्भ-शृङ्गाराश्रित ही है, करुण रस की हल्की सी छाया बीच में झलक मारती हुई अवगत होती है। अतः मुख्यतया अभिव्यक्त होनेवाली कविगत शङ्करभक्ति का पोषक शृङ्गार रस ही कहा गया हैं करुण नहीं।) रसवत् अलंकार के क्षेत्र के विषय में सर्व प्रथम यह कल्पना वृत्तिकार ने ही की है। इसके पहले यह बात किसी और ने नहीं कही। अपनी इसी नवीन उद्भावना को अधिक दृढ़ करने के लिये वृत्तिकार ने उपसंहारमें कहा है—'रसवत् इत्यादि अलंकार का न्याय्य विषय इसी प्रकार का स्थान होता है। अतएव अङ्ग होने के कारण ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण का एकत्र समावेश दोष नहीं माना जाता। (आचार्यों ने विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश एक दोष माना हैं। विरुद्ध रसों का संक्षिप्त परिचय यह हैं—१. शृङ्गार रस का विरोध करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से होता है। २. करुण का विरोध हास्य और शृङ्गार से होता हैं। ३. वीर रस का विरोध भयानक और शान्त से होता हैं। ४. शान्त रस का विरोध वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक से होता है। ५. हास्य का विरोध भयानक और करुण से होता है। ६. रौद्र का विरोध हास्य शृङ्गार और भयानक रसों से होता है। ७—भयानक का विरोध शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से होता है। ८—वीभत्स का विरोध शृङ्गार से होता है। इन रसों के विरोध तथा अविरोध की तीन प्रकार से व्यवस्था की जाती है। किन्हीं दो रसों का विरोध आलम्बन के एक होने पर होता हैं; किन्हीं दो का आश्रय की एकता में और किन्हीं दो का विरोध अनन्तर (एक के बाद दूसरे के आने पर) होता है। आलम्बन की एकता में होनेवाला रसविरोध—१—वीर शृंगार का विरोध तभी होता है जब उनके आलम्बन एक हों। इसी प्रकार आलम्बन की एकता में ही २—संभोग शृङ्गार का हास्य वीभत्स और रौद्र से विरोध होता है। ३—विप्रलम्भ शृङ्गार का वीर करुण और रौद्र रसों से विरोध आलम्बन की एकता में ही होता है। वीर और भयानक का विरोध आलम्बन की एकता में तथा आश्रय की एकता में होता है। शान्त और शृंगार का विरोध नैरन्तर्य में तथा विभाव की एकता में होता है। वीर का अद्भुत और रौद्र से विरोध, शृंगार का अद्भुत से विरोध और भयानक का वीभत्स से विरोध तीनों प्रकार से होता है। यहाँपर करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार का एक साथ समावेश किया गया है। अतः परस्पर विरुद्ध दो रसों का एकत्र समावेश एक दोष जैसा प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पर विप्रलम्भ अलङ्कार के रूप में अवस्थित है वह यहाँ पर वाक्यार्थ नहीं है। अतः इन दोनों का एकत्र समावेश दोष नहीं माना जा सकता। यदि इन दोनों में किसी एक की प्रधानता होती तो दूसरा रस

लोचन

तथाहि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। नहि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत-इत्यभिमानात्।

वह इस प्रकार—'कुण्डल इत्यादि से उपेत भी शव-शरीर शोभित नहीं होता क्योंकि (वहाँ पर) अलङ्कार्य नहीं है। यति का शरीर कटक इत्यादि से युक्त होकर हास्यावह होता है क्योंकि अलंकार्य अनुचित है। देह का कोई अनौचित्य नहीं होता अतः वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य होती है। क्योंकि यह कहा जाता है कि मैं अलंकृत किया गया।

तारावती

समाविष्ट हो ही नहीं सकता था (अथवा यदि समाविष्ट हो जाता तो दोष माना जाता) किन्तु जब इनमें एक की भी प्रधानता नहीं तब यहाँ पर दोष माना ही कैसे जा सकता है? विप्रलम्भ और करुण का विरोध इसीलिये है कि विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है। अतः इसमें आलम्बन की अपेक्षा बनी रहती है अर्थात् आलम्बन से पुनः मिलने की आशा विप्रलम्भ श्रृङ्गार में नष्ट नहीं होती जब कि करुण रस का स्थायी भाव शोक है अतः उसमें आलम्बन की अपेक्षा सर्वथा समाप्त हो जाती है। अपेक्षा के होने में और न होने में परस्पर विरोध है। अतएव श्रृंगार और करुण का परस्पर विरोध है ही। इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसङ्ग में दो विरुद्ध रसों के एकत्र समावेश का समर्थन कर अब यह दिखलाया जा रहा है कि 'ऐसे ही स्थान रसवत् इत्यादि अलङ्कार का उचित विषय होते हैं' इस वाक्य में 'ही' का क्या अर्थ है—इसी विषय में वृत्तिकार ने कहा है कि 'जहाँ पर रस इत्यादि वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित होते हैं वहाँ वे अलङ्कार हो ही कैसे सकते हैं? अलङ्कार तो उसे ही कहते हैं जो चारुता के हेतु के रूप में प्रसिद्ध हो। यह स्वयं आत्मा होते हुए अपनी ही चारुता में हेतु नहीं हो सकता।' इस प्रसङ्ग में वृत्तिकार ने एक कारिका का उल्लेख किया है जिसका आशय यह है—'रस भाव इत्यादि तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निवेश करना ही सभी अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है।' इस वाक्य में सभी अलङ्कारों का अर्थ है उपमा इत्यादि समस्त अलंकारों की अलंकारता को सिद्ध करनेवाला होता है केवल रसवत् इत्यादि अलंकारों की अलंकारता को ही नहीं।

यहाँपर आशय यह है कि उपमा इत्यादि को अलंकार मानने में जो बात है वही रस इत्यादि को अलंकार मानने के पक्ष में भी कही जा सकती है। अतएव जहाँ कहीं किसी तत्त्व को हम अलङ्कार के नाम से अभिहित करते हैं वहाँ कोई दूसरा अलङ्कार्य अवश्य होना चाहिये। यद्यपि कभी-कभी केवल वस्तु ही अलङ्कार्य हो जाती है (जैसे 'किं हास्येन.......' इत्यादि पद्य में नरपतिप्रभाव अलङ्कार्य है) तथापि उसका पर्यवसान अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप में ही होता है। इस प्रकार रस इत्यादि में ही तात्पर्य की

तारावती

विश्रान्ति होती है। अतएव सर्वत्र रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा के रूप में अवस्थित होती है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है—'अतएव जहाँ पर रस इत्यादि वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हों वह सब रस इत्यादि अलंकार का विषय नहीं होता, वह ध्वनि का ही एक भेद होता है, उपमा इत्यादि उसके अलंकार होते हैं।' इस वाक्य में 'उसके' शब्द का अर्थ है आत्मा के रूप में अवस्थित प्रधानीभूत रस इत्यादि के। इस कथन का आशय यह है कि यद्यपि उपमा इत्यादि के द्वारा वाच्यार्थ ही अलंकृत किया जाता है तथापि रस के वाच्यार्थ को अलंकृत करने का यही अर्थ है कि यह वाच्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यक्त करने की शक्ति का आधान कर देता है। इस प्रकार वस्तुतः अलंकार्य ध्वन्यात्मक रस इत्यादि ही होते हैं। (इसको हम लौकिक अलंकारोंके दृष्टान्त के द्वारा भलीभाँति समझ सकते हैं।) लोक में कटक, कुण्डल इत्यादि आभूषण होते हैं। उनका समवाय सम्बन्ध शरीर से ही होता है। (अर्थात् शरीर को आभूषित करने के कारण ही आभूषणों को आभूषण कहा जाता है। समवाय सम्बन्ध का अर्थ है नित्य सम्बन्ध। यहाँ पर 'आभूषणों का शरीर से समवाय सम्बन्ध होता है' यह वाक्य कहा गया है। इसका आशय आभूषणों का शरीर पर नित्य धारण किया जाना नहीं है अपितु उसका अर्थ यह है कि आभूषणों में आभूषणत्व धर्म का प्रयोजक यही तत्त्व है जि आभूषण शरीर को आभूषित करते हैं।) इन लौकिक आभूषणों के द्वारा चेतन आत्मा ही अलंकृत की जाती है क्योंकि आभूषण विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियों के औचित्य को सूचित करते हैं। (नवयुवक के शरीर पर धारण किये हुये हार कटक कुण्डल इत्यादि उस युवक की रागात्मक चित्तवृत्ति को सूचित करते हैं। इसी प्रकार संन्यासी के शरीर पर धारण किये हुये काषाय वस्त्र, दण्ड इत्यादि उसकी वैराग्यमयी चित्तवृत्ति के द्योतक होते हैं।) वह इस प्रकार समझिये—यदि कुण्डल इत्यादि किसी शव के शरीर पर सजाये जावें तो भी उनकी शोभा नहीं होती, क्योंकि उसमें अलङ्कार्य में चेतना तो है ही नहीं। इसीप्रकार यदि किसी संन्यासी के शरीर पर कटक इत्यादि सजा दिये जावें तो वह एक उपहास की वस्तु ही हो जावेगी क्योंकि वहां पर अलंकार्य अनुचित है। शरीर तो सबके एक से ही होते हैं उनके लिये कोई चीज उचित या अनुचित नहीं होती। अर्थात् जो आभूषण एक शरीर को आभूषित करते हैं वे किसी भी दूसरे शरीर को आभूषित कर सकते हैं, उनके लिये कोई वस्तु उचित या अनुचित नहीं कही जा सकती है। वस्तुतः अलङ्कार्य तो आत्मा ही होता है। क्योंकि लोग कहा ही करते हैं कि 'मैं अलंकृत हो गया'। ('मैं' शब्द का प्रयोग तो आत्मा के लिये ही होता है। आशय यह है कि कटक इत्यादि आभूषण रागित्व के औचित्य को प्रकट करते हैं। यति की आत्मा का रागी होना अनुचित है। अतएव यति के शरीर पर विद्यमान कटक कुण्डल इत्यादि हास्यावह होते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि विभिन्न शरीरों में विधमान कटक कुण्डल इत्यादि के द्वारा रागित्व इत्यादि विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति की सूचना मिलती है। यदि वह चित्तवृत्ति

ध्वन्यालोकः

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

(अनु०) इसलिए जहां रस इत्यादि वाक्यार्थीभूत होते हैं वह सब रस इत्यादि अलंकार का विषय नहीं होता, वह ध्वनि का प्रभेद है उसके उपमा इत्यादि अलंकार होते हैं। जहां पर तो प्रधान रूप में अर्थान्तर के वाक्यार्थ होने पर रस इत्यादि के द्वारा चारुत्वनिष्पत्ति की जाती है वह रस इत्यादि की अलंकारता का विषय है।

लोचन

रसादेरलङ्कारताया इति व्यधिकरणषष्ठ्यौ। रसादेर्यालङ्कारता तस्याः स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्। रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।

रसादेरलङ्कारताया इति। दोनों में व्यधिकरण षष्ठी हैं। रस इत्यादि की जो अलंकारता वही उसका विषय है। इसी के अनुसार ही पहले वाक्य में भी योजना कर ली जानी चाहिए। रस इत्यादि से की हुई अलङ्करणरूप क्रियात्मा का जो विषय—यह।

तारावती

उस आत्मा के अनुकूल हो तो धारण किया हुआ अलङ्कार वास्तविक अलङ्कार का काम देता है। अन्यथा हास्यावह हो जाता है। यह तो लौकिक प्रमाण हुआ। इसके अतिरिक्त लोक में व्यवहृत शब्द भी प्रमाण है। लोग कहा ही करते हैं कि मैं अलंकृत हो गया। यहाँपर मैं का अर्थ है चेतना या आत्मा। इस प्रकार लोक में शरीर को अलंकृत कर अलङ्कार वस्तुतः आत्मा के ही अलङ्कारक होते हैं। उसीप्रकार काव्य में अलङ्कार शब्द तथा वाच्यार्थरूप काव्य-शरीर को अलंकृत करते हुये रसरूप आत्मा के ही अलंकृत करनेवाले होते हैं।)

'रसादेरलङ्कारतायाः विषयः' इस वाक्य में 'रसादेः' में भी षष्ठी है और 'अलङ्कारतायाः' में भी षष्ठी है। वहाँ पर दोनों में व्यधिकरण षष्ठी है। अतएव यहाँ पर अर्थ होगा—'रस इत्यादि की जो अलङ्कार-रूपता होती है उसका विषय होता है ऐसा स्थान, जहाँ प्रधानतया कोई दूसरा अर्थ वाक्यार्थ हो और रस इत्यादि के द्वारा उनकी चारुता का सम्पादन किया जावे।' ('रसादेः, अलङ्कारतायाः विषयः' इस वाक्य में रसादि शब्द तथा अलङ्कारता शब्द इन दोनों में षष्ठी का प्रयोग किया गया है। यह षष्ठी दो प्रकार की हो सकती हैं–समानाधिकरण तथा व्यधिकरण। समानाधिकरण षष्ठी का आशय है दोनों शब्दों के सम्बन्ध कारक का एक ही सम्बन्धी से सम्बन्धित होना। तब उसका अर्थ हो जावेगा—'ऐसा स्थान जहाँ पर प्रधान वाक्यार्थ दूसरा होता हैं और रस इत्यादि उसमें चारुता का सम्पादन करते हैं, रसादि का तथा अलङ्कारता का विषय होते हैं। अभिनवगुप्त का कहना है कि यहाँ पर षष्ठी का सामाना-

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति।

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि, उपमा इत्यादि तथा रसवत् इत्यादि का विषय-विभाग हो जाता है।

लोचन

एवमिति—अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः। उपमादीनामिति। यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं वाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः। तेन संसृष्टया नोपमादीनां विषयापहार इति भावः। अनेन भावाद्यलङ्कारा प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते। तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्योदाहरणं यथा—

एवमिति। अर्थात् हमारे कहे हुये विषय-विभाग के द्वारा। 'उपमादीनामिति' जहाँ रस की अलङ्कार्यता होती है और दूसरे रस अङ्गभूत नहीं होते वहाँ शुद्ध उपमा इत्यादि होती है। आशय यह कि इससे संसृष्टि के द्वारा उपमा इत्यादि का विषयापहार नहीं होता। रसवदलङ्कारस्य च इति। इससे भाव इत्यादि के प्रेयस् ऊर्जस्वी और समाहित ये अलङ्कार भी ग्रहण कर लिये जाते हैं। शुद्ध भावालङ्कार का उदाहरण जैसे—

तारावती

धिकरण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे अर्थतः सिद्ध हो जावेगा कि रस इत्यादि अलङ्काररूप ही होते हैं। यहाँ पर वस्तुतः व्यधिकरण षष्ठी मानी जानी चाहिये। इस प्रकार इसका अर्थ हो जाता है—रस इत्यादि की जो अलङ्कारता होती है अर्थात् रस इत्यादि जब अलङ्काररूपता को धारण करते हैं तब उनका वह विषय होता है। इससे यही व्यक्त होता है कि रस इत्यादि की ध्वनिरूपता भी होती है और अलङ्काररूपता भी।) इसी के अनुसार पिछले वाक्य में भी योजना कर लेनी चाहिये—'रसादेरलङ्कारस्य विषयः' का अर्थ कर लेना चाहिये कि रस इत्यादि के द्वारा जो अलङ्करण का कार्य सम्पादित किया जाता है उसका विषय इसी प्रकार के स्थल होते हैं।

वृत्तिकार ने उपसंहार करते हुये लिखा है—'इस प्रकार ध्वनि, उपमा इत्यादि तथा रसवत् अलङ्कार का विषय-विभाजन हो जाता है' इस वाक्य में 'इसप्रकार' शब्द का अर्थ है—'जैसा कि विषय-विभाग हमने बतलाया है।' वह इस प्रकार है—जहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार्य होते हैं वह ध्वनि का विषय होता है। जहाँ पर रस अलङ्कार्य होता है; दूसरा रस उसका अङ्ग होता नहीं और उपमा इत्यादि से अलङ्कार्य रस का अलङ्करण किया जाता है वहाँ पर शुद्ध उपमा इत्यादि अलङ्कार होते हैं। जहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार्य होता है कोई दूसरा रस उसे अलंकृत करता है और उपमा इत्यादि उक्त अलंकारक रस की सहगामिनी होती है वहाँ पर उपमा और अलङ्कारक रस की संसृष्टि होती है। जहां पर रस अलङ्कार्य होता है; उपमा इत्यादि के द्वारा उसका अलङ्करण होता नहीं अपितु दूसरे रस के द्वारा ही उसका अलङ्करण होता है

लोचन

तव शतपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिना मुखरः।
महिषासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः॥

इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्वहेतुतेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः। रसाभासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे—

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै—
र्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे।
शिवं हृदयवल्लभं यदि यथा यथा रञ्जयेः,
तदेव ननु वाणि ते भवति सर्वलोकोत्तरम्॥

'हे माता? शतपत्र के समान कोमल तथा ताम्रतलवाला, चलनेवाले कलहंस के समान नूपुर की सुन्दर ध्वनि से मुखर, तुम्हारा चरण महिषासुर के सर पर बलात् रक्खा हुआ, स्वर्ण के महा पर्वत के समान गुरुता को कैसे प्राप्त हो गया।'

यहाँ पर वाक्यार्थ रूप में स्थित देवीस्तोत्र में वितर्क विस्मय इत्यादि भाव की चारुता-हेतुता है इसलिये उसके अङ्ग होने से (यह) भावालंकार का विषय है। रसाभास की अलंकारता जैसे मेरे ही स्तोत्र में—

'समस्त गुणों की सम्पत्तियाँ समस्त अलङ्कारों के समूह के साथ यदि तुम्हारा आभूषण हो जावें तथापि तुम शोभित नहीं होगी। हे वाणी! यदि हृदयवल्लभ शिव को जैसे तैसे प्रसन्न कर लो तो वही तुम्हारे लिये सब लोक से बढ़कर हो जावे।'

तारावती

वहाँ पर शुद्ध रसवत् अलङ्कार होता है। इस प्रकार विषय-विभाजन कर देने से इस शंका का भी उन्मूलन हो गया कि 'यदि रस को अलङ्कार माना जावेगा तो उपमा इत्यादि अलङ्कारों से सर्वत्र उसकी संसृष्टि ही होगी और शुद्ध उपमा इत्यादि का कोई विषय ही प्राप्त नहीं होगा।' यहाँ पर रसवत् अलङ्कार से भाव इत्यादि अलङ्कारों का भी ग्रहण हो जाता है जिनको प्रेय ऊर्जस्वी और समाहित ये संज्ञायें प्राप्त होती हैं (१) जहाँ पर पूर्वोक्त विधि से भाव को अलङ्कारता प्राप्त हो गई हो उसे प्रेयोलंकार कहते हैं। शुद्ध प्रेयोलङ्कार का उदाहरण:—

हे माता जो तुम्हारा चरणतल शतपत्र कमल के पल्लव के समान कोमल है और चलायमान कलहंस नूपुर की सुन्दर ध्वनि से मुखर हो रहा है वही जब बलात् महिषासुर के सर पर रक्खा गया तब न मालूम किस प्रकार स्वर्ण के महान् पर्वत के समान भारी हो गया।'

यहाँ पर वक्यार्थ है देवी का स्तोत्र और वितर्क विस्मय इत्यादि भाव उसमें चारुता का आधान करते हैं अतः देवी के प्रति कविगत रतिभाव के अङ्ग होने के कारण वितर्क विस्मय इत्यादि भावालङ्कार (प्रेयोलङ्कार) हो गये हैं।

(२) ऊर्जस्वी अलङ्कार वहां पर होता है जहां रसाभास या भावाभास दूसरे का अङ्ग हों। उदाहरण के लिये जैसा कि मेरे (अभिनवगुप्त के) बनाये हुये स्तोत्र में—

लोचन

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे शृङ्गाराभासश्चारुत्वहेतुः। नह्ययं पूर्णः शृङ्गारो निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति। 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मक' इति चाभिधानात्।

यहाँ पर 'निस्सन्देह परमेश्वर-स्तुतिमात्रपरक वचन परम उपादेय होते हैं' इस वाक्यार्थ में श्लेष के सहित शृङ्गाराभास चारुता में हेतु है। नायिका के निर्गुण निरलङ्कार होने पर यह पूर्ण शृङ्गार नहीं होता। क्योंकि कहा गया है—उत्तम युवक-प्रकृतिवाला उज्ज्वलवेषात्मक शृंगार होता है।

तारावती

'हे वाणी? समस्त गुणों (१—माधुर्यादिकों २—सौन्दर्यादिकों) की सम्पत्तियां सभी अलङ्कारों (१—अनुप्रासादिकों २—कटकादिकों) के समूह के साथ यदि तुम्हारा आभूषण हो जावें तो भी तुम शोभा नहीं दे सकतीं। हृदय के प्रिय शिव (१—भगवान् शिवजी २—कल्याण कारक प्रियतम) को यदि तुम किसी न किसी प्रकार प्रसन्न कर लो तो वही तुम्हारा सर्वलोकोत्तर आभूषण हो जावे।'

आशय यह है कि जिस प्रकार कोई नायिका कितनी ही गुणवती हो, चाहे वह सभी आभूषणों से सजी हुई हो किन्तु वास्तविक सफलता इसी में है कि वह कल्याणकारक अपने प्रियतम को जैसे भी हो सके प्रसन्न कर ले। इसी प्रकार किसी वाणी में कविता के चाहे सभी गुण तथा अलङ्कार विद्यमान हों किन्तु जब तक वह हृदयवल्लभ भगवान् शिव को प्रसन्न नहीं करती तब तक उसके समस्त गुण और अलंकार व्यर्थ हैं।

यहां पर वास्तविक अर्थ यही है कि वाणी की शोभा अलङ्कारादिकों से नहीं होती किन्तु भगवान् शिव की उपासना से होती है। किन्तु यहां पर श्लेष की महिमा से शृंगाररसपरक एक दूसरा ही अर्थ निकल आता है जो कि वास्तविक अर्थ में चारुता का सम्पादन करता है। इस प्रकार यह शृङ्गार मुख्यार्थ का अङ्ग हो गया हैं किन्तु यहां पर पूर्ण शृङ्गार नहीं है। क्योंकि नायिका के निर्गुण और निरलंकार होनेपर शृङ्गार की पूर्णता हो ही नहीं सकती। शृङ्गार का लक्षण करने में ही यह बात कही गई है—'शृङ्गार की उत्तम युवा प्रकृति होती है और उसका वेष उज्ज्वल होता है।' यहां पर उज्ज्वलता के अभाव में शृङ्गार रस न होकर शृङ्गाराभास है। मुख्य वाक्यार्थ है परमात्मा के स्तुति-परक मात्र वचनों का उपादान किया जाना चाहिये। उस वाक्य में श्लेष के साथ शृङ्गाराभास चारुतासम्पादन में हेतु होता है।

[रसाभास शब्द का अर्थ है ऐसा तत्त्व जो वस्तुतः रस न हो किन्तु रस के समान प्रतीत हो रहा हो। आचार्यों ने अनौचित्य प्रवृत्त रस को रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। उदाहरण के लिये यदि सीता के प्रति रावण के प्रेम भाव का वर्णन किया जायेगा तो सहृदय व्यक्तियों को उसमें शृङ्गार रस का आस्वाद उत्पन्न नहीं होगा अपितु रावण के प्रति वर्तमान उनका

लोचन

भावाभासाङ्गता यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥

अत्र रौद्रप्रकृतीनामनुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः। एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम्।

भावाभास की अङ्गता जैसे—'वह आपकी रक्षा करे जिसके मार डालने से बचे हुये राक्षस उनके तुल्य रंगवाले अञ्जन से रंगे हुये लावण्ययुक्त अपनी कान्ताओं के नेत्र-कमलों से भी विशेष भय खाते हैं।

यहाँ रौद्र प्रकृतिवालों का अनुचित त्रास भगवान् के प्रभाव से उत्पन्न हुआ है, अतः भावाभास है। इस प्रकार उसके प्रशम की अङ्गता का भी उदाहरण देना चाहिये।

तारावती

द्वेषभाव ही और अधिक उद्दीप्त हो जावेगा। इस प्रकार वह प्रेम रस की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकेगा अपितु रसाभास कहा जावेगा। किन्तु अभिनवगुप्त ने यहाँ पर रसाभास का प्रयोग एक भिन्न अर्थमें किया है। ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्तके समय तक रसाभास की संज्ञा और उसका क्षेत्र पूर्णतया प्रतिष्ठित नहीं हो सका था। इसीलिए अभिनव ने रसाभास की परिभाषा का ठीक रूप में अनुसरण न करके रसाभास शब्द का सीधा अर्थ ले लिया और सामान्यतया यह परिभाषा कर दी कि जहां पर श्रृङ्गार का पूर्ण परिपाक न हो सका हो उसे श्रृङ्गाराभास कहते है। किन्तु आचार्यों की परम्परा इसके प्रतिकूल है। आचार्य लोग सामान्यतया यही मानते हैं कि जहां पर श्रृङ्गार अनौचित्य-प्रवृत्त होता है वहां पर वह श्रृङ्गाराभास कहा जाता है। अतएव इन आचार्यों के मत में काव्यप्रकाश का उदाहरण ठीक होगा जो कि इस प्रकार है:—

"हे राजन् आप के सैनिक मृग के समान कातर नयनोंवाली, आप के शत्रुओं की पत्नियों का सहसा आलिंगन करते हैं, प्रणामकर उनसे रति की प्रार्थना करते हैं, उनको पकड़ लेते हैं और शास्त्रविधि का भी अतिक्रमण कर उनके सभी अङ्गों का चुम्बन करते हैं। उनके प्रियतम इस समस्त क्रिया को देखते हैं, किन्तु फिर भी आप की प्रशंसा करते हैं कि—'हे औचित्यसिन्धु! पुण्यों के प्रभाव से आप मेरे दृष्टिगोचर हुये हैं, जिससे मेरी सभी आपत्तियां दूर हो गई हैं।

यहां पर कवि-विषयक रति अङ्गी है, उसका अंग है सैनिकों का शत्रुओं की पत्नियों के प्रति प्रेम जो कि परस्त्री-विषयक होने के कारण तथा प्रेम न करनेवाली स्त्रियों के विषय में होने से श्रृंगाराभास है।]

भावाभास के अंग होने का उदाहरण:—

'वे भगवान् कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें जिनके द्वारा मारे जाने से बचे हुए दैत्य,

ध्वन्यालोकः

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुयोजनया यथाकथञ्चिद्भवितव्यम्।

अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते। नतु महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्।

(अनु०) यदि यह कहो कि चेतनों का वाक्यार्थ होना रस इत्यादि अलङ्कार का विषय होता है, तो इससे आपके कहने का आशय यह होगा कि या तो उपमा इत्यादि का विषय बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं होता। क्योंकि अचेतन वस्तुवृत्त के वाक्यार्थ होने पर चेतन वस्तुवृत्त योजना किसी न किसी रूप में होनी ही चाहिये।

यदि यह कहो कि चेतनवस्तुवृत्त की योजना के होने पर भी जहाँ वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वह रसवत् अलङ्कार का विषय नहीं होता, तो रस के निधानभूत बहुत बड़े काव्यप्रबन्ध की नीरसता का प्रतिपादन हो जावेगा।

लोचन

'मे मति' रित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दूषणमुपन्यस्यति—यदीत्यादिना। परस्य चायमाशयः—अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपरसाद्यसंभवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्क्यत्वात्तद्विभक्त एवोपमादीनां विषय इति।

एतद्दूषयति—तर्हीति। तस्माद्वचनाद्धेतोरित्यर्थः। नन्वचेतनवर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह—यस्मादिति। यथाकथञ्चिदिति विभावादिरूपतया। तस्यामिति चेतनवृतान्तयोजनायाम्। नीरसत्वमिति। यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवदलङ्कार इति परमतम्, ततो न रसवदलङ्कारश्चेन्नूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभिप्रायान्नीर-

'मेरा मत है' इस कथन के द्वारा जिस परमत की सूचना दी थी वह दूषित है यह कहते हैं—यदि इत्यादि के द्वारा। दूसरे का आशय यह है—अचेतनों के चित्तवृत्तिरूप रस इत्यादि के असम्भव होने के कारण उसके वर्णन में रसवत् अलंकार की आशंका ही नहीं की जा सकती इसलिये उस रसवत् अलङ्कार से विभक्त ही उपमा इत्यादि का विषय है।

इसको दूषित करते हैं—तर्हि इति। अर्थात् उस वचन के हेतु से। यह कहा गया है कि अचेतन वर्णन विषय है यह आशङ्का करके (उत्तर रूप में) हेतु बतला रहे हैं—यस्मात् इति। यथा कथंचित् विभाव इत्यादि के रूप में। तस्याम् इति। चेतन वृत्तान्त योजना में। नीरसत्वमिति। दूसरों का मत है कि जहाँ रस होता है वहाँ अवश्य रसवत् अलंकार का विषय होता है। अतः यदि रसवत् अलंकार नहीं है तो वहाँ रस है ही नहीं। इस दूसरों के मत के अभिप्राय

लोचन

सत्वमुक्तम्। न त्वस्माकं रसवदलङ्काराभावे नीरसत्वम्, अपितु ध्वन्यात्मभूतरसाभावे, तादृक्च रसोऽत्रास्त्येव।

से नीरसत्व बतलाया। हमारे मत में तो रसवत् अलंकार के अभाव में नीरसत्व नहीं होता अपितु ध्वन्यात्मभूत रस के अभाव में होता है, और उस प्रकार का रस तो यहाँ पर है ही।

तारावती

भगवान् कृष्ण के रङ्ग के अंजन से रञ्जित अपनी पत्नियों के लावण्य युक्त नयन-कमलों से भी भयभीत होते हैं।'

दैत्य भगवान् कृष्ण से भयभीत हो गये हैं, अतः वे उनके वर्ण से भी भयभीत रहते हैं। उनकी पत्नियों के सुन्दर नेत्रों में लगा हुआ अंजन अब उन्हें आनन्द नहीं दे रहा है प्रत्युत उनमें त्रास ही उत्पन्न कर रहा हैं। यह त्रास नहीं है किन्तु त्रासाभास है। क्योंकि दैत्यों की प्रकृति रौद्ररस-प्रधान होती है। अतएव उनमें त्रास का उत्पन्न हो सकना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। यहां पर कवि गत भगवद्विषयक रति प्रधान (अङ्गी) है और त्रासाभास उसका अंग होकर आया है। अतएव यह ऊर्जस्वी अलङ्कार का उदाहरण है।

(३) समाहित अलङ्कार उसे कहते हैं जहां भावप्रशम अपराङ्ग होकर आया हो। इसका उदाहरण स्वयं समझना चाहिये।

[काव्यप्रकाश-कार ने निम्न लिखित उदाहरण दिया है :—

'हे राजन् निरन्तर तलवारों के कंपाने से, भृकुटी-भङ्ग के साथ तर्जन से और हुङ्कार सिंहनाद इत्यादि गर्जन से शत्रुओं का जो मद दिखलाई पड़ता था, वह आप का दर्शन होते ही न मालूम कहां चला गया।'

यहाँ मद-प्रशम कवि के राजविषयक-रतिभाव का अंग है। इसी प्रकार काव्यप्रकाशकार ने भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शबलता के अंग होने के भी उदाहरण दिये हैं।]

यहां तक हुआ मुख्य पक्ष (ध्वनिकार का रसालङ्कार-विषयक सिद्धान्त) कारिका-में कहा गया था कि 'यह मेरी सम्मति है।' इससे व्यक्त होता है कि दूसरों की सम्मतियां भिन्न प्रकार की हैं। उन विरोधी सम्मतियों का खण्डन करने के लिए उनके मत का उल्लेख किया जा रहा है—

कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि रसवत् अलङ्कार वहां पर होता है जहां मुख्यार्थ चेतनपरक हो। उनका आशय यह है कि रसाश्रयत्व के लिए चित्तवृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित है। अचेतनों में चित्तवृत्ति होती ही नहीं। अतः जहां वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वहां रस हो ही नहीं सकता। अतएव वहां पर उपमा इत्यादि अलङ्कार हुआ करते हैं। जहां वाक्यार्थ चतनपरक होता है वहां पर रसालङ्कार हुआ करता हैं। यही उपमा इत्यादि और रसालङ्कार इत्यादि का विषय-विभाजन है। यह है हमारे विरोधियों की सम्मति। इस पर मेरा निवेदन

ध्वन्यालोकः

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

(अनु०) जैसे :—

'निस्सन्देह असहिष्णु वह (मेरी प्रेयसी) इस नदी के रूप में परिणत हो गई है। तरङ्गें ही इसका भ्रूभङ्ग हैं, क्षुब्ध पक्षियों की पंक्तियाँ ही इसकी रसना हैं, संरम्भ के कारण शिथिल हुये वस्त्र के समान यह फेन को खींच रही है। बहुत से स्खलनों का अनुसरण करते हुये यह कुटिल गति में जा रही है।'

लोचन

तरङ्गेति। तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः। विकर्षन्ती विलम्बमानं बलादाक्षिपन्ती। वसनमंशुकम्। प्रियतमालम्बननिषेधायेतिभावः। बहुशो यत्स्खलितं येऽपराधास्तानभिसन्धाय हृदयेनैकीकृत्यासहमाना मानिनीत्यर्थः। अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति।

तरङ्ग इत्यादि। तरङ्ग ही हैं जिसके भ्रूभङ्ग, विकर्षन्ती का अर्थ है लटकते हुए (वस्त्र) को बलपूर्वक खींचती हुई। वसन का अर्थ है वारीक वस्त्र। अर्थात् प्रियतम द्वारा पकड़े जाने के निषेध के लिये। बहुत से जो स्खलित अर्थात् अपराध उनका अभिसन्धान करके अर्थात् हृदय से एक करके सहन न करती हुई अर्थात् मानिनी, और भी मेरे वियोग के पश्चात्ताप को न सहन करनेवाली ताप की शान्ति के लिये नदीभाव को प्राप्त हुई।

तारावती

यह है कि यदि चेतनों का वाक्यार्थीभाव सर्वत्र रसालङ्कार का ही विषय माना जावेगा तो उपमा इत्यादि का क्षेत्र या तो बहुत ही संकुचित हो जावेगा या कहा तो यहां तक जा सकता है कि उसका कोई विषय ही नहीं रहेगा। (प्रश्न) यह तो अभी बतला दिया गया है कि उपमा इत्यादि का विषय अचेतन-वर्णन होता है। फिर आप उपमा के विषयापहार का प्रश्न क्यों उठाते हैं? (उत्तर) उपमा इत्यादि के विषयापहार का कारण यह है कि जहां कहीं भी वाक्यार्थ अचेतनपरक होगा वहां पर भी चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना किसी न किसी प्रकार विभाव इत्यादि के रूप में हो ही जावेगी। आप कह सकते हैं किसी न किसी प्रकार चेतन वस्तु वृत्तान्त की योजना होने पर भी रसालंकार वहां पर नहीं होता जहां पर वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है। तब मैं कहूँगा कि यदि आप अचेतनपरक वाक्यार्थ को रसालंकार का विषय नहीं मानेंगे तो ऐसे ऐसे महान् काव्य प्रबन्ध नीरस माने

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

> तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः।
> शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा॥
> चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते।
> चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

(अनु०) दूसरा उदाहरण :—

'यह लता मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी हो। यह उर्वशी के समान ही कृश है। इसके पल्लव मेवजल से आर्द्र हो गये हैं मानों उसके अधर आँसुओं से घुल गये हों। समय के व्यतीत हो जाने से इसमें पुष्पोद्गम बन्द हो गया है मानों उसने अपने आभूषण त्याग दिये हों। इस समय इस पर भौंरों की गुञ्जार नहीं हो रही है, अतएव यह ऐसी मालूम पड़ती है मानों वह (उर्वशी) चिन्ता के कारण मौन हो गई हो। मानों प्रचण्ड स्वभाववाली वह चरणों पर पड़े हुये मेरा तिरस्कार करके सन्ताप कर रही हो।

तारावती

जाने लगेंगे जो रसमय साहित्य में रस का निधान (बहुमूल्य कोष) माने जाते हैं। यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के प्रबन्ध की नीरसता दूसरों के मत में प्रसक्त होती है। क्योंकि दूसरे लोग वहां सर्वत्र रसवत् अलंकार मानते हैं जहां कहीं रस विद्यमान हो। अतएव जहां रसवत् अलंकार नहीं होगा निस्सन्देह वहां रस भी नहीं हो सकता। अचेतनबस्तुवृत्तान्त योजना में दूसरे लोग रसवत् अलंकार मानते हैं, हम नहीं मानते। अतएव हमारे मत में रसवत् अलकार के न होने पर भी नीरसता नहीं हो सकती, अपितु नीरसता तभी हो सकती है जबकि ध्वनि आत्मभूत रस वहां पर विद्यमान न हो। इस प्रकार का रस यहाँ पर है ही अतः हमारे मत में उसकी नीरसता प्रसक्त नहीं होती।

अब यहां पर कतिपय उदाहरणों से यह बात पुष्ट की जा रही है कि 'चेतनवस्तु-वृत्तान्त योजना के किसी न किसी रूप में होने पर भी जहाँ वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वहाँ पर रसवत् अलंकर नहीं होता।' यदि यह स्वीकार किया जावेगा तो रसनिधानभूत बहुत से काव्य-प्रबन्ध नीरस माने जाने लगेंगे। प्रथम उदाहरण लीजिये—पुरूरवा उर्वशी के वियोग में उन्मत्त हो गये हैं। वे अपनी उसी उन्माद की अवस्था में नदी में अपनी प्रियतमा की उत्प्रेक्षा कर कर रहे हैं—'यह नदी मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी है। इसकी तरङ्गें ही मानों इसकी भौंहों की मरोड़ है, क्षुब्ध पक्षियों का कलरव ही मानो उसकी रसना की ध्वनि है, यह फेन को उसी प्रकार खींच रही है मानों उर्वशी आवेश के कारण अपने शिथिल हुये वस्त्र को खींच रही हो जिससे उसका प्रियतम उसे पकड़ न ले। पर्वत शिलाओं के कारण बहुत से स्खलनों को प्राप्त होकर उसी प्रकार कुटिलतापूर्वक चल रही हैं मानों वह उर्वशी मेरे बहुत से स्खलनों

लोचन

तन्वीति। वियोगकृशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजति। स्वकालो वसन्तग्रीष्मप्रायः। उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पादपतितमपि दयितमवधूतवत्यहमिति च चिन्तया मौनम्: चण्डी कोपना। एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तात्पर्येण पुरूरवस उन्मादाक्रान्तस्योक्तिरूपौ।

'तन्वी' इति। वियोग से कृश भी अनुतप्त आभरणों को छोड़ देता है। अपना काल अर्थात् वसन्त-ग्रीष्म-प्राय। उपाय की चिन्तना के लिये मौन, किस कारण चरणपर पड़े हुये भी प्रियतम को मैंने तिरस्कृत कर दिया इस चिन्ता से मौन। चण्डी अर्थात् क्रोध करनेवाली। ये ये दोनों श्लोक नदी तथा लता वर्णनपरक तात्पर्य से उन्मादाक्रान्त पुरूरवा की उक्ति के रूप में हैं।

तारावती

(अपराधों) को लक्षित कर कुटिलतापूर्वक जा रही हो। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानों वह उर्वशी मानिनी होने के कारण मेरे अपराधों को सहन न करती हुई मेरे वियोग और पश्चात्ताप से उत्पन्न सन्ताप की शान्ति के लिये नदी के रूप में परिणत हो गई है। 'अभिसन्धाय' का अर्थ है लक्षित करके अथवा हृदय से एकरूपता प्रदान कर। अर्थात् उर्वशी ने इस समय मेरे अपराधों को हृदय से एकाकार कर लिया है। मेरे अपराध उसके हृदय में भर गये हैं और उनको सहन करने की शक्ति न होने के कारण वह मानिनी बन गई है। यहां पर वाक्यार्थ अचेतन नदीपरक हैं और उनमें चेतन नायिका (उर्वशी) के वृत्तान्त की योजना कर ली गई है।

दूसरा उदाहरण जैसे—पुरूरवा वहीं पर कह रहे हैं—यह लता मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी हो। यह उर्वशी के समान ही कृश हो गई है। इस लता के पल्लव मेघ जल से आर्द्र हो गये हैं मानों उस (उर्वशी) के अधर आंसुओं से धुल गये हों। इस लता के पुष्पागम का काल है बसन्त और ग्रीष्म। वह काल व्यतीत हो चुका है। अतः इसमें पुष्पों का आना बन्द हो गया है मानों उस उर्वशी ने अपने आभूषण छोड़ दिये हों। वियोग की कृशता तथा अनुताप में कोई भी व्यक्ति आभूषण छोड़ देता है। इस समय इस पर भौंरों की गुञ्जार नहीं हो रही है। अतएव यह ऐसी मालूम पड़ती है मानों उर्वशी चिन्ता के कारण मौन धारण किये हो। यह मौन धारण उपाय की चिन्ता के लिये है अथवा 'क्यों चरण-पतित प्रियतम का मैंने प्रत्याख्यान कर दिया' इस चिन्ता से है। इस प्रकार मानों चरणों पर पड़े हुये मेरा प्रत्याख्यान करके इस लता के रूप में वह उर्वशी पश्चात्ताप कर रही हो। यहां पर वाक्यार्थ तो अचेतन लता के विषय में है किन्तु चेतन उर्वशी के वृत्तान्त की योजना कर दी गई है। ये दोनों श्लोक नदी और लता के वर्णन परक हैं किन्तु इनका तात्पर्य उन्माद से आक्रान्त पुरूरवा की उक्ति के रूप में है।

तीसरा उदाहरण—भगवान् कृष्ण द्वारका में विद्यमान हैं। वे या तो वृन्दावन-विहार का स्मरण करते हुये अपने मन में कह रहे हैं या किसी आये हुये गोप से कह रहे हैं—

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणाम्
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः।

तीसरा उदाहरण :—

'हे प्रिय (गोप) वे कालिन्दी के तट पर स्थित लताकुञ्जों के बने हुये घर अच्छी तरह तो हैं, जो कि गोपों की बधुओं के विलास के एकमात्र सहचर हैं और विशेष रूप से राधा की एकान्त-क्रीडा के साक्षी हैं। अब इस समय कामकला के निमित्त शय्या की रचना के लिये कोमलता पूर्वक तोड़ने का पल्लवों का उपयोग विच्छिन्न हो गया होगा ? उनकी नीली कान्ति जाती रही होगी और मुझे ऐसा लगता है कि वे पल्लव जरठ हो गये होंगे।

लोचन

तेषामिति। हे भद्र ! तेषामिति ये ममैव हृदये स्थितास्तेषाम्। गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। प्रच्छन्नानुरागिणीनां नान्यो नर्मसुहृद्भवतीति। राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानमित्याह—राधासम्भोगानां ये साक्षाद्द्रष्टारः। कलिन्दशैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलमिति काक्वा प्रश्नः। एवं तं दृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात् प्रबुद्धरतिभावमात्मगतमौत्सुक्यगर्भमाह द्वारकागतो भगवान् कृष्णः—स्मरतल्पस्य मदनशय्यायाः कल्पनार्थं 'मृदुसुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं रस एवोपयोगो साफल्यम्। अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्छेदोपयोगस्त्रोटनफलं तस्मिन् विच्छिन्ने। मय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः। अतएव परस्परानुराग-

'तेषाम्' इति। हे भद्र ? उनका अर्थात् जो मेरे ही हृदय में स्थित हैं उनका। गोपबधुओं अर्थात् गोपियों के जो विलास-सुहृद् अर्थात् नर्मसचिव हैं उनका। प्रच्छन्न अनुरागिणियों का और कोई नर्मसचिव नहीं होता। और राधा का अधिकता के साथ प्रेम का स्थान हैं यह कहते हैं—राधा-संभोगों के जो साक्षात् देखनेवाले हैं, कलिन्द पर्वत की पुत्री अर्थात् यमुना उसके तटपर लतागृहों का क्षेम अर्थात् कुशल है ? यह काकु से प्रश्न है। इस प्रकार उससे पूछकर गोप-दर्शन से प्रबुद्ध संस्कारवाले द्वारकागत भगवान् कृष्ण आलम्बन और उद्दीपन विभाव के स्मरण से जागृत हुये रतिभाव से युक्त आत्मगत औत्सुक्य के साथ कहते हैं—स्मरतल्प अर्थात् मदनशय्या की कल्पना के लिये मृदु अर्थात् सुकुमार होने के कारण उनका छेद अर्थात् तोड़ना ही उनका उपयोग अर्थात् सफलता है। दूसरा यह—कामशय्या में जो कल्पना वही मृदु अर्थात् सुकुमार और उत्कृष्ट छेदोपयोग अर्थात् तोड़ने का फल, उसके विच्छिन्न होने पर। भाव यह है कि मेरे

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव ।

(अनु०) इत्यादि विषयों में अचेतनों के वाक्यार्थ होते हुए भी चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना विद्यमान है ही ।

लोचन

निश्चयगर्भमेवाह—ते जान इति । वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम् । अधुना जरठीभवन्तीति । मयि तु सन्निहितेऽनवरतकथितोपयोगान्नमे जराजीर्णताखिलीकारं कदाचिदाप्नुवन्तीति भावः । विगलन्ती नीला त्विड्ंषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यनिर्भरत्वं ध्वनितम् । एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव सम्प्रधारणोक्तिः । बहुभिरुदाहरणैर्महतो भूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम् ।

आसीन न होने पर काम शय्या की कल्पना ही क्या ? इसलिये परस्परानुराग निश्चय के साथ कहते हैं—ते जाने इति । यहाँपर वाक्यार्थ कर्म है । 'अधुना जरठीभवन्ति' इति । भाव यह है कि मेरे तो सन्निहित होने पर निरन्तर बतलाये हुये उपयोग से बुढ़ापे की जीर्णता की व्यर्थता को ये कभी प्राप्त नहीं होते । विगलित होनेवाली नील त्वचा है जिनकी इससे कतिपय काल से प्रोषित भी (इनके) औत्सुक्य से भरे होने को ध्वनित करते हैं । इस प्रकार यह उक्ति आत्मगत है अथवा गोप के प्रति सम्प्रधारण के लिये उक्ति है । जो यह कहा था कि 'बहुत बड़े तथा अधिक प्रबन्ध की रसमयता होती है' वह बहुत से उदाहरणों से सूचित कर दिया ।

तारावती

'हे प्रिय ! कालिन्दीतनया (कालिन्दी यमुना) के तट पर स्थित लताकुञ्जों के बने हुये घर सकुशल तो हैं ! ('वे' इस सर्वनाम से यहां यह ध्वनित होता है कि वे सर्वदा मेरे हृदयों में ही विद्यमान रहते हैं ।) वे गोपवधुओं के विलास के एकमात्र सहचर (नर्मसचिव) हैं और राधा की एकान्त-क्रीड़ा के साक्षी हैं । (प्रच्छन्न कामियों की सुरत-क्रीड़ा का साक्षी वृक्षों और लताओं के अतिरिक्त और हो ही कौन सकता है ?) कलिन्दतनया यमुना को कहते हैं उसके तट पर बने हुये लतागृहों के लिये कुशल तो है ? यह प्रश्न काकु से किया गया है । आशय यह है कि जब मैं उन्हें छोड़कर चला आया और उनका हम लोगों के विश्रम्भ विहार का उपयोग जाता रहा तब वे भी जैसे तैसे समय पूरा कर रहे होंगे । उनके लिये कुशल हो ही कैसे सकता है । (यहांपर भगवान् ने गोप को देखा है अतः उनकी संस्कारजन्य स्मृति प्रबुद्ध हो गई है । उन्हें आलम्बन राधा गोपी इत्यादि और उद्दीपन लतावेश्म इत्यादि का स्मरण हो आया है । इससे उनके हृदय में गोपीविषयक रतिभाव प्रबुद्ध हो गया है और द्वारका में बैठे हुये भगवान् कृष्ण उत्कण्ठा से भरी हुई यह बातें कर रहे हैं ।) ये कहते हैं कि उस समय उन लताओं-पल्लवों का उपयोग यही था कि मदनशय्या की कल्पना (रचना) के लिये उन्हें कोमलतापूर्वक तोड़ा जाता था । अथवा उनके तोड़ने का उपयोग यही था कि उनसे कामकला के निमित्त शय्या की

ध्वन्यालोकः

अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलङ्कारः। तदेवं सत्युपमादयोऽलङ्काराः निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः। यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन। तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गी रसः भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति।

(अनु०) यदि यह कहो कि जहाँ चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना होती है वहाँ रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं तो उपमा इत्यादि का विषय या तो सर्वथा जाता रहेगा या बहुत ही कम हो जावेगा। क्योंकि ऐसा कोई अचेतन-वस्तु-वृत्तान्त है ही नहीं जहाँ अन्त में विभाव के रूप में चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना न हो। अतएव अंग होने पर रसादि अलङ्कार होते हैं और जो रस या भाव अंगी हों तथा सब प्रकार से अलङ्कार्य हो वह ध्वनि की आत्मा होता है। (यही रस ध्वनि और रसालङ्कार का विषय-विभाजन है।)

लोचन

अथेत्यादि। नीरसत्वमत्र मा भूयादित्यभिप्रायेणेति शेषः। ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथानुप्रवेशः स उपमादेर्विषयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—यस्मादित्यादि। अन्तत इति स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि वर्ण्यमानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव तावत्, किमत्रोच्यते। अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽवश्यं चित्तवृत्तिभावतां त्यक्त्वा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्, शास्त्रेतिहासयोरपि वा। एवं परमतं दूषयित्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति तस्मादिति। यतः परोक्तो विषयविभागो न युक्त इत्यर्थः। भावो वेति वा ग्रहणात्तदाभासतत्प्रशमादयः। सर्वाकारमिति क्रियाविशेषणम्। तेन सर्वाकारमित्यर्थः। अलङ्कार्य इति। अतएव नालाङ्कर इतिभावः।

अथ इत्यादि। यहाँ पर शेष यह है कि 'यहां पर नीरसत्व न हो इस अभिप्राय से, (प्रश्न) जहां पर चेतन वृत्त का सर्वथा अनुप्रवेश हो वह उपमा इत्यादि का विषय हो जावेगा यह शङ्का कर (उत्तर) देते हैं—यस्मात् इत्यादि। अन्तत इत्यादि। वर्णन किया जाता हुआ स्तम्भ पुलक इत्यादि अचेतन भी अनुभाव होने के कारण चेतन का आक्षेप करता ही है। इस विषय में क्या कहा जावे अत्यन्त जड़ चन्द्र उद्यान भी स्वमात्र विश्रान्त होते हुये भी (वाक्यार्थ बोध के द्वारा अपने में पर्यवसित होते हुये भी) वर्णन किये जाने पर अवश्य ही चित्तवृत्ति विशेष की (उद्दीपन) विभावता को छोड़कर काव्य में आख्यान के योग्य हो ही नहीं सकते। अथवा शास्त्र और इतिहास में भी (आख्यान के योग्य नहीं हो सकते।) इस प्रकार परमत को दूषित करके अपने मत को ही पुनराख्यान के द्वारा उपसंहार कर रहे हैं—तस्मादिति। अर्थात् क्योंकि दूसरों का कहा हुआ विषय-विभाग ठीक नहीं है। भावो वा इति। 'वा' ग्रहण से उनके आभास तथा उनके प्रशम (गृहीत) हो जाते हैं। 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है। इससे इसका अर्थ होता है सब प्रकार से। 'अलङ्कार्य इति' अतः अलंकार नहीं होता है यह भाव है॥ ५॥

तारावती

कल्पना की जाती थी, यह उपयोग बहुत ही सुकुमार तथा बड़ा ही उत्कृष्ट था। अब उनका यह उपयोग विच्छिन्न हो गया है। जब उस शय्या पर आसीन होने के लिए मैं वहां विद्यमान ही नही हूँ तो फिर वहां पर मदनशय्या की कल्पना ही क्या हो सकती है ? अतएव अपने और गोपियों के परस्पर अनुराग के निश्चय के साथ कह रहे हैं कि 'मुझे मालूम पड़ता है कि अब वे पल्लव जरठ हो गये होंगे।' 'मुझे मालूम पड़ता है' इस क्रिया का कर्म है पूरा वाक्य 'अब वे पल्लव जरठ हो गये होंगे।' (यहाँपर भगवान् को गोपी-प्रेम का पूर्ण निश्चय है। यदि ऐसा न होता तो गोपियों के परपुरुष-विहार की सम्भावना में भगवान् का पल्लवों के जरठ होने की कल्पना करना ही असङ्गत हो जाता। इसीलिये भगवान् ने यह बात गोपियों के प्रेम के निश्चय के साथ कही है।)

इस समय जरठ हो गये होंगे कहने का आशय यही है कि जब मैं वहाँ विद्यमान था और उन पल्लवों का बतलाया हुआ उपयोग नित्यप्रति किया करता था अर्थात् नित्य ही काम-क्रीड़ा के निमित्त शय्या की रचना करने के लिये मैं नव-किसलयों को तोड़ लिया करता था तब इन पल्लवों को बुढ़ापे की जीर्णता के कारण वैवर्ण्य इत्यादि का कभी मुख देखना नहीं पड़ता था। (किन्तु अब जब मैं इतनी दूर बैठा हूँ और काम-क्रीड़ा के लिये उनको तोड़नेवाला कोई नहीं है तब वे पल्लव लताओं में लगे-लगे ही मुरझा जाते होंगे और पीले पड़ जाते होंगे।) 'विगलन्नीलत्विषः' में बहुव्रीहि समास है। इसका विग्रह इस प्रकार होगा—'विगलित हो रही है नीली कान्ति जिनकी' यहाँ पर 'विगलित हो रही है' में वर्तमान काल के प्रयोग से ध्वनित होता है कि भगवान् का प्रवास अभी बहुत थोड़े दिन पहले हुआ है फिर भी भगवान् के अन्दर उत्कण्ठा चरम सीमा पर पहुँच गई है। इससे भगवान् के अनुराग का आधिक्य व्यक्त होता है। इस प्रकार यह उक्ति या तो आत्मगत है या किसी गोप के प्रति पुरानी बातों के निश्चय करने के लिये कही गई है।

पहले कहा गया था कि 'यदि चेतन-वृत्तान्त-योजना के होने पर भी अचेतन वाक्यार्थ होने पर रसवत् अलङ्कार नहीं माना जावेगा तो रसनिधानभूत बहुत से काव्य-प्रबन्धों की नीरसता प्रसक्त हो जावेगी।' इस वाक्य में बहुत से शब्द का प्रयोग किया गया गया था, अतएव तीन उदाहरण दिये गये। (तीन में बहुवचन होता ही है।) इन सब उदाहरणों में यद्यपि अचेतन ही वाक्यार्थ हैं तथापि चेतन-वस्तुवृत्तान्त-योजना विद्यमान है ही। इन उदाहरणों में नीरसता प्रसक्त न हो जावे इस मन्तव्य से यदि तुम यह कहना चाहो कि जहाँ कहीं चेतन-वृत्तान्त योजना होती है वहाँ सर्वत्र रस इत्यादि अलङ्कार होता है तो उपमा इत्यादि का विषय या तो सर्वथा समाप्त हो जावेगा या उसका विषय बहुत स्वल्प रह जावेगा। (प्रश्न) जहाँ चेतन-वृत्तान्त का सर्वथा अनुप्रवेश नहीं होता वह उपमा इत्यादि का विषय हो जावेगा। (उत्तर) ऐसा कोई अचेतन वृत्त है ही नहीं जिसमें अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप में चेतनवस्तु-वृत्तान्त-योजना न हो। यदि अचेतन भी

तारावती

स्तम्भ पुलक इत्यादि का वर्णन किया जाता है तो वह भी अनुभाव रूप होने के कारण चेतना का आक्षेप कर ही लेता है। इस विषय में कहा ही क्या जा सकता है। (आशय यह है कि स्तम्भ पुलक इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं वे सब विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के परिचायक मात्र होते हैं। चित्तवृत्ति चेतन में ही सम्भव हैं, अतः यदि अचेतन में भी स्तम्भ पुलक इत्यादि अनुभावों का वर्णन किया जावेगा तो वह भी चित्तवृत्ति का आक्षेप कर ही लेगा। अतः यदि यह तथ्य तुम्हारे प्रतिकूल जाता है तो हम क्या कह सकते हैं और क्या तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।) अत्यन्त जड़ चन्द्र उद्यान इत्यादि यदि इस रूप में भी वर्ण्य-विषय बनें कि उनका पर्यवसान सर्वथा स्वमात्र में हो अर्थात् जहाँ कहीं चन्द्र उद्यान इत्यादि स्वतन्त्र वर्ण्य विषय के रूप में भी वर्णन किया जावे और उनसे किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति की पुष्टि न भी दिखलाई जावे तो भी चित्तवृत्ति की विभावरूपता को छोड़कर उनका काव्य में प्रकथन सम्भव ही नहीं हो सकेगा। (आशय यह है कि चन्द्र उद्यान इत्यादि का कितना ही स्वतन्त्र वर्णन किया जावे किन्तु उनमें चित्तवृत्ति की विभावरूपता तो आ ही जावेगी। या तो वे चित्तवृत्ति का आलम्बन होंगे या उद्दीपन।) यही बात शास्त्र और इतिहास के विषय में भी कही जा सकती है। उनमें भी जहाँ कहीं भी इन जड़ वस्तुओं का प्रकथन किया जावेगा वहाँ सर्वत्र चित्तवृत्ति को प्रभावान्वित करना तो उनका लक्ष्य होगा ही। अतः बिना चेतन योजना के सर्वथा जड़ का काव्य और शास्त्र में प्रकथन सम्भव है ही नहीं। इस प्रकार वृत्तिकार परमत का खण्डन कर अपने मत का पुनराख्यान करते हुये प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं। 'अतएव अङ्ग के रूप में स्थित होने पर रस इत्यादि अलकार होते हैं और जो अङ्गी रस या भाव सर्वाकार रूप में अलंकार्य होते हैं वे ही ध्वनि की आत्मा बनते हैं।' आशय यह है कि दूसरों का बतलाया हुआ विषय–विभाग ठीक नहीं है। 'रस या भाव' में 'या' से रसाभास, भावाभास और भावप्रशम का भी ग्रहण हो जाता है। 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है। इसका अर्थ है सभी प्रकार से 'अलंकार्य होते हैं' में अलंकार्य का आशय यह है कि अङ्गी होने पर अलंकार्य होने के कारण ही वे अलंकार नहीं हो सकते।

[प्रस्तुत प्रकरण में रस की ध्वनिरूपता और अलंकाररूपता के विषय-विभाजन पर विचार किया गया है। ध्वनिकार के मत में सिद्धान्त पक्ष इस प्रकार है—१. जहाँ पर रस (काव्यानन्द) का विकास प्रधान रूप में होता है। उसके पोषण के लिये दूसरे अलंकारों का प्रयोग किया जाता है। वह रस किसी दूसरे तत्त्व का स्वयं पोषक नहीं होता। वहाँ पर रस ध्वनि का रूप धारण करता है। इसी प्रकार भाव इत्यादि के विषय में भी समझना चाहिये। २. जहाँ पर कोई अन्य तत्त्व प्रधान होता है और रस उस प्रधानीभूत तत्त्व का पोषण करते हुये अलंकरण करता है। वहाँ पर रस अलंकार कहा जाता है। इसी प्रकार भाव इत्यादि भी अलंकार का रूप धारण कर सकते हैं। ३. जहाँ पर रति इत्यादि भावों के समुचित उपकरणों द्वारा परिपोष को प्राप्त हो जाने पर रस का ठीक रूप में परिपाक होता है; कोई दूसरा रस या भाव

तारावती

उसका पोषक होकर आता है और उसके पुष्ट करने के लिये उपमा इत्यादि काप्र योग भी किया जाता है वहाँ रस या भाव के साथ उपमा इत्यादि की संसृष्टि अथवा संकर होता है। ४. जहाँ पर किसी प्रधानीभूत रस का परिपाक हो जाता है और उसको पुष्ट करने के लिये किसी दूसरे रस या भाव का प्रयोग नहीं किया जाता, वहाँ पर जिन उपमा इत्यादि का प्रयोग किया जाता है वह उपमा इत्यादि का स्वतन्त्र विषय होता है। यह विषय-विभाजन ध्वनि-सम्प्रदाय-सम्मत हैं। अलंकार सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य यही मानते हैं कि रस सर्वत्र अलंकार ही होता हैं। किन्तु उनकी मान्यता में सबसे बड़ा दोष यही है कि रस तो सर्वत्र विद्यमान होगा ही। ऐसी दशा में एक अलंकार तो विद्यमान हो ही गया। अब यदि उपमा इत्यादि किसी दूसरे अलंकार का प्रयोग किया जाता है तो रस इत्यादि अलंकार से उसकी संसृष्टि या संकर हो जावेगा और उपमा इत्यादि का कही भी स्वतन्त्र विषय नहीं मिलेगा। प्राचीन आचार्य इस पर यह तर्क देते हैं कि रस परिपाक के लिये चित्तवृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित तथा अनिवार्य है। अतः रस की सत्ता सर्वत्र वहीं मानी जा सकती है जहां काव्य का विषय कोई चेतन तत्त्व हो। क्योंकि चेतन तत्त्व में ही चित्तवृत्ति सम्भव है। किन्तु काव्य का विषय सर्वत्र चेतन तत्त्व ही बनता हो ऐसी बात नहीं है। जड़ तत्त्व भी काव्य का विषय बनता है। अतएव जहां पर जड़ पदार्थों का काव्य के विषय के रूप में उपादान किया जावेगा वहां पर रस आदि न होने के कारण उपमा इत्यादि अलंकारों का स्वतन्त्र विषय उपलब्ध हो जावेगा। इस पर ध्वनि-सम्प्रदायवादियों को आपत्ति यह है कि विना चित्तवृत्ति के न तो काव्य ही सम्भव है, न इतिहास ही और न शास्त्र ही। जहां कहीं जड़, पदार्थ भी काव्य का विषय बनेंगे वहां भी चित्तवृत्ति का संयोग किसी न किसी रूप में होगा ही। फिर चाहे वे तत्त्व चित्तवृत्ति के आलम्बनरूप हों चाहे उद्दीपनरूप। चित्तवृत्ति के अभाव में काव्य ही सम्भव नहीं हो सकता। इस आपत्ति का निराकरण करने के मन्तव्य से पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि १—जहां पर चेतन तत्त्व प्रधानतया वाक्यार्थ हो वहां पर रस इत्यादि अलंकार होते हैं और २—जहां जड़ पदार्थ प्रधानतया वाक्यार्थ हों वहां पर चेतन तत्त्व के किसी न किसी रूप में योजना होने पर भी रस अलंकार नहीं माना जा सकता। किन्तु इस विषय-विभाजन में सबसे बड़ा दोष यह है कि अनेक काव्यों से अचेतन तत्त्व प्रधानतया वाक्यार्थ बने हैं किन्तु चेतनों का उनपर आरोपकर उन्हें सरस बना दिया गया होता है। इस प्रकार के काव्य रसात्मक साहित्य में अमूल्य मणि माने जाते हैं। यदि चेतन के यथाकथञ्चित् योग में रसात्मकता नहीं मानी जावेगी तो इस प्रकार के रसनिधानभूत अनेक काव्य नीरस माने जाने लगेंगे। इस प्रकार पूर्ववक्षी उभयतःपाशा रज्जु से आक्रान्त हो गया। यदि चेतन तत्त्व के यथाकथञ्चित् योग में रस माना जाता है तो उपमा इत्यादि की स्वतन्त्र सत्ता का विषयापहार हो जाता है और यदि ऐसे स्थानों में रस नहीं माना जाता तो रस के अमूल्य कोष नीरसता की कोटि में जा पड़ते हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षी को कहीं निकलने का अवसर नहीं है।

तारावती

अतएव ध्वनिकार का सिद्धान्त मानने से ही निस्तार हो सकता है कि जहां पर रस दूसरे तत्त्व का अलंकरण कर रहा हो वहां पर वह अलंकार होता है और जहां पर स्वयं स्वतन्त्र रूप में आस्वादन का विषय बन रहा हो वहां पर वह अलंकार्य होता है और उसे ही ध्वनि कहते हैं। इस व्याख्या के मानने से कोई दोष नहीं आता।

रुय्यक ने अपने अलंकारसर्वस्व में प्राचीनों और नवीनों की रसालंकार-विषयक मान्यता पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—"१—जहां पर विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों द्वारा विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति प्रकाशित की जाती है उसे रस कहते हैं। २—विभाव और अनुभाव के द्वारा सूचित किया हुआ निर्वेद इत्यादि ३३ भेदोंवाला भाव कहलाता है, देव इत्यादि विषयक रति को भी भाव कहते हैं। ३—उनके आभास का अर्थ है रसाभास और भावाभास। अविषय में प्रवृत्ति होने के कारण जहां पर अनौचित्य की प्रतीति हो रही हो उसे आभास कहते हैं। ४—प्रशम उसे कहते हैं जहां पर उक्त दोनों प्रकारों से निवर्तित होने के कारण अवस्था प्रशान्त होने लगती है। उनमें भी रस पर-विश्रान्तिरूप होता है। अतः रसप्रशम सम्भव नहीं है। इसलिये अवशिष्ट दूसरे भेद के विषय में ही यह समझा जाना चाहिये। रसवत् उसे कहते हैं जिस निबन्ध में निबन्धरूप व्यापार में रस विद्यमान हो। प्रेय का अर्थ है प्रियतर। यह प्रियतर निबन्ध ही होता है। इसी प्रकार ऊर्जस्वी का अर्थ है ऊर्ज अर्थात् बल जिसके अन्दर विद्यमान हो। वह भी निबन्धन हो सकता है। यहाँ पर बल शब्द का योग इसीलिये किया गया है कि इसमें अनौचित्य के साथ प्रवृत्ति होती है। (अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने में कुछ बल तथा कुछ साहस अपेक्षित होता ही है।) समाहित का अर्थ है परिहार अथवा समेटना। प्रकृत में वह उक्त भेद के विषय में ही लागू होता ह अतः उसका दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'प्रशम' है। उनमें जिस दर्शन में वाक्यार्थ के रूप में स्थित रस इत्यादि (प्रधानीभूत रस इत्यादि) रसवत् अलंकार माने जाते हैं उसमें अङ्गभूत रस इत्यादि के विषय में जो रसवत् इत्यादि अलंकार होते हैं उन्हें द्वितीय उदात्तालंकार कहा जाता है। इसके प्रतिकूल जिस सिद्धान्त में अंगभूत रस इत्यादि के विषय में रसवत् इत्यादि अलंकार होते हैं क्योंकि दूसरा प्रकार (प्रधानीभूत इत्यादि) रसध्वनि से व्याप्त होता है वहाँ पर उदात्तालंकार का विषय ही शेष नहीं रह जाता क्योंकि उसके विषय को रसवत् अलंकार ही व्याप्त कर लेता है।" यह है रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का अनुवाद।

कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में रसवत् इत्यादि अलंकार की मान्यता का सर्वथा निषेध कर दिया है उन्होंने प्राचीन आचार्यों की मान्यता का भी खण्डन किया है और ध्वनिकार की मान्यता का भी। इन आचार्यों की मान्यताओं की परीक्षा युक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा कुन्तक ने बड़े विस्तार से की है। रसवत् अलंकार के विषय में ठीक परिचय प्राप्त करने के लिये विभिन्न आचार्यों की मान्यताएँ तथा उन पर कुन्तक के विचारों का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा।

तारावती

कुन्तक ने रसवत् अलंकार के खण्डन में दो तर्क दिये हैं—(१) सत्कवियों के वाक्यों में आये हुए समस्त अलंकारों में यह प्रतीति विद्यमान रहती है कि यह अलंकार है और यह अलंकार्य है। किन्तु कितना ही विचार किया जावे, रसवत् अलंकार के विषय में अलंकार और अलंकार्य का भेद अवगत ही नहीं होता। यदि प्रधानतया वर्ण्यमान शृंगार इत्यादि को अलंकार्य माना जावे तो उसका कोई न कोई अलंकार होना ही चाहिए अन्यथा उसमें अलंकार्यत्व आ ही नहीं सकेगा। यदि तद्विदाह्लादनिबन्धत्व धर्म होने के कारण शृंगार इत्यादि को ही अलंकार कहा जावे तो दूसरा अलंकार्य होना ही चाहिये। इस प्रकार अलंकार तथा अलंकार्य के ठीक रूप में विषय-विभाग न हो सकने के कारण रसवत् अलंकार स्वीकार्य नहीं हो सकता। (२) रसवत् अलंकार में शब्दार्थ की सङ्गति भी नहीं होती। 'रसवत्' शब्द में रस शब्द से मतुप् प्रत्यय किया गया है। अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'रस जिसमें विद्यमान हो ऐसा तत्त्व।' इसके बाद रसवदलंकार शब्द में दो समास संभव हैं षष्ठीतत्पुरुष रसवत् का अलङ्कार अथवा विशेषण कर्मधारय-रसवान अलङ्कार। यदि षष्ठी तत्पुरुष माना जावे तो प्रश्न पैदा होगा कि वह रसवत् कौन वस्तु है जिसका यह अलंकार होगा ? यदि वह वस्तु काव्य ही हो तो दूसरा प्रश्न यह उठेगा फिर वह वस्तु कौन सी है जिसको अलंकार का नाम दिया गया है ? किसी भी काव्य में रस तत्त्व ही उसका काव्यत्व होता है। अतः षष्ठी समास पक्ष में रस तत्त्व का अर्थ होगा काव्यत्व और रसवदलंकार शब्द का अर्थ होगा—काव्यत्व के अलंकार॥ उपमा रूपक इत्यादि सभी अलङ्कार काव्यत्व के ही होते हैं। अतः सभी अलङ्कार रसवदलंकार ही कहे जावेंगे। इसी प्रकार रसवान् अलंकार यह कर्मधारय समास करने पर भी यही बात होगी। क्योंकि सभी अलंकार रसवान् ही होते हैं। इस प्रकार रसवदलंकार का शब्दार्थ ठीक नहीं बैठता। कुन्तक ने सामान्यतया रसदलंकार के खण्डन करने में यही दो तर्क दिये हैं।

इनके अतिरिक्त कुन्तक ने रसवदलंकार के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों की परीक्षा भी की है। सर्वप्रथम भामह के लक्षण को लीजिए—भामह के रसवत् अलंकार के लक्षण में दो पाठ पाये जाते हैं—(१) 'दर्शितस्पृष्टशृङ्गारादिरसं रसवत्' और (२) 'दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं रसवत्।' यदि प्रथम पाठ माना जावे तो इसका अर्थ होगा—'जहाँ पर स्पर्श किये हुये शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये गये हों' यदि दूसरा पाठ माना जावे तो इसका अर्थ होगा—'जहाँ पर स्पष्ट रूप में शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जावें।' दोनों पाठों में यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि यह क्या वस्तु है जिसमें शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जाते हैं ? यदि कहो कि वह वस्तु काव्य ही है जिसमें शृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जाते हैं तो इसका अर्थ होगा—काव्य ही अलंकार है। काव्य को अलंकार मानने पर वदतो व्याघात दोष होगा। क्योंकि पहले तो भामह ने यह कहा कि काव्य के एकदेश शब्द और अर्थ में अलंकार होते हैं और बाद में काव्य को ही अलंकार कह दिया। यह बात सङ्गत नहीं हो सकती। यहाँ पर दूसरा

तारावती

समास सम्भव है तृतीया के अर्थ में बहुव्रीहि। अर्थात् 'स्पष्ट रूप में दर्शित किये गये हैं शृङ्गार इत्यादि रस जिसके द्वारा'। तब भी यही प्रश्न उपस्थित होगा कि शृङ्गार इत्यादि रस स्पष्ट रूप में किसके द्वारा दिखलाये जाते हैं ? क्या प्रतिपादन-वैचित्र्य के द्वारा ? स्पष्ट रूप में रसादि का प्रतिपादन वैचित्र्य तो रसादि का स्वरूप ही होगा। दूसरी बात यह है कि रसवदलंकार शब्द में षष्ठी तत्पुरुष करने पर रसवत् काव्य का अलंकार रसवत् अलंकार होता है इस कथन में कोई सार नहीं। इस प्रकार भामहाभिमत रसवत् अलङ्कार की परिभाषा निस्सार सिद्ध हो जाती है।

उद्भट ने रसवदलङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायि सञ्चारि विभावाभिनयास्पदम्।

(रसवत् अलङ्कार उसे कहते हैं जिसमें स्पष्ट रूप में शृंगार इत्यादि रस का उदय दिखलाया गया हो और जो स्वशब्द, स्थायी भाव, सञ्चारी भाव विभाव तथा अभिनय (अनुभाव) में प्रतिष्ठित हो।) इस लक्षण में कोई नई बात नहीं कही गई है। भामह ने जो कुछ कहा था उसी का विस्तार कर दिया गया है। नई बात केवल एक है और वह यह है कि रसवत् अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ रस स्वशब्दवाच्य हो। कुन्तक का कहना है कि उद्भट ने तो रस को स्वशब्दवाच्य कहकर संसार के सभी भोग सभी व्यक्तियों के लिये सुलभ बना दिये हैं। अब तो जिस प्रकार रस शब्द का उच्चारण करने से रसास्वादन हो जावेगा उसी प्रकार राज्य शब्द का उच्चारण करने से राजा होने का आनन्द आ जावेगा—पूड़ी कचौड़ी का नाम लेने से उत्तम प्रकार के भोजन का आनन्द सहज रूप में प्राप्त हो आवेगा। आशय यह है कि रसवत् अलङ्कार के विषय में भामह के समान उद्भट का मत भी निस्सार ही है।

दण्डी के रसवत् अलङ्कार के लक्षण में दो प्रकार का पाठ पाया जाता है—'रसवद्रससंश्रयात्' और 'रसवद्रसपेशलम्'। 'रससंश्रयात्' शब्द का दो प्रकार से विग्रह हो सकता है—'रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः तस्मात्कारणात्' अर्थात् रस जिसका आश्रय हो उस कारण से उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। प्रश्न यह है कि वह क्या वस्तु है ? पहले ही बतलाया जा चुका है कि काव्य नहीं हो सकता। दूसरा समास तत्पुरुष हो सकता है अर्थात् रस का आश्रय या रस के द्वारा जिसका आश्रय लिया जाता है। इसमें भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह क्या वस्तु है। 'रसपेशलम्' पाठ की भी वही दशा है। इस प्रकार तर्क की कसौटी पर दण्डी का मत भी खरा नहीं उतरता।

यदि यह कहा जावे कि जिस प्रकार सूखे वृक्ष में सरसता आ जाने से वृक्ष हरा-भरा हो उठता है उसी प्रकार अलङ्कार्य शब्दार्थसमूह रूप वाक्यार्थ होता है, उसमें सरसता का सम्पादन कर रस-अलङ्कार बन जाता है। यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी दशा में प्रधान और

तारावती

गौण का विपर्यास हो जावेगा। काव्य में रस प्रधान होता है वह गौण हो जावेगा और वाच्यार्थ गौण होता है वह प्रधान हो जावेगा।

इसके बाद कुन्तक ने आन्दवर्धन की मान्यता की आलोचना की है। चेतन और अचेतन के विषय में आनन्दवर्धन ने जो कुछ कहा था कुन्तक ने उस सबका उसी रूप में समर्थन करते हुये ध्वनिकार का ही अतिदेश कर दिया। ध्वनिकार की सैद्धान्तिक आलोचना में कुन्तक ने केवल इतना कहा कि ध्वनिकार ने 'काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः' इस वाक्यखण्ड में रस को अलङ्कार कहा। 'रसवत्' के मतुप् प्रत्यय को क्यों छोड़ दिया? ध्वनिकार के मत में मतुप् प्रत्यय का निर्वाह किस प्रकार होगा? इसके अतिरिक्त कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा दिये हुये उदाहरणों की ही केवल आलोचना की सैद्धान्तिक मान्यता के विषय में और कुछ नहीं कहा।

इस प्रकार समस्त प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं का खण्डन कर कुन्तक ने अन्त में अपनी दृष्टि से एक नया ही स्वरूप बतलाया हैं। उनका कहना है कि रसवत् शब्द में मतुप् प्रत्यय नहीं अपितु तुल्य अर्थ में वत् प्रत्यय है। (तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः) इस प्रकार रसवत् का अर्थ होता है रस के समान। जब उपमा इत्यादि कोई अलङ्कार काव्य में सरसता सम्पादन करने के कारण रस की समता धारण कर लेता है तब उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। एक मात्र यह अलङ्कार काव्य का सर्वस्व बन जाता है और समस्त अलंकारों का जीवन हो जाता है। इस प्रकार के रसवत् के कुन्तक ने कई उदाहरण दिये हैं। डा० नगेन्द्र ने इस पर टिप्पणी करते हुये वक्रोक्ति जीवित की भूमिका में लिखा है—'जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो दो मत हो ही नहीं सकते। क्योंकि काव्य के मनोविज्ञान का यह स्वीकृत सत्य है कि कल्पना भाव के संसर्ग से ही रमणीय बनती है—काव्यशास्त्र की शब्दावली में रस के संयोग से ही अलंकार में काव्यत्व अथवा चारुता आती हैं। रस और कल्पना का मणिकाञ्चन योग ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है और कुन्तक ने उसका प्रतिपादन कर निश्चय ही अपने प्रौढ़ काव्यज्ञान का परिचय दिया है।' इसके बाद डाक्टर महोदय ने इस प्रकरण का उपसंहार करते हुये लिखा है—'अतः उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि रसवत् अलंकार वास्तव में कोई अलंकार नहीं है क्योंकि विषय से संबद्ध होने के कारण रस अलंकार्य ही है, अलंकार नहीं है। उसकी स्थापना के लिये प्रकारान्तर से भी जो प्रयत्न किये गये हैं उनसे भी कम से कम उनकी अलंकारता की सिद्धि नहीं होती।'

ऊपर रसवत् अलंकार के विषय में अन्य आचार्यों की मान्यताओं के खण्डन तथा कुन्तक के अपने मत का सार दिया गया है। इस प्रकार हम रसवत् अलंकारविषयक समस्त धारणाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) ध्वनिकार के पूर्व की धारणायें, (२) ध्वनिकार की धारणा और (३) कुन्तक की धारणा। ध्वनिकार के पूर्व इस विषय

तारावती

में जितने भी मत हैं उन सबका सार यही है कि जहाँ कहीं रस होता है वहीं रसवत् अलंकार माना जाता है। वास्तविकता यह है कि ध्वनिकार के पहले आचार्यों का ध्यान अलंकार्य तथा अलंकार के भेद की ओर गया ही नहीं था। इन लोगों की सामान्य धारणा का यदि विश्लेषण किया जावे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ये लोग नित्य प्रति की व्यावहारिक भाषा तथा काव्य-भाषा में भेद मानते थे। इन लोगों का विचार था कि काव्य की भाषा में एक रमणीयता होती है, एक आकर्षण होता है और एक वैलक्षण्य होता है जो लोक-भाषा में नहीं होता। इसीलिये सर्वसाधारण का आकर्षण काव्य की ओर विशेष रूप से होता है। काव्य में कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान होते हैं जो उसमें रमणीयता का आधान करते हुये उसे ग्राह्य बना देते हैं। जो भी तत्त्व काव्य में रमणीयता का आधान कर उसे ग्राह्य बनाते हैं वे अलंकार कहलाने के अधिकारी हैं फिर वे चाहे रस हों, चाहे भाव हों, चाहे कोई और तत्त्व हों। इसी लिये ये लोग रस को भी अलंकार की संज्ञा प्रदान करते थे और उसे 'रसवत्' इस नाम से पुकारते थे। 'रसवत्' यह एक अलंकार का नाम मात्र है। इस शब्द के साथ कुन्तक ने अलंकार शब्द को जोड़ कर 'रसवदलंकार' शब्द बनाकर षष्ठी तत्पुरुष तथा समानाधिकरण कर्मधारय का जो विवाद उठाया है वह अनावश्यक भी है, अप्रासङ्गिक भी और अयथार्थ भी। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि 'रसवत्' संज्ञा डित्थ-डवित्थ की भाँति यदृच्छाशब्द तो है नहीं, यह एक अन्वर्थ संज्ञा है, फिर इसका अर्थ क्या है और इसके नामकरण का कारण क्या है? वस्तुतः काव्य को ग्राह्य बनानेवाले तत्त्वों में एक रस भी है। अतः जो लोग काव्य को ग्राह्य माननेवाले समस्त तत्त्वों को अलंकार नाम से अभिहित करने के पक्षपाती हैं उनके मत में रस को ही अलकार कहा जाना चाहिये फिर नाम करण में मतुप् प्रत्यय क्यों जोड़ दिया गया है? महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में लिखा है कि दाक्षिणात्य लोग तद्धित के प्रेमी होते हैं। वे लोग 'लोक में' 'वेद में' कहने के स्थान पर प्रायः 'लौकिक में' 'वैदिक में' कहा करते हैं। पतञ्जलि ने यह बात किसी सामान्य व्यक्ति के लिये नहीं कही अपितु महावैय्याकरण तथा मुनीत्रयी में महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कात्यायन के विषय में कही है। ज्ञात होता है किसी दाक्षिणात्य ने या दाक्षिणात्य के समान किसी तद्धित-प्रेमी ने रसालंकार कहने के स्थान पर रसवदलंकार शब्द का प्रयोग दिया होगा और परम्परानुरोध से वही शब्द चल पड़ा। इसीलिये ध्वनिकार ने रसालंकार शब्द का प्रयोग किया है रसवदलंकार का नहीं। (काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।) यदि हम प्राचीन आचार्यों का अध्ययन उन्हीं के दृष्टिकोण से करें तो रसवदलंकारों में अलंकार्य और अलंकार के विभाजन की चेष्टा होनी ही नहीं चाहिये। प्राचीनों का मन्तव्य केवल इतना ही था कि अनेक तत्त्वों में रस भी एक ऐसा तत्त्व है जो काव्य को ग्राह्य बनाने में सहायक होता है अतः वह अलंकार

तारावती

शब्द द्वारा अभिहित किये जाने का अधिकारी है। अथवा यदि अलंकार तथा अलंकार्य के विभाजन के बिना सन्तोष न हो तो यहाँ मान लिया जा सकता है कि सामान्य शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं और रस अलंकारक होता है। शब्दगत और अर्थगत अलंकार माने ही जाते हैं और लोचनकार ने रस की उपमा इत्यादि से समानता स्थापित करते हुये लिखा ही है कि जिस प्रकार साम्य का आधान कर उपमा उपकारक होती है उसी प्रकार सरसता का सम्पादन कर रस भी प्रस्तुत का उपकारक हो जाता है। इस आचार्यों के मत में अलंकार हो जाने पर रस की गौणता भी प्रसक्त नहीं होती क्योंकि ये आचार्य अलंकार को गौण तत्त्व मानते ही नहीं थे।

ध्वनिकार काव्यशास्त्र के इतिहास में एक सीमास्तंभ हैं। इन्होंने प्राचीन काल से चली आती हुई काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का पुनः परीक्षण किया और काव्यशास्त्र से सम्बद्ध प्रत्येक तत्त्व को उसके उचित स्थान पर विन्यस्त करने की चष्टा की। ध्वनिकार ने अलंकार और अलंकार्य के विभाजन पर भी उचित विचार किया। यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जावे तो ज्ञात होगा कि ध्वनिकार के मत में सौन्दर्य ही अलंकार्य होता है। अलंकार उस सौन्दर्य की अभिवृद्धि का साधन होता है। काव्य में अलंकार्य [वही तत्त्व होता है जिनमें सौन्दर्य पर्यवसित होता है। दूसरे तत्त्व जो सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं अलंकार कहलाते हैं। काव्य की भाषा वही नहीं होती जो कि लोक में प्रयुक्त की जाती है। लोक में हम प्रायः अपना मन्तव्य सीधे-सीधे शब्दों में कह देते हैं। किन्तु काव्य में कोई बात कही नही जाती अपितु अभिव्यक्त की जाती है। जब लोक-भाषा काव्यार्थप्रत्यायन में कुण्ठित हो जाती हैं तब कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो कि अपने लौकिक अर्थ से भिन्न एक नया अर्थ (प्रतीयमान अर्थ) देने लगते हैं, जिसमें एक ऐसा सौन्दर्य होता है जो बलात् परिशीलक के अन्तःकरण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता हैं। यद्यपि यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता हैं वस्तु, अलंकार और रस, तथापि काव्य का आस्वाद्यरूप सौन्दर्य उसके भाव पर ही आजारित रहता है। अतः भावानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति ही रमणोयवा के आधार का एकमात्र साधन है जिससे किसी भी काव्य को काव्यरूपता प्राप्त हो जाती है। यह भावानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति दो रूपों में विभाजित की जा सकती हैं—मुख्यरूप में तथा अमुख्यरूप में। जो भावात्मक अर्थ कवि का मुख्य अभिव्यङ्ग्य होता है उसी को ध्वनि संज्ञा प्राप्त होती है। वह रस या भाव ही अलंकार्य होता है और उसी के लिये अलंकारों का प्रयोग हुआ करता है। वैसे तो रमणीयता का आधार कोई भी भाव हो सकता है, भाव के माध्यम ही से रमणीयता आस्वाद्य हो जाती है किन्तु अलंकारों का प्रयोग उस रमणीयता की अधिकाधिक अभिवृद्धि कर देता है। अतः मुख्यतया प्रतिष्ठित भाव की रमणीयता के अभिवर्धक जितने भी तत्त्व होते हैं उन्हें ही अलंकार

तारावती

कहा जाता है। ध्वनि-संज्ञा को प्राप्त होनेवाले मुख्य भाव के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भाव भी काव्य में प्रयुक्त होते हैं। ये भाव मुख्य भाव-प्रवण होकर उसके सौन्दर्य को बढ़ाने में निमित्त हो जाते हैं। अतः इन भावों को भी मुख्य अलंकार्य भाव का अलंकरण करने के कारण अलंकार कहा जाता है। उदाहरण के लिए भक्ति काव्य में कवि के अन्तःकरण में स्थित आराध्य के प्रति प्रेम ही मुख्यतया अभिव्यक्त होकर आस्वादन में निमित्त होता है। भक्त भावावेश में अपने आराध्य के जिन लोकोत्तर कृत्यों का प्रकथन करेगा वे कृत्य अनेक भावनाओं को अभिव्यक्त करनेवाले होंगे। इस प्रकार अभिव्यक्त होनेवाली भावनायें रसरूपिणी भी हो सकती हैं, भावरूपिणी भी और भावों की विभिन्न दशाओं से सम्बद्ध भी। इस प्रकार की जो भावनायें भक्तगत आराध्यालम्बनात्मक भाव (भक्ति) की अभिवृद्धि करेंगी वे उस भाव का अलंकरण करने के कारण अलंकार ही कहलावेंगी। आशय यह है कि ध्वनिरूप में स्थित रस; भाव या किसी अन्य तत्त्व को सौन्दर्याभिवर्धन के द्वारा अलकृत करनेवाला रस रसालंकार या रसवदलंकार कहलाता है। यही ध्वनिकार की मान्यता का सार है। इस मान्यता में अलंकार्य और अलंकार के ठीक रूप में विभाजित न किये जाने का भी दोष नहीं आता। क्योंकि स्पष्ट रूप में मुख्यतया अभिव्यङ्ग्य रस इत्यादि अलंकार्य होता है और उसके सौन्दर्यातिशय का सम्पादक रस अलंकार होता है। यह अलंकार वस्तुतः रसालंकार ही होता है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। रसवदलंकार का प्रयोग ध्वनिवादियों ने परम्परा-निर्वाह के मन्तव्य से ही किया है। इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए आचार्य कुन्तक ने कुछ नहीं कहा। कुन्तक ने केवल आनन्दवर्धन के दिये हुये उदाहरण का खण्डन किया है। आनन्दवर्धन के सिद्धान्त के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा। वस्तुतः उदाहरण के सङ्गत न होने से किसी सिद्धान्त का खण्डन नहीं हो जाता। फिर भी उदाहरणों के विषय में कुन्तक ने जो कुछ कहा है उसकी भी एक परीक्षा कर लेना ठीक होगा।

कुन्तक ने 'तन्वीमेघ जलार्द्र······जातानुतापेव सा' तथा 'तरङ्गभ्रूभङ्गा······सा परिणता' इन दो पद्यों को रसवदलंकार का उदाहरण मानकर इनकी रसवदलंकारपरक योजना स्वयं की है और उसके खण्डन के लिये जो युक्ति दी है उसका पाठ उच्छिन्न हो गया है। अतः यह ज्ञात नहीं होता कि कुन्तक ने इन पद्यों की रसवदलंकारता का खण्डन किस आधार पर किया हैं। वास्तविकता यह है कि आनन्दवर्धन ने ये उदाहरण रसवदलंकार के नहीं दिये हैं अपितु इन पद्यों को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया है कि केवल चेतन वस्तु ही रस का विषय बन सकती है। यही कुन्तक ने भी माना है और अपनी बात को सिद्ध करने के लिये आनन्दवर्धन का अतिदेशमात्र कर दिया है। कुन्तक भ्रमवश इन पद्यों को रसवदलंकार का उदाहरण समझ गये हैं।

इसके बाद कुन्तक ने आनन्दवर्धन के वास्तविक उदाहरणों पर विचार किया है। पहले

तारावती

'क्षिप्तोहस्ता···वः शराग्निः' इस उदाहरण पर विचार किया गया है। इस विषय में कुन्तक ने लिखा है—'केवल शब्दसाम्य के आधार पर विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थों का अध्यास परमात्मा भी नहीं कर सकता। केवल शब्दसाम्य से विरुद्ध धर्मों की एकता की प्रतीति अनुभव-विरुद्ध हैं। यदि इसी प्रकार की एकता मानी जाने लगेगी तो 'गुड–खण्ड' शब्द से विषास्वाद भी प्रतीतिगोचर होने लगेगा। दूसरी बात यह है कि यदि शब्दसाम्य से वैसी प्रतीति मानी भी जावे तो भी करुण और श्रृङ्गार इन दो विरोधी रसों का एकत्र समावेश दोष हो जावेगा। पता नहीं कुन्तक ने यह खण्डन आनन्दवर्धन का किया है या अमरुक का। यदि आनन्द-वर्धन का खण्डन हैं तो अमरुक ने जो 'कामीव' लिखकर शब्दसाम्य के आधार पर उपमा का प्रयोग किया है उसकी क्या व्याख्या होगी? यद्यपि शब्द-साम्य के आधार पर बिम्ब-ग्राही उपमा का प्रयोग नहीं हो सकता और न उपमा उतने अधिक सादृश्य का ही प्रतिपादन कर सकती है, तथापि शब्द पर आधारित उपमा भी सहृदयों के चित्तों की कुछ न कुछ आवर्जक होती ही है। इसमें सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं। इसीलिये महाकवियों के काव्य में भी शब्दसादृश्य पर आधारित उपमा का प्रयोग देखा जाता है। दूसरा आरोप है विरोधी रसों के एकत्र समावेश का। शास्त्रकारों ने श्रृङ्गार और करुण को परस्पर विरोधी माना है। प्रस्तुत पद्य में इन दोनों रसों का एकत्र समावेश किया गया है। कुन्तक का कहना है कि यह काव्य का दोष है। किन्तु विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश वहीं पर दोष होता है जहाँ दो में कोई एक प्रधान हो। जहाँ दोनों रस किसी दूसरे तत्त्व के अङ्ग होने के कारण गौण हो जाते हैं वहाँ पर उनका परस्पर समावेश ही नहीं होता अतः वह दोष नहीं माना जाता। यहाँ पर भक्त-गत शिवालम्बनक रतिभाव प्रधान है और करुण तथा ईर्ष्याविप्रलम्भ दोनों ही उसके अंग हो रहे हैं। अतः उनका एकत्र समावेश दोष नहीं माना जा सकता। कुन्तक का कहना हैं कि यहाँ पर सादृश्य का कारण वास्तविक नहीं है, अतः यह दोष है। इस विषय में पहले ही बतलाया जा चुका है कि कविपरम्परा के अनुसार शब्द-साम्य भी उपमा का प्रयोजक होता है। इस प्रकार इस उदाहरण का कुन्तक द्वारा किया हुआ खण्डन ठीक नहीं है।

कुन्तक ने दूसरे उदाहरण के खण्डन का उपक्रम करते हुये लिखा है कि 'आलोककार को स्वयं प्रथम उदाहरण से सन्तोष नहीं था और वे अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की सङ्गति पूर्णरूप से बैठाना ही चाहते थे। अतः उन्होंने क्रोध में भर कर एक दूसरा उदाहरण दे दिया किन्तु कुन्तक यहाँ पर यह भूल गये कि आनन्दवर्धन ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः······' यह उदाहरण बाद में दिया और जिसको कुन्तक दूसरा उदाहरण कहते हैं वह उन्होंने पहले दिया है। अतः यह कहना किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं हो सकता कि प्रथम उदाहरण में अरुचि होने के कारण आनन्दवर्धन ने दूसरा उदाहरण दिया है। दूसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन ने दोनों उदाहरणों का क्षेत्र पृथक् पृथक् रक्खा है। अतः यह कहना कि एक उदाहरण से असन्तुष्ट होकर

तारावती

आनन्दवर्धन ने दूसरा उदाहरण दिया है किसी प्रकार भी ठीक नहीं कहा जा सकता। 'किं हास्येन न मे........रिपुस्त्रीजनः' यह ध्वन्यालोक का प्रथम उदाहरण है और कुन्तक ने इसे ध्वन्यालोक का दूसरा उदाहरण बतलाया है। आनन्दवर्धन ने यह उदाहरण देकर लिखा था कि यहाँ पर करुण रस राजविषयक रतिभाव का अङ्ग हो रहा है। इस पर कुन्तक ने लिखा है—"यहाँ पर करुण रस ही उपपन्न नहीं होता, क्योंकि पतियों के मारे जाने से ही स्त्रियों का बियोग हो ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी महापुरुष के प्रताप से आक्रान्त होकर शत्रुजन या उनकी स्त्रियाँ भाग गई हों और इस प्रकार उनका वियोग हो गया हो।" किन्तु यहाँ पर करुण रस मानने मे चमत्कार का आधिक्य है। शत्रुओं के भाग जाने की अपेक्षा शत्रुओं के मारे जाने में राजा के शौर्य का आधिक्य अभिव्यक्त होता हैं। अतः यहाँ पर प्रवास-विप्रलम्भ न मानकर करुण रस ही माना जाना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यहाँ मुख्य विषय करुण और विप्रलम्भ के निर्णय का नहीं है। यहाँ मुख्य विषय है रस को अलंकार सिद्ध करने का। चाहे यहाँ करुण माना जावे चाहे विप्रलम्भ, दोनों में कोई भी रस राजविषयक रतिभाव का अङ्ग ही होकर आया है अतः वह अलंकार ही है इसमें सन्देह नहीं। इसके आगे कुन्तक लिखते हैं—"यहाँ पर परिपोष पदवी को करुण रस ही प्राप्त होता है। यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार की गन्ध भी नहीं है।" आनन्दवर्धन ने भी यहाँ पर करुण रस ही माना है, विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं, अतः यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार का खण्डन अप्रासङ्गिक है। इसके बाद कुन्तक लिखते हैं—"इन दोनों उदाहरणों में करुण रस ही व्यङ्ग्य है, अतः वही प्रधान है। वह (व्यङ्ग्य होने के कारण) राजस्तुति इत्यादि किसी भी चाटूक्ति का अङ्ग नहीं हो सकता।" यहाँ पर कुन्तक इस भ्रम में प्रतीत होते हैं कि जो व्यङ्ग्य होता है वह प्रधान अवश्य होता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कोई तत्त्व व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नहीं हो सकता और दूसरा तत्त्व वाच्य होकर भी प्रधान हो सकता है। देखना यह होता है कि किसी विशेष स्थान पर मुख्य वर्ण्य विषय क्या है? जो मुख्य वर्ण्य विषय होता है वही प्रधान माना जाता है चाहे वह व्यङ्ग्य हो चाहे वाच्य। इसके प्रतिकूल प्रधानतया वर्ण्यमान उस विषय को पुष्ट करने के लिये जितने भी तत्त्व आते हैं वे सब गौण होकर अलंकरण करने के कारण अलंकार कहे जाते हैं। प्रस्तुत उदाहरणों में यद्यपि करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है तथापि उसका उपादान शिवभक्ति तथा राजविषयक रति में सरसता सम्पादन के मन्तव्य से ही हुआ है। शिवभक्ति तथा राजविषयक रति प्रधानता वर्ण्यमान होने के कारण अंगी है तथा वे ही अलंकार्य है। करुण रस का अभिव्यञ्जन उन भावों में सरसता सम्पादन के लिये किया गया है। अतः व्यङ्ग्य होते हुये भी करुण रस अलंकार के रूप में स्थित है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के दोनों उदाहरण समीचीन हैं और कुन्तक ने उनका खण्डन ग्रन्थ के ठीक अभिप्राय को न समझ करके ही किया है।

तारावती

अब कुन्तक की अपनी परिभाषा पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिये। कुन्तक 'रसवत्' शब्द में मतुप् प्रत्यय नहीं मानते अपितु वत् प्रत्यय मानते हैं। यहाँ पर पूछना यह है कि 'रसवत्' सभी अलंकारों का विशेषण है या रसवत् नाम का कोई एक अलंकार होता है? यदि रसवत् शब्द सभी अलंकारों का विशेषण माना जावे और यह स्वीकार किया जावे कि रसवत् नाम का कोई एक अलंकार नहीं होता तो कुन्तक की प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है। ऐसी दशा में 'सः' का वाच्यार्थ (निर्देश्य) क्या होगा? 'यथा स रसवन्नाम' इस कारिका में प्रयुक्त 'सः' का वाच्यार्थ क्या होगा? दूसरी बात यह है कि अन्य आचार्यों ने मतुप् प्रत्यय माना था। उसको छोड़कर वत् मानने से नवीनता क्या आ गई? क्या 'रस से युक्त अलंकार कहने में वही प्रतीति नहीं होती जो 'रस के समान अलंकार' कहने में होती है? यदि मतुप् मानने में भी वही अर्थ हो सकता है तो प्राचीन आचार्यों की मान्यता का परित्याग करने की क्या आवश्यकता? तीसरी बात यह है कि कुन्तक के माने हुये 'रसवत्' अलंकार को स्वीकार करने में वही आपत्ति उपस्थित हो जाती है जो कुन्तक दूसरों का खण्डन करने के के लिये देते थे। इस मत से प्रधान और गुणभाव का विपर्यास हो जाता है। 'रस के समान अलंकार' कहने में रस गौण हो जाता है और अलंकार प्रधान हो जाता है जो कि कुन्तक को भी अभीष्ट नहीं है। चौथी बात यह है कि कुन्तक रसवत् अलंकार को 'सर्वालंकारजीवितम्' कहते हैं। इसका आशय यह है कि रस सभी अलंकारों में अलंकारत्व सम्पादित करनेवाला एक तत्त्व है। रस के अभाव में कोई अलंकार ही नहीं होता। तब तो यह अलंकार की सामान्य परिभाषा में कहा जाना चाहिये न कि रसवत् अलंकार के निरूपण के प्रसङ्ग में। इस प्रकार रसवत् शब्द को सभी अलंकारों का विशेषण मानना ठीक नहीं। अब दूसरा पक्ष लीजिये—रसवत् नाम का कोई एक अलंकार होता है। यदि कुन्तक ऐसा मानते हैं तो उनसे पूछा जा सकता है कि आपके मत में अलंकार क्या होगा और अलंकार्य क्या होगा, तथा शब्द अर्थ की सङ्गति भी आपके मत में क्या होगी? निस्सन्देह इन प्रश्नों का कुन्तक के पास भी कोई उत्तर नहीं है। अतः कुन्तक की मान्यता भी स्वीकार्य नहीं ठहरती। अतएव ध्वनिकार का मत ही समीचीन सिद्ध होता है कि जहाँ पर वर्ण्य विषय कोई दूसरा हो और वर्ण्य विषय से भिन्न कोई अन्य रस उस वर्ण्य विषय में सरसता-सम्पादन के मन्तव्य से प्रयुक्त किया गया हो वह सरसता-सम्पादक रस मुख्य विषय का अलंकरण करने के कारण अलंकार कहा जाता है। यही रसालंकार का क्षेत्र है।]

यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अलंकार अलंकार्य से भिन्न होता है। यह बात लोकसिद्ध भी है। (लोक में आभूषण और आभूष्य में भेद हुआ करता है। इसी प्रकार गुण भी गुणी से भिन्न होता है। गुण और अलंकार का व्यवहार तभी न्यायसङ्गत कहा जा सकता है जबकि गुणी और अलंकार्य विद्यमान हो। यह बात (अलंकार और अलंकार्य का भेद) हमारे

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: विज्ञया: कटकादिवत् ॥ ६ ॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।

(अनु०) और भी :—

गुण वे माने जाते हैं जो रसरूप उस अङ्गी अर्थ का आश्रय लेते हैं और अलङ्कार कटक इत्यादि के समान अङ्गाश्रित ही माने जाने चाहिये ॥ ६ ॥

(काव्य में) विद्यमान रहनेवाले उस रस इत्यादि रूप अङ्गी अर्थ का जो आश्रय लेते हैं वे गुण कहे जाते हैं जैसे शौर्य इत्यादि। उसके अङ्ग होते हैं वाच्यवाचक इत्यादि। जो उनका आश्रय लेते हैं वे अलङ्कार माने जाने चाहिये जैसे कटक इत्यादि।

लोचन

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात्, यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः। गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः। स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायद्वयेनाह—किञ्चेत्यादि। न केवलमेतावद्युक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यदपीति समुच्चयार्थः। कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव योज्या। केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम्। एवं वृत्तिग्रन्थोऽपि योज्यः ॥ ६ ॥

अलंकार्य से व्यतिरिक्त अलंकार माना जाना चाहिये क्योंकि लोक में वैसा ही सिद्ध है जैसे गुणी से व्यतिरिक्त गुण। गुण और अलङ्कार का व्यवहार गुणी और अलंकार्य के होने पर ही सङ्गत होता है। और वह हमारे पक्ष में ही उपपन्न होता है इन दो अभिप्रायों से कहते हैं— किञ्च इत्यादि। रस के अङ्गित्व में केवल इतना ही युक्तिसमूह नहीं है और भी है इस समुच्चय के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। कारिका की भी योजना दोनों अभिप्रायों से की जानी चाहिये। केवल प्रथम अभिप्राय में कारिका के पूर्वार्ध की दृष्टान्त के रूप में व्याख्या की जानी चाहिये। इसी प्रकार वृत्ति ग्रन्थ की भी योजना की जानी चाहिये।

तारावती

पक्ष को मानने पर ही (रसवत् अलंकार के विषय में ध्वनिकार की व्यवस्था मानने पर ही) सिद्ध हो सकती है। इन्हीं दो अभिप्रायों को लेकर छठी कारिका का उपक्रम करते हुये वृत्तिकारने लिखा है 'किञ्च'। इस किञ्च में जो समुच्चयार्थक 'च' का प्रयोग किया गया है उसका आशय यह है कि रस को अङ्गी मानने में हमारे पास केवल इतनी ही युक्तियाँ नहीं हैं अपितु और भी हैं। कारिका की योजना भी दोनों अभिप्रायों से करनी चाहिये (वे दो अभिप्राय ये हैं— (१) अङ्गी रस तथा गुण और अलंकार में भेद होता है और (२) गुण और अलंकार का

ध्वन्यालोकः

तथा च—

श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः !
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

श्रृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।

(अनु०) वह इस प्रकार :—

श्रृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है। श्रृङ्गाररसमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्यगुण अवस्थित होता है ॥ ७ ॥

(अनु०) अन्य रसों की अपेक्षा श्रृङ्गार ही अधिक मधुर होता है क्योंकि वही आनन्द-साधना में हेतु होता है। शब्द और अर्थ उस मधुर श्रृङ्गार रस को प्रकाशित करते हैं अतएव काव्य का वह माधुर्य नामक गुण होता है। श्रव्यत्व तो ओजस् में भी साधारणतया होता है। (अतः यह माधुर्य का लक्षण नहीं हो सकता।)

तारावती

परस्पर भेद होता है।) यदि कारिका का केवल प्रथम अभिप्राय ही स्वीकार करना हो अर्थात् केवल यह मानना हो कि कारिका अङ्गी और अङ्ग अथवा रस की ध्वनिरूपता और अलंकाररूपता का भेद दिखलाने के लिये लिखी गई है तो कारिका का पूर्वार्ध (गुण और गुणी के भेद को दिखलानेवाला भाग) दृष्टान्त के अभिप्राय से लिखा हुआ माना जाना चाहिये और उसी रूप में उसकी व्याख्या भी की जानी चाहिये। इसी प्रकार वृत्तिग्रन्थ की भी योजना करनी चाहिये। (इस कारिकाका आशय यही है कि जिस प्रकार शूरता सौजन्य विद्या इत्यादि गुण आत्मा में ही विद्यमान रहते हुये उसके उत्कर्ष में कारण होते हैं उसी प्रकार माधुर्य ओज प्रसाद भी जोकि काव्य-गुण कहे जाते हैं आत्मभूत रस में ही स्थित होकर उसके उत्कर्ष को बढ़ाया करते हैं। इसी प्रकार जैसे वलय केयूर इत्यादि शारीरिक अलंकार शारीरिक शोभा को बढ़ाते हुए आत्मा के उत्कर्ष में कारण होते हैं उसी भाँति अनुप्रास उपमा इत्यादि काव्य के शरीर-स्थानीय शब्द और अर्थ को आभूषित करते हुये रसके उत्कर्षाधान में कारण होते हैं। जिस प्रकार गुण और गुणी में भेद होता है उसीप्रकार अलंकार और अलंकार्य में भी भेद होता है। जिस प्रकार गुण का होना तभी सङ्गत हो सकता है जब गुणी विद्यमान हो उसीप्रकार अलंकार की संज्ञा भी तभी गतार्थ हो सकती है जब उसका कोई अलंकार्य विद्यमान हो। यदि रस को अलंकार मानना है तो उसका कोई अलंकार्य भी मानना होगा। यह अलंकार और अलंकार्य का भेद तभी सङ्गत हो सकता है जबकि पोषक रस को अलंकार माना जावे और मुख्य वर्ण्य विषय को अलंकार्य माना जावे। अतः ध्वनिकार की मान्यता ही निर्दुष्ट तथा स्वीकार्य सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

लोचन

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्क्याह—तथा चेत्यादि। तेन वक्ष्यमाणेन बुद्धिस्थेन परिहारप्रकारेणोपपद्यते चैतदित्यर्थः। श्रृङ्गार एवेति। मधुर इत्यत्र हेतुमाह—परः प्रह्लादन इति। रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः। यतेरपि चमत्कारोऽस्त्येव। अत एव मधुर इत्युक्तम्। मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति। तन्मयमिति। स श्रृङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र व्यङ्ग्यतया। काव्यमिति शब्दार्थावित्यर्थः। प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत्। एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम श्रृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरश्रृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। तस्माद्युक्तमुक्तम् तमर्थमित्यादि। कारिकार्थं वृत्त्याह—श्रृङ्गार इति। ननु 'श्रव्यं नाति समस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम्। नेत्याह—श्रव्यत्वमिति। सर्वं लक्षणमुपलक्षितम्। ओजसोऽपीति। 'यो यः शस्त्रं' इत्यत्र श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः॥ ७॥

(प्रश्न) शब्द और अर्थ के माधुर्य इत्यादि गुण होते हैं तो यह कैसे कहा कि गुण रस इत्यादि अङ्गी का आश्रय लेते हैं? यह शङ्का करके (उत्तर) देते हैं—तथा च इत्यादि। अर्थ यह है कि उस आगे कहे जानेवाले बुद्धिस्थ परिहार प्रकार से यह उत्पन्न हो जाता है। श्रृंगार एव इति। 'मधुर' इसमें हेतु बतलाते हैं—'परः प्रह्लादन' इति। समस्त देव तिर्यक् मनुष्य इत्यादि जातियों में रति की अविछिन्न वासना होती है इस प्रकार कोई भी ऐसा नहीं होता जिसका हृदय उससे संवाद न खाता हो। यति में भी चमत्कार होता ही है। अतएव मधुर यह कहा है। मधुर शर्करा इत्यादि रस विवेकी या अविवेकी स्वस्थ या आतुर किसी की भी रसना पर पड़ा हुआ अभिलषणीय हो ही जाता है। 'तन्मयम्' इति। वह श्रृङ्गार जहांपर व्यङ्ग्य होने के कारण आत्मा के रूप में प्राकरणिक है। 'काव्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ। प्रतितिष्ठति का अर्थ है प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। यह कहा गया हो जाता है—वस्तुतः माधुर्य श्रृङ्गार इत्यादि रस का ही गुण है। वह मधुर रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित (लक्षणामूलक प्रयोग) है। मधुर रस की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ की समर्थता लक्षण है। इससे ठीक कहा है—'तमर्थम्' इत्यादि। कारिका का अर्थ वृत्ति के द्वारा बतलाया जा रहा है—श्रृंगार इति। (प्रश्न) माधुर्य का लक्षण 'जो सुनने योग्य हो और जिसमें शब्द अधिक समासगर्भित अर्थ देनेवाले न हों उस (काव्य) को मधुर कहते हैं। (उत्तर देते हैं) नहीं, यह कहते हैं—श्रव्यत्वमिति। सभी लक्षण का उपलक्षण लिया गया। 'ओजस का भी' यह। भाव यह है कि—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में श्रव्यत्व और असमस्तत्व तो है ही॥ ७॥

तारावती

(प्रश्न) जब माधुर्य इत्यादि गुण शब्द और अर्थ-गत ही होते हैं तब आपने यह कैसे कहा कि गुण रस इत्यादि अङ्गी का आश्रय लेते हैं ? (उत्तर) इसी आशङ्का का समाधान करने के लिये सातवीं कारिका लिखी गई है और इसी का उत्तर देने के लिये सातवीं कारिका का उपक्रम करते हुये आलोककार के लिखा है 'तथा च'। इस 'तथा च' शब्द का अर्थ यह है कि उक्त प्रश्न के समाधान का प्रकार इस समय मेरी बुद्धि में स्थित है और आगे चलकर उसका कथन मैं स्वयं करूँगा। उसी समाधान के प्रकार से मेरी यह मान्यता प्रमाणित हो जाती है। कारिका में कहा गया है कि 'शृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है क्योंकि शृङ्गार-रसमय काव्य का आश्रय लेकर ही माधुर्य गुण की प्रतिष्ठा होती हैं।' इस कारिका में शृङ्गार को परम आनन्ददायक कहा गया है। शृङ्गार को मधुर मानने का एक हेतु है। शृङ्गार परम आनन्ददायक होता है इसमें यही प्रमाण है कि शृङ्गार का स्थायी भाव होता है रति; और देवता, तिर्यक् मनुष्य इत्यादि जितनी भी जातियाँ इस विश्व में विद्यमान हैं उन सबकी अविच्छिन्न वासना रति में होती ही है। इस विश्व में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका हृदय रति से मेल न खा जाता हो। रति-वासना किसी संन्यासी के हृदय में भी चमत्कार का आधान कर ही देती है। इसीलिए शृङ्गार को मधुर कहा गया है। शर्करा इत्यादि मधुररस चाहे ज्ञानी की जबान पर पड़े चाहे अज्ञानी की, चाहे स्वस्थ की और चाहे आतुर की, किन्तु यह रस किसी भी व्यक्ति की जबान पर पड़ते ही शीघ्र अभिलषणीय हो ही जाता हैं। कारिका के 'तन्मय' शब्द का अर्थ है—'वह शृङ्गार ही व्यङ्ग्य होने के कारण आत्मा के रूप में जहाँ स्वीकार किया गया है उस काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य गुण प्रतिष्ठित होता है।' काव्य का अर्थ है शब्द और अर्थ। 'प्रतिष्ठित होता है' का अर्थ है प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस वाक्य में यह बात कही गई है कि—वस्तुतः माधुर्य नामक गुण शृङ्गार इत्यादि रसों का ही होता है। औपचारिक रूप में उस मधुर रस को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ के लिए भी 'माधुर्य गुण' इस शब्द का प्रयोग हो जाता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ की मधुर शृङ्गार इत्यादि रसों की अभिव्यक्ति-समर्थता ही माधुर्य के नाम से अभिहित की जाती है। यही माधुर्य का लक्षण है। वृत्तिकार ने 'शृङ्गार एव'''''गुणः' इन शब्दों में कारिका का अर्थ ही कर दिया है। (प्रश्न) भामह ने तो माधुर्य का यह लक्षण लिखा है—'जो श्रव्य हो और जिसमें शब्द अधिक समासगर्भित न हों उसे मधुर कहते हैं।' (उत्तर) यह बात नहीं है। श्रव्यत्व तो ओज में भी मधुर के समान ही होता है। यहाँ पर 'श्रव्यत्व' का अर्थ है भामह का पूरा लक्षण अर्थात् भामह के बतलाये हुये माधुर्य के दोनों तत्त्व—श्रव्यत्व भी और असमस्तत्व भी। 'ओजस् में भी होता है' कहने का आशय यह है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति.........' इत्यादि वेणीसंहार के पद्य में श्रव्यत्व भी है और असमस्तत्व भी। अतः ओज में भी ये दोनों तत्त्व पाये ही जाते हैं। अतएव भामह का लक्षण ठीक नहीं है ॥ ७ ॥

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥ ८॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्। सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति।

(अनु०) विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य की उत्तरोत्तर अधिकता होती है। कारण यह है कि इन रसों में मन क्रमशः अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है॥ ८॥

विप्रलम्भ शृङ्गार और करुणरसों में तो माधुर्य ही प्रकर्षवाला होता है क्योंकि वे रस सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करने में निमित्त होते हैं।

लोचन

सम्भोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह-शृङ्गार इत्यादि। करुणे चेति च शब्दः क्रममाह। प्रकर्षवदिति। उत्तरोत्तरं तरतमयोगे नेति भावः। आर्द्रतामिति। सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मयहासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः। अधिकमिति। क्रमेणेत्याशयः। तेन करुणेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति। ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति तर्हि पूर्वकारिकायां शृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः? उच्यते—नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः; उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते। वृत्त्यार्थमाह—विप्रलम्भेति॥ ८॥

सम्भोग शृंगार से मधुरतर है विप्रलम्भ, उससे भी मधुरतम है करुण। इस प्रकार शब्द और अर्थ में उनका अभिव्यञ्जन कौशल मधुरतरत्व और मधुरतमत्व होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—शृंगार इति। 'करुणे च' में च शब्द क्रम को कहता है। प्रकर्षवत् इति। भाव यह है कि उत्तरोत्तर तर और तम के योग से। 'आर्द्रताम्' इति। सहृदय का चित्त आवेश—रहित काठिन्य, क्रोधादिजन्य दीप्तरूपत्व और विस्मय हास इत्यादि रागित्व को छोड़ देता है यह अर्थ है। अधिकमिति। आशय यह है कि क्रमशः। इससे करुण में भी सभी का चित्त द्रवित हो जाता है यह कह दिया गया है। (प्रश्न) करुण में भी मधुरिमा होती है तो पहली कारिका में 'शृङ्गार एव' में एवकार किसलिये है। (उत्तर) कहा जाता है—इससे रसान्तर का व्यवच्छेद नहीं होता। अपितु आत्मभूत रस के ही वस्तुतः माधुर्य इत्यादि गुण होते हैं। उपचार से शब्द और अर्थ में भी (व्यवहृत किये जाते हैं) यह एवकार से द्योतित किया जा रहा है। वृत्ति के द्वारा अर्थ कहते हैं—विप्रलम्भ इति॥ ८॥

तारावती

संभोग शृङ्गार से अधिक मधुर होता है विप्रलम्भ शृंगार और उससे भी अधिक मधुर होता है करुण रस। इस प्रकार जिन शब्दों और अर्थों में उन रसों के अभिव्यञ्जन की कुशलता होती है उन शब्दों और अर्थों को (मधुर) मधुरतर और मधुरतम कहा जाता है। (सम्भोग शृंगार को प्रकाशित करनेवाले शब्द और अर्थ मधुर होते हैं। विप्रलम्भ को प्रकाशित करनेवाले मधुरतर होते हैं और करुण रस को प्रकाशित करनेवाले मधुरतम होते हैं।) इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यह ८ वीं कारिका लिखी गई है जिसका आशय यह है कि 'विप्रलम्भ नामक शृङ्गार में तथा करुण रस में माधुर्य (उत्तरोत्तर) प्रकर्ष को प्राप्त है। क्योंकि इन रसों में मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है।' 'करुणे च' में जो च अक्षर का प्रयोग किया गया है वह क्रम को व्यक्त करता है। इस प्रकार इसका अर्थ हो जाता है कि माधुर्य संभोग, विप्रलम्भ तथा करुण में क्रमशः (उत्तरोत्तर) प्रकर्ष को प्राप्त होता है। 'प्रकर्षवत्' का आशय यह है कि उत्तरोत्तर तर और तम के योग से उनमें प्रकर्ष होता है। अर्थात् विप्रलम्भ मधुरतर और करुण मधुरतम होता है। 'आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है' कहने का आशय यह है कि चित्त में स्वाभाविक कठोरता होती है। (भक्ति रसायन में लिखा है कि चित्त नामक द्रव्य स्वभावतः कठोर होता है।) जब चित्त में माधुर्य का सञ्चार होता है तब चित्त अपने आवेश रहित (अन्य भावना के सन्निहित न होने पर) स्वाभाविक काठिन्य का भी परित्याग कर देता है, क्रोध इत्यादि से उत्पन्न दीप्त रूपता का भी परित्याग कर देता है, विस्मय हास इत्यादि से उत्पन्न चित्त की रागावस्था (विस्मय हासादिजन्य विक्षेप) का भी परित्याग कर देता है। 'मन अधिक आर्द्र हो जाता है' इस वाक्य में अधिक शब्द का अभिप्राय है क्रमशः अधिक आर्द्र हो जाता है इसका आशय यह हुआ कि करुण रस में भी चित्त सर्वदा (पूर्णरूप से, सबसे अधिक) द्रवित हो जाता है। (प्रश्न) यदि करुण रस में भी मधुरिमा होती हैं तो पहली कारिका में 'शृङ्गार एव' (शृङ्गार में ही) इस 'एव' कार (ही शब्द) का क्या अर्थ हुआ ? (एव शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—विशेष्य के साथ, विशेषण के साथ और क्रिया के साथ। विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ अन्य-योगव्यवच्छेद होता है अर्थात् उसका विशेषण उसी में रहता है अन्यत्र नहीं। जैसे 'राम एव कुशलः अस्ति' का अर्थ हुआ राम के अतिरिक्त अन्य कोई कुशल नहीं है। विशेषण के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ होता है अयोगव्यवच्छेद अर्थात् उस विशेषण का अभाव विशेष्य में नहीं है। जैसे 'रामः कुशल एवास्ति' का अर्थ हुआ राम में कुशलता का अभाव नहीं है। क्रिया के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ अत्यन्तायोगव्यवच्छेद होता है अर्थात् विशेष्य में विशेषण के अत्यन्ताभाव का निषेध कर उससे विशेषण की सत्ता को नियमित कर देता है। जैसे 'चन्द्रः आकर्षको भवत्येव' इस वाक्य में 'एव' का प्रयोग क्रिया के साथ हुआ है। अतः चन्द्र में आकर्ष-कता के अत्यन्ताभाव का निषेधकर उसमें आकर्षकता के सम्बन्ध को नियमित कर देता है। यही बात निम्नलिखित श्लोक में कही गई है :—

ध्वन्यालोकः

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते। तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम्।

(अनु०) काव्य में रहनेवाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा लक्षित होते हैं। उस दीप्ति को व्यक्त करने में जो शब्द और अर्थ कारण होते हैं उन्हीं का आश्रय लेकर ओजगुण व्यवस्थित होता है' ॥ ९ ॥

निस्सन्देह रौद्र इत्यादि रस बहुत बड़ी दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलता को उत्पन्न कर देते हैं। अतएव लक्षणा से वे रौद्र इत्यादि ही दीप्ति होते हैं यह कहा जाता है। उस दीप्ति को प्रकाशित करनेवाला शब्द ऐसा वाक्य होता है जिसमें रचना दीर्घसमास से अलंकृत हो।

लोचन

रौद्रेत्यादि। आदिशब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्। दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्याः, तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचारात् रौद्रादिरेवौजःशब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनावाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा चञ्चदित्यादि। तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकैर्वाचकैरभिधीयमानः समासानपेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा 'यो यः' इत्यादि।

रौद्र इत्यादि। आदि शब्द प्रकारवाचक है। इससे वीर और अद्भुत का भी ग्रहण हो जाता है। दीप्ति—प्रतिपत्ता के हृदय में विकास विस्तार और प्रज्वलन-स्वभाववाली होती है और वह मुख्य रूप में ओजःशब्दवाच्य होती है। उसके आस्वादमय रौद्र इत्यादि होते हैं। उस आस्वादात्मक कार्यरूप दीप्ति से दूसरे रसों से पृथक् रूप में (रौद्र इत्यादि) प्रतीत होते हैं। इससे कारण में कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजः शब्द वाच्य होते हैं। अतः लक्षितलक्षणा के द्वारा तत्प्रकाशन-परक दीर्घसमास रचना वाक्यरूप शब्द दीप्ति (होता है) यह कहा जाता है। जैसे चञ्चद् इत्यादि। उसका प्रकाशन-परक अर्थ प्रसन्न और शीघ्र अर्थबोधक वाचकों के द्वारा कहा जाता हुआ समास की बिना ही अपेक्षा किये हुये भी दीप्ति यह कहा जाता है। जैसे 'यो यः' इत्यादि।

तारावती

अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥

प्रस्तुत प्रकरण में 'शृङ्गार एव मधुरः' कहा गया है। यहाँपर एवकार का प्रयोग विशेष्य

तारावती

के साथ किया गया है। अतएव इसका अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदपरक होगा। अर्थात् इसका आशय होगा—'श्रृङ्गारसे भिन्न अन्य कोई रस मधुर नहीं होता।' किन्तु प्रस्तुत कारिकामें कहा गया है कि करुण मधुरतम होता है। यह पूर्वापर-विरोध कैसा ?) यहाँपर एवकार से रसान्तर का व्यवच्छेद नहीं होता। अपितु इसका आशय यह निकलता है कि परमार्थतः माधुर्य इत्यादि गुण आत्म-स्थानीय रस के ही होते हैं, औपचारिक रूप में शब्द और अर्थ के लिये भी मधुर शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। (आशय यह है कि एवकार अन्य योग का व्यवच्छेदक होगा। यह व्यवच्छेद दो प्रकार का हो सकता है—सजातीय और विजातीय—किसी दूसरे रस से श्रृङ्गार का भेद सजातीय भेद है और किसी अन्यतत्त्व (शब्द और अर्थ) से उसका भेद विजातीय भेद होगा। यहाँपर आचार्य का मन्तव्य श्रृंगार के सजातीय भेद से नहीं है अपितु विजातीय भेद से है। 'श्रृंगार के अर्थ में सामान्यतः श्रृंगार के समान वृत्ति रखनेवाले सभी रस सन्निविष्ट हो जाते हैं वे ही मधुर होते हैं, शब्द और अर्थ नहीं। किन्तु औपचारिक प्रयोग उनमें भी हो जाता है) वृत्तिकार ने इस कारिका का अर्थ करते हुए लिखा है कि विप्रलम्भ श्रृङ्गार और करुण में माधुर्य ही प्रकर्षवान् होता है क्योंकि सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने में वे रस अधिक निमित्त होते हैं ॥ ८ ॥

(नवीं कारिका का अर्थ यह है—'काव्य में रहनेवाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा पहिचाने जाते हैं। उस दीप्ति गुण की अभिव्यक्ति में निमित्त शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर ओज व्यवस्थित होता है।) इस कारिका के 'रौद्र इत्यादि' में इत्यादि का अर्थ है रौद्र रस के ढङ्ग के अन्य रस। इस प्रकार इनमें वीर और अद्भुत का समावेश हो जाता है। दीप्ति का स्वभाव ही है कि वह पाठकों दर्शकों या श्रोताओं के हृदय को विकसित विस्तृत या प्रज्वलित कर देती है। आशय यह है कि दीप्ति एक ऐसी चित्तवृत्ति को कहते हैं जिसमें विकास, विस्तार और प्रज्वलन तीनों मिले होते हैं। उसी दीप्ति को मुख्य रूप में ओज कहा जाता है। उस दीप्तिरूप चित्तवृत्तिमय रौद्र इत्यादि रस होते हैं अर्थात् रौद्र इत्यादि रस दीप्ति को उत्पन्न किया करते हैं। रौद्र इत्यादि रस कारण होते हैं। उनसे उत्पन्न होनेवाला आस्वादरूप कार्य ही दीप्ति नामक एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति होता है। बस इसी दीप्तिरूप चित्तवृत्ति के द्वारा रौद्र इत्यादि रस अन्य रसों से पृथक् प्रतीत होते हैं। रौद्र इत्यादि रस कारण होते हैं और ओज उनका कार्य होता है। अतएव कारण में कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजःशब्द से पुकारे जाते हैं। (दो विभिन्न पदार्थों में सादृश्य की अधिकता के कारण भेद का स्थगन करना उपचार कहलाता है।)

['त एव दीप्तिरित्युच्यते' इस वृत्तिग्रन्थ में 'ते' यह विशेष्य है और 'दीप्तिः' यह विशेषण है। व्युत्पत्तिवाद के अनुसार क्रिया विशेष्य के अनुसार ही हुआ करती हैं। अतः उच्यते इस क्रिया में बहुवचन का प्रयोग होना चाहिये। किन्तु इति शब्द सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोधक है

ध्वन्यालोकः

यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

(अनु०) (दीर्घ समासघटकवाक्य रूप शब्द के दीप्ति होने का उदाहरण) जैसे :—'फड़कती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड गदा के अभिघात से दुर्योधन की दोनों ऊरुओं को एक साथ चूर्णकर आर्द्र तथा गाढ़े शोणित से अपने हाथों को लालकर के हे देवि! यह भीम तुम्हारे केशों को बाँधेगा।'

लोचन

चञ्चदिति। चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगुलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यानतया न तु कालान्तरशुष्कतयावनद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणितौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरत्रासदायी। तवेति। यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्युत्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा। देवीत्यनेन कुलकलत्रखिली-

'चञ्चत्' इत्यादि। चञ्चत् अर्थात् वेगपूर्वक घूमनेवाली भुजाओं से घुमाई हुई जो प्रचण्ड गदा उसके द्वारा जो सभी ओर से दोनों ऊरुओं का घात उससे ठीक रूप में चूर्ण की गई है अर्थात् न उठने के योग्य नष्ट की गई हैं दोनों ऊरु जिसकी उस सुयोधन को अनादृत कर के स्त्यान अर्थात् घने तथा आर्द्ररूप में कालान्तर शुष्क रूप में नहीं, अवनद्ध अर्थात् हाथों से न गिरते हुये रूपवाला अन्यन्त अन्दर से लेने के कारण घना रसमात्र स्वभाववाला नहीं इस प्रकार का जो शोणित अर्थात् रुधिर उससे लाल हो गये हैं हाथ जिसके। इसीलिये भीम अर्थात् कातरों को त्रास देनेवाला। 'तव' इति। जिसके देवी के लिये अनुचित भी भिन्न-भिन्न बहुत से वे अपमान किये गये। उन तुम्हारे कचों को उत्तंसवाला कर देंगे अर्थात् चोटीवाला बना देंगे। वेणीभाव को दूर करते हुये हाथ से गिरे हुये रक्तविन्दुओं से रक्तपुष्पों के आपीड के समान संयोजित कर देंगे यह उत्प्रेक्षा है। 'देवि' इस सम्बोधन के द्वारा कुलवती के कलत्रत्व को व्यर्थ

तारावती

और उसी इति शब्द के साथ उच्यते का सम्बन्ध है। अतः क्रिया का सामान्यार्थक एकवचन उपपन्न हो जाता है।]

लोचन

कारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्तव्या। स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता। समासेन च सन्ततवेगवहन-स्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका। अन्ये तु सुयोधनस्य संबन्धि यत्स्त्यानावनद्धं घनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते।

करने का स्मरण करानेवाले (कार्यों के) द्वारा क्रोध का ही उद्दीपनविभावत्व (सम्पादित) किया गया है। अतः यहाँ पर श्रृंगार की शङ्का नहीं करनी चाहिये। गदा के द्वितीय प्रहार का अनुद्यम सुयोधन का अनादर है और वह ऊरुओं के चूर्ण होने से ही (होता है)। 'स्त्यान' के ग्रहण से द्रौपदीमन्यु-प्रच्छालन में शीघ्रता सूचित की गई है और समास के द्वारा निरन्तर वेगपूर्ण प्रवाहित होने का स्वभाव होने से मध्य में उतने से ही विश्रान्ति को प्राप्त न होते हुये चूर्ण की हुई दोनों ऊरुओंवाले सुयोधन के अनादर पर्यन्त प्रतीति एकरूप में ही होती है इस प्रकार औद्धत्य की बहुत अधिक पोषिका है। दूसरे लोग तो सुयोधन से सम्बद्ध जो ताजे रूप में अवनद्ध घना रक्त उससे लाल हाथोंवाला यह व्याख्या करते हैं।

तारावती

इससे लक्षितलक्षणा के द्वारा उसको प्रकाशित करनेवाले ऐसे शब्द को दीप्ति कहते हैं जो कि दीर्घसमासरचना-गर्भित वाक्य के रूप में होता है। (लक्षितलक्षणा या लक्षणलक्षणा उसे कहते हैं जिसमें किसी शब्द के वाच्य अर्थ का सर्वथा परित्याग होकर तत्सम्बद्ध कोई अन्य अर्थ ले लिया जाता है। इसी का दूसरा नाम जहत्स्वार्था है। यहाँ पर ओज शब्द का वास्तविक वाच्य अर्थ है हृदय की दीप्ति। किन्तु इसका प्रयोग रौद्र इत्यादि रसों के लिये भी होता है क्योंकि इनमें जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है। जैसे 'आयुर्घृतम्' इस वाक्य में जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होने के कारण घीके लिये आयु शब्द का प्रयोग हो जाता है। इसी को उपचार कहते हैं। इसीलिये आचार्य ने रौद्रादि रसोंके लिये ओजः शब्दका प्रयोग औपचारिक माना है। दूसरी लक्षणा होती है ओजस् को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ में। यहाँ पर लक्षणा ताटस्थ्य सम्बन्ध में होती है। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में मञ्चपर बैठे हुये पुरुषों को मञ्च कह देते हैं। इसी प्रकार शब्दों पर और अर्थों पर आधृत दीप्ति नामक चित्तवृत्ति (ओज) का प्रयोग भी शब्दों और अर्थों के लिये हो जाता है। दीप्ति उस शब्द को कहते हैं जिसमें वाक्य के अन्दर दीर्घ समास-रचना की गई हो और वह रचना दीप्ति को व्यक्त करती हो।) जैसे 'चञ्चद्भुजभ्रमित……'इत्यादि पद्य में दीर्घ समास के द्वारा दीप्ति की उत्पत्ति होती है। उस दीप्ति को प्रकाशित करनेवाले अर्थ को भी दीप्ति कहते हैं जिसका एकदम अर्थ को समर्पित करनेवाले शब्दों के द्वारा अभिधान किया गया हो और जिसके लिये दीर्घ समास की भी अपेक्षा न हो जैसे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि पद्य। अब 'चञ्चद्भुजभ्रमित……' इत्यादि उदाहरण को लीजिये चञ्चत्

तारावती

शब्द भुज का विशेषण है और भ्रमित तथा चण्ड शब्द गदा के विशेषण हैं। आशय यह है कि चञ्चत् अर्थात् वेग के साथ लहराती हुई बाहुओं के द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड अर्थात् दारुण गदा से जो चारों ओर से ऊरुओं के ऊपर घात है उस घात के द्वारा एक साथ सुयोधन के दोनों ऊरुदेश चूर्ण हो जावेंगे अर्थात् उनमें पुनः उठने की शक्ति नहीं रह जावेगी। इस प्रकार के सञ्चूर्णित ऊरुओंवाले सुयोधन का अपमान कर आर्द्रतापूर्वक बंधे हुये गाढे रक्त से लाल हाथों वाला भीम हे देवि तुम्हारे कचों को शृङ्गारित करेगा। स्त्यान का अर्थ है आर्द्र। भीम के हाथ आर्द्र रक्त से ही सने हुये होंगे, समय के व्यतीत होने की शुष्कता उनमें नहीं आई होगी अर्थात् भीम तुम्हारे बाल बाँधने में देर नहीं करेगा। 'बंधे हुये' रक्त कहने का आशय यह है कि गाढ़ा होने के कारण रक्त हाथों में ही सीमित होगा; हाथों से टपक नहीं रहा होगा। गाढ़ा रक्त कहने का आशय यह है कि दुर्योधन का रक्त बिल्कुल अन्दर की नसों से निकाला गया होगा ऊपर ऊपर केवल रस के स्वभाव में ही स्थित रक्त नहीं ले लिया गया होगा। उसी रक्त से भीमके दोनों हाथ लाल हो जावेंगे। भीम शब्द के प्रयोग से व्यञ्जना निकलती है कि भीम कातरों को त्रास देने वाले हैं अर्थात् भीम इतने अधिक भयानक हैं कि वीर से वीर व्यक्ति उनका विरोधी होकर कातर हो जाता है और त्रास को अनुभव करने लगता है। 'तव' का व्यङ्ग्यार्थ है—'तुम वही हो जिसके अनेक प्रकार के ऐसे-ऐसे अपमान किये गये जो देवी पद पर अभिषिक्त किसी रमणी के लिये सर्वथा अनुचित थे। वही तुम हो, मैं तुम्हारे केशों को उत्तंसित करूँगा अर्थात् उत्तंस-वाला बना दूँगा। उत्तंस का अर्थ है शिरोभूषण। आशय यह है कि तुम्हारे केशों की इस एक-वेणीरूपता को दूर कर मैं प्रसाधित कर दूँगा। उस समय मेरे हाथ से गिरे हुये रक्त कण ऐसे शोभित होने लगेंगे मानों केशों का संयोजन कुसुमों के गुच्छों से किया गया हो। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर सम्बोधन में हे देवि यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द कुलवधू के कुलवधूत्व रूप को व्यर्थ करने के विभिन्न उद्यमों को स्मरण करा देता है। इस प्रकार यह क्रोध का ही उद्दीपन विभाव बन जाता है। अतः यहाँ पर शृङ्गार की शङ्का नहीं करनी चाहिये। 'सुयोधनस्य' में षष्ठी 'षष्ठी चानादरे' इस पाणिनि सूत्र से अनादर अर्थ में हुई है। सुयोधन के अनादर का आशय यही है कि मैं एक गदा में ही उसकी ऊरुओं को चूर्ण कर दूँगा, दूसरी बार गदा प्रहार की मुझे आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह इसीलिये होगा कि ऊरु 'चूर्ण' हो जावेगी। 'स्त्यान' (आर्द्र) कहने से द्रौपदी के शोकमिश्रित क्रोध के भाव को प्रक्षालित करने की शीघ्रता अभिव्यक्त होती है। समास का स्वभाव ही होता है निरन्तर वेग में प्रवाहित होना। अतः उतने में ही (मध्यवर्ती किसी घटना में ही) विश्रान्ति को न प्राप्त कर दोनों चूर्णित ऊरुओंवाले सुयोधन के अनादरपर्यन्त प्रतीति एकरूप में ही हो जाती है। इस प्रकार यह प्रतीति औद्धत्य की अत्यन्त परिपोषक है। कुछ लोग 'सुयोधनस्य' में सम्बन्ध में षष्ठी मानकर यह अर्थ करते हैं—दुर्योधन का जो आर्द्र और गाढ़ा रक्त उससे लाल

ध्वन्यालोकः

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।

यथा—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम्।

(अनु०) उस ओज को प्रकाशित करनेवाला अर्थ दीर्घ समास रचना की बिना अपेक्षा किये हुये प्रसन्न (शीघ्र अर्थ समर्पक) शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। जैसे :—

'पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल के अधिक अभिमान से परिपूर्ण जो-जो व्यक्ति शस्त्र धारण करता हैं; पाञ्चालों के वंश में जो कोई बालक है, अधिक आयुवाला हैं अथवा गर्भशय्या में ही विराजमान है; जो कोई उस (द्रोणवध रूप) कर्म का साक्षी है अथवा मेरे युद्ध में विराजमान होने पर जो कोई विरुद्ध रूप में आता है; चाहे वह सारे विश्व का ही संहारक क्यों न हो मैं क्रोधान्ध होकर उसका अन्त कर सकता हूँ।'

इत्यादि उदाहरणों से दोनों (शब्द और अर्थ) ओजका रूप धारण करते हैं।

लोचन

य इति। स्वभुजयोर्गुरुमदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः। पाञ्चालराजपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्वत्थाम्नः। तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः। रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो मयि मद्विषये प्रतीपं चरति समरविघ्नमाचरति। यद्वा मयि चरति सति सङ्ग्रामे यः प्रतीपं प्रतिकूलं कृत्वास्ते स एवं विधो

य इति। दोनों सेनाओं के मध्य में अपनी भुजाओं का गुरुमद है जिसको अर्थात् अर्जुन इत्यादि। पाञ्चालराज-पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोण के मारे जाने से उसके वंश के प्रति अश्वत्थामा का अधिक क्रोधावेश है। उस कर्म को देखनेवाला कर्ण इत्यादि। रण अर्थात् संग्राम में विचरण करते हुये जो मुझमें अर्थात् मेरे विषय में विपरीत आचरण करता है अर्थात् समर विघ्न

तारावती

हाथों वाला यह भीम।' (किन्तु यह अर्थ लोचनकार को मान्य नहीं है क्योंकि 'शोणित' शब्द समास के अन्दर आ गया है अतः उसका 'सुयोधनस्य' से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। व्याकरण का नियम है—'जो शब्द किसी दूसरे शब्द से सम्बद्ध हों उनका समास नहीं होता और जिनका समास हो चुका हो उनका दूसरे शब्दों से सम्बन्ध नहीं होता।' यदि किसी-न-किसी प्रकार 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' की भाँति सम्बन्ध षष्ठी का यहाँ समर्थन किया भी जाये तो भी अनादर की व्यञ्जना नहीं होगी जो कि प्रस्तुत प्रकरण के अनुकूल हैं।)

लोचन

यदि सकलजगदन्तको भवति तस्याप्यहमन्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा। अत्र पृथग्भूतैरेव क्रमाद्विमृश्यमानैरर्थैः पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्ट विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भयचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः॥ ९॥

का आचरण करता है। अथवा संग्राम में मेरे विचरण करने पर जो प्रतीप अर्थात् प्रतिकूलरूप में वर्तमान होता है वह यदि समस्त जगत् का अन्तक होवे उसका भी मैं अन्तक हूं किसी दूसरे मनुष्य या देव का कहना ही क्या? यहाँ पर पृथग्भूत तथा क्रमशः विमर्श किये जानेवाले अर्थों से एक पद से दूसरे पद में क्रोध बहुत बड़ी धारा को प्राप्त हो गया है इस प्रकार असमस्तता ही दीप्ति में हेतु हैं।

इस प्रकार माधुर्य और दीप्ति परस्पर विरोधी रूप में स्थित शृंगार इत्यादि और रौद्र इत्यादि में रहनेवाले (होते हैं) यह प्रदर्शित करते हुये उनके समावेश वैचित्र्य को हास्य भयानक बीभत्स और शान्त रसों में (भी) दिखला दिया। शृंगार का अंग होने के कारण हास्य में माधुर्य प्रकृष्ट होता हैं और विकाशधर्मी होने के कारण ओज भी प्रकृष्ट ही होता हैं। इस प्रकार दोनों का साम्य हैं। डूबी हुई चित्तवृत्ति के स्वभाववाला होते हुये भी भयानक में विभाव के दीप्त होने से ओज का प्रकर्ष होता हैं और माधुर्य अल्प होता हैं। बीभत्स में भी ऐसा ही होता हैं। शान्त में तो विभाव के विचित्र होने से कदाचित् ओज का प्रकर्ष होता है और कदाचित् माधुर्य का। बस यही (गुणों का) विभाजन हैं॥ ९॥

तारावती

अब दूसरा उदाहरण लीजिये जिसमें समास की बिना अपेक्षा किये हुए अर्थ ही ओजरूप होता है—यह पद्य भी वेणीसंहार से ही लिया गया है और अश्वत्थामा का वचन है। द्रोणाचार्य के मारे जाने का समाचार सुनकर अश्वत्थामा उत्तेजना में भरकर कह रहे हैं—पाण्डवों की सेना में अपनी दोनों भुजाओं का जिसको बहुत बड़ा मद हो अर्थात् अर्जुन इत्यादि (यहाँपर प्रत्येक से 'मैं उसका अन्तक हूँ' यह वाक्य जुड़ जावेगा।) 'पाञ्चालगोत्र में जो कोई बचा हो, अधिक आयुवाला हो अथवा अभी गर्भशय्या में ही विराजमान हो मैं उन सबका अन्त कर दूँगा।' यहाँ पर पाञ्चालगोत्र के प्रति अधिक क्रोध दिखलाया गया है। इसका कारण यही है कि पाञ्चालराजपुत्र धृष्टद्युम्न ने ही द्रोण का वध किया था। अतएव अश्वत्थामा का क्रोध उनके प्रति अधिक होना स्वाभाविक ही है। जो भी उस कर्म (द्रोणवध) का साक्षी है अर्थात् कर्ण

ध्वन्यालोकः

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥ १०॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

(अनु०) सब रसों के प्रति काव्य का जो एक समर्पकत्व गुण होता है, उसे ही प्रसाद कहते हैं; इसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है।

प्रसाद का अर्थ है शब्द और अर्थ की स्वच्छता। यह गुण सर्वसाधारण रूप में रहता है और इसकी स्थिति सर्वसाधारण रूप में सभी रचनाओं में होती है। इसको मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही स्थित होनेवाला समझना चाहिये।

तारावती

इत्यादि। युद्ध करने में जो मेरे विषय में अर्थात् मेरे प्रतिकूल आचरण करता है अर्थात् मेरे युद्ध करने में विघ्न डालता है। अथवा युद्ध में मेरे विचरण करने पर जो प्रतिकूलता ग्रहण कर स्थित होता है, वह इस प्रकार का व्यक्ति यदि समस्त विश्व का अन्तक भी हो उसका भी मैं अन्तक हूँ; किसी और मनुष्य अथवा देवता का तो कहना ही क्या? यहाँ पर पृथक्-पृथक् पदों से क्रम-क्रम से अर्थात् रुक-रुक कर वक्ता के द्वारा विचारे गये अर्थों से एक पद से दूसरे पद में क्रोध एक बहुत बड़ी धारा का रूप धारण कर लेता है। इस उदाहरण में समास का न होना ही दीप्ति को प्रकट करने में हेतु है। इस प्रकार यहाँपर यह दिखलाया गया है कि परस्पर विरोधी रूप में स्थित माधुर्य और दीप्ति गुण क्रमशः शृङ्गार इत्यादि और रौद्र इत्यादि रसों में रहते हैं। इस बात को प्रदर्शित करते हुए यह भी दिखला दिया है कि हास्य भयानक बीभत्स और शान्त में उनका समावेश किस विलक्षणता के साथ होता है। हास्य शृङ्गार का अङ्ग होता है। अतः उसमें माधुर्य का प्रकर्ष होता है। दूसरी ओर वह विकासधर्मी भी होता है। अतः ओज का भी उसमें प्रकर्ष होता है। इस प्रकार हास्य में माधुर्य तथा ओज की समान भाव में स्थिति होती है। भयानक में यद्यपि आश्रय की चित्तवृत्ति डूब जाती है तथापि उसमें विभाव (आलम्बन और उद्दीपन दोनों) प्रदीप्त रूप में होता है और माधुर्य अल्पमात्रा में होता है। बीभत्स में भी यही बात होती है। शान्त में विभाव विचित्र प्रकार का (भिन्न-भिन्न रूप का) होता है। अतः उसमें कभी ओज का प्रकर्ष होता है और कभी माधुर्य का। रसों में गुणों की स्थिति का यही विषय-विभाग है॥ ९॥

'काव्य का सब रसों के प्रति जो एक समर्पकत्व गुण होता है उसे ही प्रसाद कहते हैं। इसकी क्रिया सब रसों के प्रति सर्वसाधारण होती है।' यह है कारिका का अर्थ। इसमें समर्पकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है इसका अर्थ है ठीक रूप में अर्पण करदेने का गुण। इसका आशय यह है कि परिशीलकों के प्रति उनके हृदय से मेल खा जाने के द्वारा एक दम

लोचन

समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन। अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः। तमेव व्याचष्टे—प्रसादेति।

ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह—स चेति। च शब्दोऽवधारणे। सर्वरससाधारण एव गुणः। स एव च गुण एवंविधः। सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः। मुख्यतयेति। अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव संभवति नान्यथा। शब्दस्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं नाम कियदलौकिकं येन गुणः स्यादिति भावः। एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्त्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ॥ १० ॥

समर्पकत्व का अर्थ है ठीक रूप में अर्पण करना अर्थात् सूखे काष्ठ में अग्नि के दृष्टान्त से प्रतिपत्ताओं के प्रति हृदय संवाद के माध्यम से अपने आवेश के द्वारा शीघ्र ही क्रियाशील हो जाना। और अकलुषित जल के दृष्टान्त से वह अकालुष्य अर्थात् प्रसन्नत्व सब रसों का गुण है। उपचार से तो उस प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ में जो शब्द और अर्थ का समर्पकत्व वह भी प्रसाद है। उसी की व्याख्या करते हैं—प्रसादेति।

(प्रश्न) जब रसगत गुण होता है तो शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसी ? इस शङ्का का उत्तर दे रहे हैं—'स च इति'। 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है। सर्वरससाधारण ही गुण है और वही गुण सर्वरससाधारण है। यह जो सभी रचना है वह शब्दगत और अर्थगत समस्त और असमस्त उन सब में (यह प्रसाद गुण) साधारण है। मुख्यतया इति। भाव यह है अर्थ का समर्पकत्व तो व्यङ्ग्य के प्रति ही होता है अन्यथा नहीं। शब्द का भी अपने वाच्य का समर्पकत्व कितना अलौकिक है जो गुण माना जावे। इस प्रकार माधुर्य ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही भामह के अभिप्राय से उपपन्न होते हैं। वे प्रतिपत्ता (सुहृदय) के आस्वादमय होते हैं। उससे आस्वाद्य रस में उपचरित होते हैं उससे उनके व्यञ्जक शब्द और अर्थ में भी (उपचरित होते हैं) यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

तारावती

अपने स्वरूप का आवेश करते हुये प्रभावशालितारूप क्रिया को उत्पन्न कर देना। (कहने का अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के काव्यों में एक ऐसा गुण विद्यमान होना चाहिये कि काव्य सहृदय पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं के हृदय से मेल खा जावे और अपनी आत्मा अथवा स्वरूप का सञ्चार एकदम सहृदयों में कर दे। इसी गुण को प्रसाद गुण कहते हैं।) यह इसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूखे काष्ठ में आग एकदम व्याप्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार साफ

ध्वन्यालोकः

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥ ११ ॥

(अनु०) और जो श्रुतिदुष्ट इत्यादि अनित्य दोष दिखलाये गये हैं वे ध्वन्यात्मक शृङ्गार में ही त्याज्य के रूप में उदाहृत किये गये हैं॥ ११ ॥

तारावती

धुले हुये कपड़े के तार-तार को पानी एकदम पकड़ लेता है। यह अकालुष्य, अथवा स्वच्छता का ऐसा गुण जिससे काव्य हृदय को एकदम आक्रान्त कर लेता है, सभी रसों का गुण होता है। सादृश्य सम्बन्धिनी लक्षणा (उपचार) के आधार पर उस व्यङ्ग्यार्थ को शीघ्र समर्पित करने की शब्द और अर्थ की जो विशेषता होती है उसे भी प्रसाद कहते हैं। इसीलिये वृत्तिकारने प्रसाद का अर्थ किया है शब्द और अर्थ की स्वच्छता।

(प्रश्न) जब गुण रसगत माना जाता है तब यह कहने का क्या आशय है कि स्वच्छता शब्दगत और अर्थगत होती हैं।

(उत्तर) 'और वह गुण सर्वरससाधारण होता है।' (वृत्ति) यहाँपर 'और' शब्द अवधारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अवधारण का अर्थ है निश्चय करना। यह निश्चय दो प्रकार से किया गया है—(१) यह गुण सभी रसों में ही सामान्यतया रहता है। (शब्द और अर्थ में नहीं।) (२) यही गुण सभी रसों में सामान्यतया रहता है (माधुर्य और ओज नहीं।) यह गुण सभी प्रकार की रचनाओं में भी साधारणतया रहता है। इसका आशय यह है कि यह गुण शब्द में भी रहता है, अर्थ में भी रहता है, समासगर्भित रचना में भी रहता है, समासरहित रचना में भी रहता है। इस प्रकार यह गुण सर्वसाधारण हैं। 'मुख्यतया गुण व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही माने जाने चाहिये।' इस कथन का आशय यह है कि अर्थ की समर्पकता तो व्यङ्ग्यार्थ के प्रति ही हो सकती है अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकती। शब्द में समर्पकता का गुण वाच्यार्थ को शीघ्रातिशीघ्र समर्पित करने के रूप में भी हो सकता है। किन्तु यह कोई अलौकिक बात नहीं है अर्थात् सभी शब्दों से यह तो आशा की ही जाती है कि वे अपना अर्थ प्रकट कर दें। अतः शब्दों की इस विशेषता को गुण का नाम देदेना उचित नहीं। (अतएव शब्दगत प्रसाद गुण का भी यही आशय है कि शब्द शीघ्र ही व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करदे) इस प्रकार भामह के अभिप्रेत तीन गुण ही उपपन्न होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। (वामन दण्डी इत्यादि के माने हुये १० गुण सिद्ध नहीं होते।) ये गुण मुख्यतया प्रतिपत्ता की द्रुति दीप्ति तथा प्रसाद रूपिणी आस्वादमयी चित्तवृत्तियों के ही वाचक होते हैं। इसी से उनका औपचारिक प्रयोग उन-उन चित्तवृत्तियों द्वारा आस्वाद्य रस में भी होता है। फिर उन रसों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ में भी उनका लाक्षणिक प्रयोग ही होता है। यही प्रस्तुत प्रकरण का तात्पर्य है॥१०॥

ध्वन्यालोकः

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्येऽर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये श्रृङ्गारव्यतिरेकिणि श्रृंगारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि? ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्। एवमसंल्लक्ष्यक्रमद्योत्यो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन।

जो श्रुतिदुष्ट इत्यादि अनित्य दोष सूचित किये गये हैं वे भी केवल वाच्यार्थ में नहीं होते, श्रृङ्गार से व्यतिरिक्त किसी अन्य व्यंग्यार्थ में भी नही होते, ऐसे श्रृङ्गार में भी नहीं होते जो ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित न हो। तो होता क्या है? यह बतलाया गया है कि ध्वन्यात्मक श्रृङ्गार में ही अर्थात् अङ्गी के रूप में स्थित व्यङ्ग्य श्रृङ्गार में ही उनका परित्याग किया जाना चाहिये। अन्यथा उनकी अनित्यता दोषता ही न बने। इस प्रकार सामान्य रूप से ध्वनि की आत्मा दिखलाई गई जिसका प्रकाशन संलक्ष्यक्रम रूप में होता है।

लोचन

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यते इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्तादयोऽसभ्यस्मृतिहेतवः श्रुतिदुष्टाः। अर्थदुष्टा वाक्यार्थबलादश्लीलार्थ-प्रतिपत्तिकारिणः। यथा—'छिद्रान्वेषी महाँस्तब्धो घातायैवोपसर्पति' इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इति क्रमव्यत्यासे। श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृणेढि इत्यादि। श्रृङ्गार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशान्ताद्भुतादावपि तेषां वर्जनात्। सूचिता इति। न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् श्रृङ्गारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः॥११॥

इस प्रकार हमारे पक्ष में ही गुण और अलङ्कार का व्यवहार विभाग के रूप में सङ्गत होता है यह दिखलाकर नित्यानित्य दोष-विभाग भी हमारे ही पक्ष में सङ्गत होता है यह दिखलाने के लिये कहते हैं—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्त इत्यादि असभ्य स्मृति में हेतु होते हैं श्रुतिदुष्ट। अर्थदुष्ट वाक्यार्थ बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति करनेवाले होते हैं। जैसे—'छिद्र का अन्वेषण करनेवाला महान् स्तब्ध घात के लिये ही निकट जाता है' यह। कल्पनादुष्ट तो दोनों पदों की कल्पना से। जैसे 'कुरु रुचिम्' यहाँ पर क्रम बदल देने से। श्रुतिकष्ट तो अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि में। श्रृंगार यह उचित रस के उपलक्षण के लिये (कहा गया है)। वीर शान्त और अद्भुत में भी उनका वर्जन (उचित) होने से। सूचिता इति। भाव यह है कि (भामह के द्वारा) इनका विषय-विभाग प्रदर्शन के द्वारा अनित्यत्व और भिन्नवृत्त इत्यादि दोषों से पृथक्त्व नहीं दिखलाया गया। और गुणों से व्यतिरिक्तत्व भी नहीं (दिखलाया गया)। बीभत्स हास्य और रौद्र इत्यादि में इनके उपगम से और श्रृंगार इत्यादि में बर्जन से अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन हम लोगों के द्वारा किया गया॥ ११॥

तारावती

(ऊपर काव्यमें गुणों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। आचार्यों ने गुणों पर अधिकतर रीतियों और वृत्तियों के सम्बन्ध में ही विचार किया है। अतः गुणों पर ठीक रूप में विचार करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि रीतियों और वृत्तियों को भी समझा जावे। ध्वनि-कार तथा उनके व्याख्याताओं ने वृत्तियों और रीतियों पर तृतीय उद्योत में विचार किया है। अतः वहीं पर गुणों के विषय में भी विस्तृत विवेचन किया जावेगा)

इस प्रकार यहां तक यह दिखलाया जा चुका कि विभाग-व्यवस्था के साथ गुण तथा अलङ्कार का व्यवहार हमारे पक्ष में ही ठीक हो सकता है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था भी रसविषयक हमारी मान्यताके स्वीकार कर लेने पर ही सङ्गत हो सकती है। इसी मन्तव्य से यह ११ वीं कारिका लिखी गई है। (भामह ने वाणी के चार दोष माने थे-श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट :—

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥

वान्त (कै) इत्यादि असभ्य अर्थ का स्मरण करने में जो हेतु होते हैं उन्हें श्रुतिदुष्ट दोष कहते हैं। अर्थदुष्ट उन्हें कहते हैं जो कि वाक्यार्थ के बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति करानेवाले हों। जैसे 'छिद्र का अन्वेषण करनेवाला महान् स्तब्ध घात के लिये ही निकट आता है।' (राजवर्णन में इसका अर्थ यह है कि शत्रु के दोषों को ढूंढनेवाला अत्यन्त दृढ व्यक्ति हत्या करने के लिये ही निकट आता है। यहांपर छिद्र स्तब्ध और घात इन शब्दों से एक अश्लील अर्थ की ओर सङ्केत होता है। छिद्र से योनि, स्तब्ध से पुरुष के उपस्थ की कठोरता और घात से सुरतकालीन आघात की व्यञ्जना होती हैं। अतः यहाँपर अर्थदुष्ट दोष है।) दो पदों की कल्पना अर्थात् उलट-फेर के द्वारा जो दोष आ जाता है उसे कल्पनादुष्ट कहते हैं। जैसे 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों के पौर्वापर्य में परिवर्तन कर लेने से 'रुचिङ्कुरु' बन जाता है। (इसमें बीच में चिङ्कु शब्द आ जाता है जो कि काश्मीरी भाषा में स्त्री के गुप्ताङ्ग के लिए प्रयुक्त होता है। अतः यह कल्पनादुष्ट दोष है।) जहाँ पर कर्णकटु वर्णों का प्रयोग हो वहाँ श्रुतिकष्ट दोष होता है जैसे अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि। (वृत्तिकार ने लिखा है कि श्रुतिदुष्ट इत्यादि जो दोष सूचित किये गये हैं वे वहीं पर होते हैं जहाँ पर शृङ्गार रस अङ्गी हो। यदि केवल वाच्यार्थ हो या शृङ्गार से भिन्न कोई अन्य वाच्यार्थ हो अथवा शृङ्गार ही अङ्ग हो तो वहां पर ये दोष नहीं माने जाते।) वृत्तिकार का शृङ्गार शब्द उपलक्षण मात्र है। इसमें उन समस्त रसों का समावेश हो जाता है जिनमें श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों का परित्याग उचित हो। अतएव यहांपर वीर, शान्त और अद्भुत का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि उनमें भी इन दोषों का वर्जन होता ही है। वृत्तिकार ने सूचित शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि भामह ने नित्यदोष और अनित्यदोषों का विषय विभाग करके स्वयं नहीं दिखलाया है। किन्तु

तारावती

भिन्नवृत्त इत्यादि दोष भी दिखला दिये हैं और श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष भी। नित्य और अनित्य का विषय-विभाजन नहीं किया है। न उन्होंने यही दिखलाया है कि ये दोष गुणों से व्यतिरिक्त होते हैं। (भामह ने यह नहीं दिखलाया है कि इनमें कौन से दोष कहाँ पर दोष रहते हैं कहाँ पर अदोष हो जाते हैं और कहाँ पर गुण हो जाते हैं।) हम लोगों ने (ध्वनि सम्प्रदाय-वादियों ने) यह बात देखी कि श्रुतिकष्ट इत्यादि का बीभत्स हास्य रौद्र इत्यादि में उपादान किया जाता है तथा शृङ्गार शान्त और अद्‌भुत में इनका परित्याग किया जाता है। इस आधार पर हम ध्वनिवादियों ने ही इन दोषों की अनित्यता और दोषता का समर्थन किया है। यही वृत्तिकार का आशय है।

[इस कारिका के लिखने का आशय यह है कि दोष दो प्रकार के पाये जाते हैं—कुछ दोष तो सर्वदा दोष ही रहते हैं जैसे छन्दोभङ्ग इत्यादि और कुछ दोष प्रकरण के अनुसार दोष भी हो जाते हैं, गुण भी हो जाते हैं और कहो-कहीं न दोष रहते हैं न गुण। जैसे श्रुतिकष्ट नामक दोष कोमल रसों में दोष रहता है, वही कठोर रसों में गुण हो जाता है। यह बात सहृदयहृदय-संवेद्य ही है। अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव दोषों की नित्यता तथा अनित्यता की व्यवस्था करनी होगी। यह व्यवस्था तभी सङ्गत मानी जा सकती है जब कि व्यङ्ग्य रस को उसके अङ्गी के रूप में स्थित होने पर ध्वनि की आत्मा मान लिया जावे। यदि वाच्यार्थमात्र ही स्वीकार किया जावेगा तो अर्थरूपता तो सर्वत्र एक जैसी ही होती है। अतः उसमें दोषों की नित्यानित्यव्यवस्था न बन सकेगी। इसके प्रतिकूल जब कि रस-व्यञ्जना का सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया जाता है तब यह विभाग-व्यवस्था बन जाती है। तब यह व्यवस्था ठीक हो जाती है कि कठोर वर्ण कोमल रसों में ही दोष होते हैं, कठोर रसों में वे गुण हो जाते हैं। यही बात हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इस प्रकार कही है—'रस के उत्कर्षहेतु गुण होते हैं और अपकर्षहेतु दोष होते हैं। ये गुण और दोष रस के ही धर्म होते हैं। उस रस के उपकारक शब्द और अर्थ में गुण और दोष रस के ही धर्म होते हैं। उस रस के उपकारक शब्द और अर्थ में गुण और दोष का औपचारिक प्रयोग होता है। अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने के कारण गुण और दोष रसाश्रित ही माने जाते हैं। वह इस प्रकार—जहाँ दोष होते हैं वह गुण होते हैं। रसविशेष में ही दोष होते हैं शब्द और अर्थ में नहीं। यदि शब्द और अर्थ में दोष हों तो बीभत्स इत्यादि में कष्टत्व इत्यादि गुण न हो जावें और हास्य इत्यादि में अश्लीलत्व इत्यादि गुण न हो जावें। ये दोष अनित्य होते हैं, क्योंकि जिस अङ्गी के वे दोष होते हैं उसके अङ्गी न होने पर वे दोष नहीं रहते और उसके अङ्गी होने पर दोष हो जाते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से गुण और दोष का रस ही आश्रय सिद्ध होता है।]

ध्वन्यालोकः

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२ ॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिविंवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निस्सीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्।

(अनु०) उस असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अङ्गों के जो अवान्तर भेद हैं और स्वयं उसके जो स्वगत अवान्तर भेद हैं उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने में भेदों की संख्या अनन्त हो जाती है ॥ १२ ॥

जो रस इत्यादि व्यङ्ग्य होता है और अंगी (प्रधान) रूप में भी स्थित होता है वह असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की एक आत्मा बतलाया गया है। उसके अंगों के अर्थात् वाच्य और वाचक के अनुसार आनेवाले अलङ्कारों के जो संख्यातीत अवान्तर भेद हैं और जो स्वगत भेद हैं अर्थात् उस अंगी अर्थ के रस भाव रसाभास भावाभास भावप्रशम नामक भेद विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव के प्रतिपादन के साथ अनन्त हो जाते हैं अर्थात् अपने आश्रय की अपेक्षा से (स्त्रीपुरुष की प्रकृति का विचार करते हुये) अनन्त हो जाते हैं। उनकी विशेषतायें सीमातीत हो जाती हैं। एक दूसरे से उनके सम्बन्ध की परिकल्पना करने पर रस के किसी एक भी प्रकार के भेदोपभेदों का परिसंख्यान नहीं किया जा सकता फिर सबका तो कहना ही क्या?

लोचन

अङ्गानामित्यलङ्काराणाम्। स्वगता इति। आत्मगताः सम्भोगविप्रलम्भाद्या आत्मीयगता विभावादिगतास्तेषां लोष्टप्रस्तारेणाङ्गाङ्गिभावे का गणनेति भावः। स्वाश्रयः स्त्रीपुंसप्रकृत्यौचित्यादिः। परस्परं प्रेम्णा दर्शनमित्युपलक्षणं सम्भाषणादेरपि। सुरतं चातुःषष्टिकमालिङ्गनादि। विहरणमुद्यानगमनम्। आदिग्रहणेन जलक्रीडापानकचन्द्रोदयक्रीडादि।

अङ्गानां का अर्थ है अलङ्कारों का। स्वगता इति। आत्मगत अर्थात् सम्भोग विप्रलम्भ इत्यादि और आत्मीयगत अर्थात् विभाव इत्यादि गत, लोष्टप्रस्तार के द्वारा उनके अङ्गाङ्गिभाव की क्या गणना हो सकती है यह भाव है। स्वाश्रय अर्थात् स्त्री-पुरुष के स्वभाव का औचित्य इत्यादि। परस्पर प्रेम के द्वारा दर्शन यह उपलक्षण है सम्भाषण इत्यादि का भी। सुरत अर्थात् चौंसठ प्रकार का आलिङ्गन इत्यादि। विहरण अर्थात् उद्यान गमन। आदि ग्रहण से जलक्रीडा, मदिरापान, चन्द्रोदय, क्रीडा इत्यादि।

ध्वन्यालोकः

तथाहि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—संभोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः।

विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदाः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्, किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम्। ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति।

(अनु०) वह इस प्रकार—अंगी शृङ्गार के दो भेद होते हैं सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग के परस्पर प्रेमपूर्वक देखना सुरत-विहरण इत्यादि लक्षणवाले बहुत से प्रकार होते हैं।

विप्रलम्भ के भी अभिलाष ईर्ष्या विरह प्रवास-विप्रलम्भ इत्यादि (भेद) होते हैं उनमें प्रत्येक के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भेद होते हैं। उनके भी देश-काल आदि आश्रय तथा अवस्था-भेद होते हैं। इस प्रकार स्वगत भेद की दृष्टि से एक ही उस (रस) की अपरिमेयता सिद्ध होती है। फिर अंगभेद कल्पना करने पर तो कहना ही क्या? जोकि अंग के अवान्तर भेद हैं उनमें प्रत्येक अंगी के अवान्तर भेदों से सम्बन्ध-परिकल्पना करने पर अनन्तता को ही प्राप्त हो जाता है।

लोचन

अभिलाषविप्रलम्भो द्वयोरप्यन्योन्यजीवितसर्वस्वाभिमानात्मिकायां रतावुत्पन्नायामपि कुतश्चिद्धेतोरप्राप्तसमागमत्वे मन्तव्यः। यथा 'सुखयतीति किमुच्यत' इत्यतः प्रभृति वत्सराजरत्नावल्योः न तु पूर्वं रत्नावल्याः। तदा हि रत्यभावे कामावस्थामात्रं तत्। ईर्ष्याविप्रलम्भः प्रणयखण्डनया खण्डितया सह। विरहविप्रलम्भः पुनः खण्डितया

अभिलाष—विप्रलम्भ दोनों के एक दूसरे को जीवित का सर्वस्व मानने के अभिमानरूप रति के उत्पन्न हो जाने पर भी किसी हेतु से समागम के प्राप्त न होने पर माना जाना चाहिये। जैसे 'सुख देती है, इस विषय में क्या कहा जावे' यहां से लेकर वत्सराज और रत्नावली का, पहले रत्नावली का नहीं। उस समय पर निस्सन्देह रति न होने पर वह केवल कामदेव की अवस्था ही होगी। ईर्ष्या-विप्रलम्भ प्रणय-खण्डन इत्यादि के द्वारा खण्डिता के साथ होता है।

तारावती

(बारहवीं कारिका का आशय यह है कि रस के अङ्गों और उनके स्वगत भेदों का परिसंख्यान सर्वथा असम्भव है।) 'उसके अंगों का' इसमें 'अंगों का' का अर्थ है अलङ्कारों का। (आशय यह है कि एक तो अलङ्कारों की संख्या में ही इयत्ता नहीं है, फिर कौन अलङ्कार किस प्रकार किस सम्बन्ध से किसी विशेष रस को अलंकृत करता है इसका विवेचन तो और भी अशक्य हैं।) स्वगत शब्द के दो अर्थ होते हैं—आत्मगत और आत्मीयगत। रस के आत्मगत भेदों का आशय है किसी विशिष्ट रस के अवान्तर भेद। जैसे शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ

लोचन

प्रसाद्यमानयापि प्रसादमगृह्णन्त्या ततः पश्चात्तापपरीतत्वेन विरहोत्कण्ठितया सह मन्तव्यः। प्रवासविप्रलम्भः प्रोषितभर्तृकया सहेति विभागः। आदिग्रहणाच्छापादिकृतः। विप्रलम्भ इव विप्रलम्भः। वञ्चनायां ह्यभिलाषितो विषयो न लभ्यते; एवमत्र। तेषां चेति। एकत्र संभोगादीनामपरत्र विभावादीनाम्। आश्रयो मलयादिः मारुतादीनां विभावानामिति यदुच्यते तद्देशशब्देन गतार्थम्। तस्मादाश्रयः कारणम्। यथा ममैव—

दयितया ग्रथिता स्रगियं मया हृदयधामनि नित्यनियोजिता।
गलति शुष्कतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम्॥

तस्येति शृङ्गारस्य। अङ्गिनां रसादीनां प्रभेदस्तत्सम्बन्धकल्पनेत्यर्थः॥१२॥

विरह–विप्रलम्भ फिर प्रसन्न की जाती हुई भी प्रसन्नता को न ग्रहण करनेवाली खण्डिता के साथ बाद में पश्चात्ताप से भर जानेपर विरहोत्कण्ठिता के साथ माना जाना चाहिये। प्रवास-विप्रलम्भ प्रोषितपतिका के साथ (होता है) यह विषय-विभाग है। आदि ग्रहण से शाप इत्यादि से उत्पन्न वियोग के समान जो वियोग होता है। वञ्चना में निस्सन्देह अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी। 'तेषां च' इति। एकत्र सम्भोग इत्यादि का अपरत्र विभाव इत्यादि का। मारुत इत्यादि विभावों का मलय इत्यादि आश्रय है जो यह कहा जाता है वह देश शब्द से गतार्थ है। अतः आश्रय का अर्थ है कारण जैसे मेरा ही (उदाहरण)— 'प्रियतमा के द्वारा गूंथी हुई (तथा) मेरे द्वारा नित्य हृदय-स्थल पर रखी हुई यह माला सूखी होने पर भी विरह-दाह रोग को शान्त करनेवाले अमृत रस को क्षरित करती है।'

'तस्य' का अर्थ है शृङ्गार का। अर्थात् अङ्गी रस इत्यादि का प्रभेद उनकी सम्बन्ध-कल्पना के द्वारा (होता है)॥ १२॥

तारावती

में भेद। आत्मीयगत का अर्थ है विभावादिगत। जिस प्रकार छन्दों में प्रस्तार होता है उसी प्रकार यदि लोष्ट प्रस्तार की प्रक्रिया से उन सबके अङ्गाङ्गी-भाव का विस्तार किया जावे (अलङ्कारों के द्वारा विभिन्न रसों का पोषण और विभिन्न प्रकार के विभाव इत्यादि में विभिन्न प्रकार के भावों का मेल दिखलाया जावे) तो उनकी गणना ही क्या हो सकती है? यही इस कारिका का भाव है। 'अपने आश्रय की अपेक्षा से भेदोपभेद संख्या सीमा रहित हो जाती है।' इस वाक्य में आश्रय का अर्थ है स्त्री-पुरुष की प्रकृतियों का औचित्य इत्यादि। ये प्रकृतियाँ अनन्त होती हैं और इनके उचित भावों का विस्तार भी अनन्त ही हो जावेगा। सम्भोग के परस्पर प्रेम-दर्शन सुरत विहरण इत्यादि लक्षणोंवाले अनेक प्रकार होते हैं।' इस वाक्य में प्रेम-दर्शन का अर्थ है प्रेमपूर्वक दर्शन। यह उपलक्षण है। इससे सम्भाषण इत्यादि का भी ग्रहण हो जाता है। (मैथुन के आठ भेद बतलाये गये हैं—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति। यहाँ पर दर्शन को उपलक्षण मान लेने से उन सभी

तारावती

भेदों का ग्रहण हो जाता है।) सुरत का अर्थ है ६४ प्रकार के आलिङ्गन इत्यादि। (कामसूत्रों में वात्स्यायन मुनि ने सुरत के ६४ प्रकार बतलाये हैं। मूलरूप में सुरत के ८ प्रकार होते हैं—आलिङ्गन, चुम्बन, नखच्छेद्य, दशनछेद्य, संवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित और औपरिष्टक। इन आठ प्रकारों में प्रत्येक के आठ-आठ प्रकार होकर ६४ भेद हो जाते है। आलिङ्गन दो प्रकार का होता है असंप्रयोगकालिक और संप्रयोग कालिक। असंप्रयोगकालिक आलिङ्गन चार प्रकार का होता है—स्पृष्टक, विद्धक, उद्धृष्टक और पीडितक। संप्रयोगकालिक आलिङ्गन भी चार प्रकार का होता हैं—लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढक, तिलतंडुलक और क्षीरनीरक। इस प्रकार आलिङ्गन के भी ८ प्रकार होते हैं। चुम्बन के ८ स्थान बतलाये गये हैं। इस प्रकार चुम्बन भी ८ प्रकार का ही होता है। चुम्बन के ८ स्थान ये हैं—ललाट, केश, कपोल, नेत्र, वक्षस्थल, स्तन, ओष्ठ और मुख का आन्तरिक भाग। नखच्छेद्य भी ८ प्रकार का होता है—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक और उत्पलपत्रक। दशनच्छेद्य भी ८ प्रकार का होता है—गूढक, उच्छूनक, विन्दु, विन्दुमाला, दवासमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक और वाराहचर्वितक। संवेशन भी ८ प्रकार का होता है—उत्फुल्लक, विजृम्भितक, इन्द्राणिक, सम्पुटक, पीडितक, वेष्टितक, वाडवक और समपृष्ट। सीत्कृत के ८ प्रकार ये हैं—हिङ्कार, स्वनित, कूजित, रुदित, सूत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत और विरुत। पुरुषायित के ८ प्रकार ये हैं—उपसृप्तक, मन्थन, हुलोवमर्दन, पीडितक, निर्घात, वाराहघात, वृषाघात और चटकविलसित। औपरिष्टक भी ८ प्रकार का होता है—निमित, पार्श्वतोदष्ट, वहिःसंदंश, अन्तःसंदंश, चुम्बितक, परिमृष्टक आम्रचूषितक और सङ्गर। इस प्रकार सुरत के ६४ प्रकारों का वात्स्यायनसूत्रों मे वर्णन किया गया है। कामसूत्रों में इनके विस्तृत लक्षण दिखलाये गये हैं वहीं देखना चाहिये।) विहरण का अर्थ है उद्यान गमन। इत्यादि का अर्थ है जलक्रीडा, पानक, चन्द्रोदय, क्रीडा इत्यादि। (यह तो सम्भोग शृङ्गार का वर्णन हुआ। अब विप्रलम्भ शृङ्गार को लीजिये) विप्रलम्भ कई प्रकार का होता है—अभिलाष, ईर्ष्या, विरह और प्रवास इत्यादि। जहाँ दोनों की इस प्रकार की रति उत्पन्न हो गई हो कि एक दूसरे को जीवितसर्वस्व समझने लगे हों किन्तु किसी कारण एक दूसरे का समागम न प्राप्त कर सके हों वहाँ पर अभिलाष-विप्रलम्भ होता है। रति उसे कहते हैं जहाँ अभिलाषा दोनों ओर हो। अभिलाषा केवल एक ओर हो तो उसे रति नहीं कहेंगे। वह केवल काम की एक अवस्था ही होगी। जैसे रत्नावली में चित्रदर्शन के अवसर पर—'यह कहना ही आवश्यक नहीं कि वह मुझे सुख दे रही है' इस वत्सराज की उक्ति के बाद ही रति का प्रारम्भ समझना चाहिये। इससे पहले रत्नावली का प्रेम रति की सीमा में नहीं आ सकता क्योंकि वह उभयनिष्ठ नहीं है। उस समय रति के अभाव में वह काम की एक विशेष अवस्था ही है। ईर्ष्या-विप्रलम्भ खण्डिता नायिका के साथ प्रणय-खण्डन इत्यादि के द्वारा होता है। विरह-विप्रलम्भ तब होता है जब नायक खण्डिता को मनाने की चेष्टा करता रहे और

ध्वन्यालोकः

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम्।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥ १३ ॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति ।

(अनु०) अतएव यहाँपर दिग्दर्शनमात्र कराया जा रहा है जिससे व्युत्पन्न रसिकों की बुद्धि प्रकाश को प्राप्तकर प्रत्येक स्थान पर तत्त्व को समझ सकेगी ॥ १३ ॥

दिग्दर्शनमात्र करा देने से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि अलङ्कारों के साथ एक भी रसभेद के अंगाङ्गिभाव को जान लेने के कारण प्रकाश को प्राप्तकर सर्वत्र प्रसार पा जावेगी ॥

लोचन

येनेति। दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः। सचेतसामिति। महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेप्सूनामिति भावः। सर्वत्रेति। सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः ॥ १३ ॥

येन का अर्थ है दिग्दर्शन के द्वारा। 'सचेतसाम्' का अर्थ है जो महाकवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करना चाहते हैं। 'सर्वत्र' इति। सभी रसादिकों में प्राप्त किया गया है। आलोक अर्थात् अवगम अर्थात् अच्छी व्युत्पत्ति जिसके द्वारा, यह सम्बन्ध है ॥ १३ ॥

तारावती

खण्डिता उसकी प्रार्थनाओं को ठुकराती चली जावे, अन्त में नायक निराश होकर वहाँ से चला जावे और तब नायिका को पश्चात्ताप हो। उस नायिका को विरहोत्कण्ठिता कहते हैं और उस वियोगावस्था को विरह विप्रलम्भ कहते हैं। प्रवास-विप्रलम्भ प्रोषितपतिका के साथ होता है। यही इन प्रकारों का विषय-विभाग है। इत्यादि का अर्थ है शाप इत्यादि के द्वारा होनेवाला विप्रलम्भ। (जैसे कादम्बरी में पुण्डरीक की मृत्यु के उपरान्त आकाशवाणी द्वारा पुनः सम्मिलन का आश्वासन मिल जाने पर महाश्वेता का विप्रलम्भ। अथवा चन्द्रापीड की मृत्यु के बाद उसी प्रकार का आश्वासन मिल जानेपर कादम्बरी का विप्रलम्भ।) विप्रलम्भ शब्द का शाब्दिक अर्थ है वञ्चना। वञ्चना में अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती वही बात वियोग में भी होती है। इसी सादृश्य के आधार पर वियोग के लिये विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाता है इसका अर्थ होता है विप्रलम्भ (वञ्चना) के समान विप्रलम्भ (वियोग)। :उनकी देश काल इत्यादि और आश्रय अवस्था इत्यादि के भेद से अनेकरूपता हो जाती है।, इस वाक्य में 'उनकी' का अर्थ है एक ओर उन सम्भोगादिकों का और दूसरी ओर विभाव इत्यादि का देश काल इत्यादि और आश्रय अवस्था इत्यादि का भेद होने पर अनेकरूपता हो जाती है। कुछ लोगों ने आश्रय शब्द का अर्थ किया है मलय इत्यादि। क्योंकि मलय उद्दीपन विभाव वायु का आश्रय है। किन्तु मलय इत्यादि, देश शब्द से ही गतार्थ हो जाते हैं। अतएव आश्रय शब्द

ध्वन्यालोकः

तत्र—

> शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
> सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥

अङ्गिनो हि शृंगारस्य ये उक्ता प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृंगारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह।

(अनु०) उसमें :—

'जहाँ शृङ्गार अंगी हो वहाँ पर उसके सभी भेदों में प्रयत्नपूर्वक लाने के कारण एकरूप अनुबन्धवाला अनुप्रास उसका प्रकाशक नहीं होता ॥ १४ ॥

निस्सन्देह अंगी शृङ्गार के जो भेद बतलाये गये हैं उन सबमें एकविध अनुबन्ध के रूप में प्रवृत्त होनेवाला अनुप्रास उनका व्यञ्जक नहीं होता। अंगी कहने का आशय यह है कि यदि शृङ्गार अंग हो तो उसमें अनुप्रास का एकरूपानुबन्ध कवि की इच्छा पर निर्भर है।

लोचन

तत्रेति। वक्तव्ये दिङ्मात्रे सतीत्यर्थः। यत्नादिति। यत्नतः क्रियमाणत्वादिति हेत्वर्थोऽभिप्रेतः। एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम् ॥ १४ ॥

तत्रेति। दिङ्मात्रवक्तव्य होने पर यह अर्थ है। यत्नादिति। यत्नपूर्वक किया जाता हुआ होने के कारण यहाँ हेतु अर्थ अभिप्रेत है। 'एकरूप' शब्द के ग्रहण का आशय यह है कि एकरूप अनुबन्ध को छोड़कर निबद्ध किया हुआ विचित्र अनुप्रास दोषपूर्ण नहीं होता ॥ १४ ॥

तारावती

का अर्थ है कारण। उदाहरण के लिये मेरा (अभिनव गुप्त का) ही पद्य—

'यह माला प्रियतमा की गूँथी हुई है; अतएव मैं इसे नित्य अपने वक्षस्थल पर धारण करता हूँ। यद्यपि यह बिल्कुल सूख चुकी है किन्तु फिर भी मेरे लिये अमृत-रस की वर्षा कर रही है और मेरे वियोग के दाह की पीड़ा को शान्त करनेवाली है।'

यहाँ पर माला के उद्दीपक होने में प्रियतमा द्वारा ग्रथित होना कारण है :

'उसके असंख्य भेद हैं' में उसके शब्द का अर्थ है शृङ्गार के। आशय यह है कि अङ्गी रसादि के अवान्तर भेद उनके सम्बन्धों की कल्पना रूप ही होते हैं ॥१२॥

तेरहवीं कारिका का आशय यह है—अग्रिम प्रकरण में शृंगार की अङ्ग कल्पना का दिग्दर्शन मात्र कराया जावेगा। जिससे सहृदयों की बुद्धि को एक प्रकाश प्राप्त हो जायेगा और वे रस-सम्बन्धी दूसरे निगूढ़ तत्वों को भी समझ सकेंगे। यहाँपर जिससे का अर्थ है दिग्दर्शन मात्र कर देने से। सहृदय शब्द से यहाँपर दोनों का ग्रहण हो जाता है—जो महाकवित्व पद

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५ ॥

ध्वनेरात्मभूतः शृंगारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम् । प्रमादित्वमित्यनेनैतद्दर्श्यते—काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति । 'विप्रलम्भे विशेषत' इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते । तस्मिन् द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ।

(अनु०) ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित शृङ्गार रस की व्यञ्जना में यमक इत्यादि का निबन्धन; कवि के शक्त होने पर भी, प्रमाद ही कहा जावेगा और विप्रलम्भ में तो विशेष रूप में प्रमाद कहा जावेगा ॥ १५ ॥

ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित शृङ्गार रस का जहां वाच्य-वाचक के द्वारा प्रकाश किया जावे उसमें यमक इत्यादि तथा वैसे ही दूसरे अलङ्कारों का, जिनमें दुष्कर सभंग शब्दश्लेष इत्यादि सम्मिलित हैं, निबन्धन शक्त होते हुए भी प्रमाद ही कहा जावेगा । प्रमाद कहने का आशय यह है कि काकतालीय न्याय से कभी किसी एक यमक इत्यादि की निष्पत्ति भले ही हो जावे किन्तु अन्य अलङ्कारों की भाँति उनका रस के अंग के रूप में बहुलता से प्रयोग नहीं करना चाहिये 'विप्रलम्भ मे विशेषरूप से' इस कथन के द्वारा विप्रलम्भ में सौकुमार्य की अधिकता व्यक्त की गई है । उसकी व्यञ्जना में अंग के रूप में यमक इत्यादि का प्रयोग नियमानुकूल करना ही नहीं चाहिये ।

तारावती

को प्राप्त करने के इच्छुक हैं तथा जो सहृदयत्व पद को प्राप्त करना चाहते हैं । 'आसादितालोका' यह बहुव्रीहि समास है और बुद्धिः का विशेषण है । इसका विग्रह इस प्रकार होगा सब रसों में प्राप्त कर लिया गया है आलोक जिसके द्वारा । आलोक का अर्थ है अवगम अर्थात् व्युत्पत्ति । (आशय यह है कि यदि थोड़ा सा सङ्केत कर दिया जावेगा तो सहृदयोंको समझने की योग्यता उत्पन्न हो जावेगी और वे उसी आदर्श पर न बतलाई हुई बात को भी समझ जावेंगे ।) ॥१३॥

चौदहवीं कारिका का उपक्रम करने के लिये आनन्द-वर्धन ने लिखा है—'तत्र' तत्र का अर्थ है उसके होने पर अर्थात् जब हमें दिग्दर्शन मात्र के रूप में कथन करना है तब हम (शृङ्गार रस में अङ्गयोजना-अलङ्कारयोजना का प्रकरण ले रहे हैं ।) इस कारिका में कहा गया है कि यदि शृङ्गार अंगी हो तो प्रयत्न पूर्वक लाया हुआ एक रूप अधुवन्धवाला अनुप्रास शृंगार के सभी भेदों से उसका प्रकाशक नहीं होता यहाँपर 'यत्नात्' में हेतु के अर्थ में पञ्चमी का प्रयोग हुआ है । क्योंकि प्रयत्नपूर्वक उसका अनुबन्धन किया जाता है अतः वह प्रकाशक नहीं होता । 'जिस

लोचन

यमकादीत्यादिशब्दः प्रकारवाची । दुष्करं मुरजबन्धादि । शब्दभङ्गो न श्लेष इति । अर्थश्लेषो न दोषाय 'रक्तस्त्वम्' इत्यादौ, शब्दभङ्गोऽपि क्लिष्ट एव दुष्टः, न त्वशोकादौ ॥ १५ ॥

'यमकादि' में आदि शब्द प्रकारवाची हैं। 'दुष्कर' मुरज बन्ध इत्यादि । शब्दभङ्ग श्लेष इति । 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि अर्थश्लेष में दोष नहीं होता। भङ्गश्लेष भी क्लिष्ट ही दुष्ठ होता है, अशोक इत्यादि में नहीं ॥ १५ ॥

तारावती

का अनुबन्धन एकरूप का हो' कहने का आशय यह है कि यदि अनुबन्धन विचित्र प्रकार का हो तो ऐसे अनुप्रास का निबन्धन सदोष नहीं होता। (यदि एक प्रकार का ही अनुप्रास बहुत दूर तक चला जाता है तो उस काव्य में अनुप्रास ही प्रधान बन जाता है और मुख्य वस्तु अथवा रस गौण हो जाता है। यही दोष होता है।) ॥ १४ ॥

१५ वीं कारिका का आशय यह है—'यदि श्रृंगार रस अंगी हो तो शक्ति होते हुए भी यमक इत्यादि का निबन्धन प्रमाद ही कहा जावेगा और यह बात विप्रलम्भ श्रृंगार के विषय में विशेष रूप से कही जायगी।' यहाँ पर 'यमक इत्यादि' में इत्यादि शब्द का अर्थ है प्रकार। यमक के प्रकार (ढंग) के जो 'दुष्कर शब्दभंग श्लेष आदि' अलङ्कार होते हैं—यहाँपर दुष्कर का अर्थ है मुरजबन्ध इत्यादि। अर्थश्लेष में दोष नहीं होता। जैसे 'रक्तस्त्वं नव पल्लवैः' इत्यादि पद्य में (सभंग शब्द श्लेष भी वहीं पर दोष होता है जहाँ पर उसका प्रयोग क्लिष्ट हो। यदि उसका प्रयोग सरल हो तो दोष नहीं होता जैसे 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः.........' इत्यादि पद्य में 'अशोक' शब्द में सभंग शब्द श्लेष होते हुए भी क्लिष्ट न होने के कारण दोष नहीं है। (इस विषय में पण्डितराज ने लिखा है—'वैय्याकरणों को त्व प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुगन्त इत्यादि के प्रयोग बहुत प्रिय हैं। किन्तु उनका मधुर रस में प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार कवि को चाहिये कि चाहे सम्भव ही क्यों न हों किन्तु ऐसे अनुप्रास के समूहों और यमक इत्यादिकों का निबन्धन न करे जिनमें व्यंग्य चर्वणा के लिये आवश्यक योजना के अतिरिक्त उनके लिये ही पृथक् योजना करनी पड़े और जो अधिक चमत्कारकारक हों। क्योंकि ऐसे अलङ्कार रस चर्वणा के बीच में आ जाते हैं और सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर खींचते हुए रसास्वादन से पराङ्मुख कर देते हैं। यह बात विप्रलम्भ के विषय में विशेष रूप से कही जा सकती है। निस्सन्देह विप्रलम्भ निर्मल मिश्री से बने हुये पानक के समान सबसे अधिक मधुर होता है। यदि उसमें कोई भी पदार्थ थोड़ी भी स्वतन्त्रता को धारण कर ले तो वह सदस्यों के हृदय को पीड़ित करनेवाला हो जाता है और सर्वथा सामानाधिकरण्य को प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात ध्वनिकार ने 'ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे' इत्यादि कारिका लिख कर कही है। और जो अलङ्कार क्लिष्ट न हों तथा अपने कथारस की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठने की चेष्टा न

ध्वन्यालोकः

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥ १६॥

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

(अनु०) इस विषय में युक्ति बतलाई जा रही हैं—

'रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलङ्कार का बन्ध कर सकना शक्य हो और उसके लिये पृथक् यत्न न करना पड़े ध्वनि में वही अलङ्कार माना जाता है। १६॥

निष्पत्ति में आश्चर्यजनक होते हुये भी रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलङ्कार का बन्धन कर सकना सम्भव हो, वह इस अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अलङ्कार माना जाता है। उसी की रसाङ्गता मुख्य होती है।

लोचन

युक्तिरिति। सर्वव्यापकं वस्त्वित्यर्थः। रसेति। रससमवधानेन विभावादिघटनामेव कुर्वंस्तत्रान्तरीयकतया यमासादयति स एवालङ्कारो रसमार्गे नान्यः। तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र। गड्डुरिकाप्रवाहोपहतसहृदयमधुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया श्रृंगारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः। तथा च 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' इति सामान्येन वक्ष्यति। निष्पत्ताविति। प्रतिभानुग्रहात्स्वयमेव सम्पत्तौ निष्पादनानपेक्षायामित्यर्थः। आश्चर्यभूत इति। कथमेष निबद्ध इत्युद्भवस्थानम्।

'युक्तिः' इति। अर्थात् सर्वव्यापक वस्तु। 'रस' इति। रस की सन्निकटता से विभाव इत्यादि को सङ्घटित करते हुये अवश्यकर्तव्यता के रूप में जिसको प्राप्त करता है यहाँपर रस मार्ग में वही अलङ्कार होता है अन्य नही। इससे वीर और अद्भुत इत्यादि रसों में भी सर्वत्र कवि और सहृदय के लिये यमक इत्यादि रस विघ्न कारक ही होते हैं। भेड़ चाल के प्रवाह से उपहत तथा सहृदय धुरीणता के अधिरोह से रहित लोक के अनुरञ्जन के अभिप्राय से मैंने यह कह दिया है कि शृङ्गार और विप्रलम्भ में विशेष रूप से (उनका वर्जन करना चाहिये)। इस प्रकार 'अतएव रस में इनकी अङ्गता विद्यमान नहीं है' यह सामान्य रूप में कहेंगे। 'निष्पत्तौ' इति। अर्थात् प्रतिभा के अनुग्रहण से स्वयमेव निष्पत्ति हो जाने से निष्पादन की अपेक्षा नहीं होती। आश्चर्यभूत इति। यह कैसे निबद्ध हो गया यह अद्भुत का स्थान है।

तारावती

कर रहे हों अपितु रस चर्वणा में ही सुन्दर सुख को प्रकट करने की शक्ति रखते हों उन अनुप्रास इत्यादि का त्याग उचित नहीं होता।')॥ १५॥

ध्वन्यालोकः

यथा—

कपोले पत्त्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निश्श्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पस्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

(अनु०) जैसे :—

कपोलों की पत्र रचना करतल के आवरण के द्वारा पोंछ दी गई है। निःश्वासों के द्वारा इस अमृत के समान हृद्य अधर रस का पान किया गया है। आंसू बार-बार कण्ठ में लगकर स्तन-तट को कँपा रहा है। बिना ही अनुरोध के मन्यु तुम्हें प्यारा हो गया किन्तु हम प्यारे नहीं हुये।

तारावती

(अब यहाँ पर यह विचार किया जा रहा है कि इन अनुप्रासादिकों का प्रयोग शृङ्गार रस का अभिव्यञ्जक होता क्यों नहीं है? कारिका में कहा गया है कि ध्वनि में वही अलङ्कार माना जाता है जिसका आक्षेप रस के द्वारा ही कर सकना सम्भव हो और जिसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न न करना पड़े।) 'इस विषय में 'युक्ति' दी जा रही है' इस वाक्य में युक्ति शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक वस्तु। आशय यह है कि उक्त अवसरों पर अनुप्रासादि के प्रयोग न करने का ऐसा हेतु बतलाया जा रहा है जो सर्वत्र लागू हो जाता है। कारिका का आशय यह है कि कवि का ध्यान प्रधानतया रस की ही ओर होता हैं। रसादि की अभिव्यञ्जना करने के लिये कवि विभाव इत्यादि की सङ्घटना किया करता है। उस अवसर पर यदि किसी ऐसे अलङ्कार का प्रयोग स्वतः हो जावे जिसका टाल सकना असम्भव हो और जो रसाभिव्यञ्जन के लिये अनिवार्य हो जावे, रस के मार्ग में वही अलङ्कार माना जाता है। उसके अतिरिक्त अन्य अलङ्कार ही नहीं होता। यहाँपर शृङ्गार शब्द का प्रयोग न कर सामान्य रूप से रस शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह हैं कि यमक इत्यादि का प्रयोग केवल शृङ्गार रस में ही कवि और सहृदय के लिए व्याघात उत्पन्न करनेवाला नहीं होता किन्तु वीर और अद्भुत इत्यादि रसों में भी सर्वत्र विघ्न डालनेवाला होता है। अधिकतर विचारक यमक इत्यादि को शृङ्गार रस का ही विघातक मानते आये हैं। भेड़ चाल का अनुसरण करने के कारण जिनका विवेक नष्ट हो गया है और जो सहृदय-धुरीण लोगों की सीमा में नहीं आ सकते वे भी उन्हीं लोगों का अनुसरण करते हुये यही मानते हैं कि यमक इत्यादि का बहुल प्रयोग शृङ्गार रस का ही उपघातक होता है। उनके सामने झुककर उनका संग्रह करने के लिए ही मैंने (ध्वनि-वादियों ने) भी शृङ्गार रस का ही उपघातक अलङ्कारों को कह दिया है। वस्तुतः अलङ्कारों का बाहुल्य सभी रसों का विघातक होता है। यही बात आनन्दवर्धन आगे चलकर स्वयं कहेंगे—

लोचन

करकिसलयन्यस्तवदना श्वासतान्ताधरा प्रवर्तमानबाष्पभरनिरुद्धकण्ठी अविच्छिन्नरुदितरञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्यजन्ती चाटूक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ष्याविप्रलम्भगतानुभावचर्वणावहितचेतस एव वक्तुः श्लेषरूपकव्यतिरेकाद्या अयत्ननिष्पन्नाश्चर्वयितुरपि न रसचर्वणाविघ्नमादधतीति।

करकिसलय पर अपने मुख को रक्खे, हुये श्वास से मलिन अधरवाली, प्रवृत्त होनेवाले वाष्पभार से निरुद्ध कण्ठवाली, अविच्छिन्न रोदन से चञ्चल कुचतटोंवाली, रोष को न छोड़ती हुई चाटूक्ति से जब तक प्रसन्न की जाती है तब तक अयत्ननिष्पन्न श्लेष, रूपक, व्यतिरेक इत्यादि अलंकार ईर्ष्याविप्रलम्भगत अनुभाव की चर्वणा में मन लगाये हुये वक्ता की और चर्वण करते हुये सहृदय व्यक्ति की रस चर्वणा में विघ्न नहीं करते।

तारावती

'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते'। 'आश्चर्य हो जाता है' कहने का आशय यह है कि जब किसी अलङ्कार की निष्पत्ति हो जाती है—जो प्रायः स्वयं ही हुआ करती है तथा जिसके निष्पादन के लिये कवि को पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता—तब उस अलङ्कार को देखकर आश्चर्य हो जाता है कि बिना ही चेष्टा के यह अलङ्कार किस प्रकार आ गया। (इस प्रकार रस-व्यञ्जना की चेष्टा में ही जिस अलङ्कार को निबद्ध कर सकना शक्य हो, इस अलङ्कार-ध्वनि के प्रकरण में वही अलङ्कार माना जाता है। क्योंकि वही मुख्यरूप से इसका अंग होता है।)

(यहाँपर अलङ्कार के अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व का उदाहरण दिया गया है। मानिनी नायिका को मनाने के अवसर पर नायक ने ये शब्द कहे हैं।) नायिका कर-किसलय पर अपने मुख को रक्खे हुये है। श्वास से उसका अधर मलिन पड़ रहा है, बहनेवाले आँसुओं के भार से उसका कण्ठ रुंध गया है, निरन्तर रोने के कारण उसके कुचतट काँप रहे हैं, वह क्रोध को किसी प्रकार छोड़ नहीं रही है। उसको चाटूक्तियों के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा ही मुख्य विषय है। अतः यहाँ पर ईर्ष्या-विप्रलम्भ के अनुभावों की चर्वणा मुख्य व्यंग्य है और वक्ता का ध्यान प्रधान रूप से उसी ओर है। संयोगवश निम्नलिखित अलङ्कारों का भी समावेश हो गया है—(१) रूपक—मन्यु पर प्रियतम का आरोप—प्रियतम के सहवास के अवसर पर भी कपोल की पत्र-रचना प्रियतम के हाथ से पुँछ जाती है और मन्यु में भी करतल पर कपोल रखने के कारक पत्र-रचना पुछ गई है। प्रियतम सहवास के अवसर पर अमृत के समान हृद्य अधर-रस का पान करता है और मन्यु भी निश्वासों के द्वारा अधर-रस (अधरों की आर्द्रता) को पी गया है। प्रियतम भी प्रियतमा को कण्ठ में लगाता है और मन्यु भी आँसुओं के रूप में नायिका का कण्ठ पकड़े हुये है। प्रियतम भी नायिका के स्तनतटों को तरल कर देता है और मन्यु भी स्तनों को तरल कर रहा है। इन साधारण धर्मों के आधार पर मन्यु पर प्रियतम का आरोप हुआ है। अतः रूपक अलङ्कार है (२) अधर-रस शब्द के दो अर्थ हैं—अधरामृत

ध्वन्यालोकः

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्द-विशेषान्वेषणरूपः।

(अनु०] अलङ्कार का रस के अङ्ग होने का लक्षण यह है कि कवि को अलङ्कार-योजना के लिये कोई पृथक् प्रयत्न न करना पड़े। रसबन्धन के अध्यवसाय में प्रवृत्त कवि की रसवासना का अतिक्रमण कर दूसरे प्रयत्न का सहारा लेने पर जो अलङ्कार निष्पन्न होता है वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं होता। जब अविच्छिन्न रूप में यमक लाने की बुद्धि-पूर्वक चेष्टा की जाती हैं तब नियमतः दूसरे प्रयत्न का सहारा लेना ही पड़ता है और वह प्रयत्न होता है विशेष प्रकार के शब्दों का अन्वेषण रूप।

लोचन

लक्षणमिति व्यापकमित्यर्थः। 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः। अत एव बुद्धिपूर्वकत्वमवश्यंभावीति बुद्धिपूर्वकशब्द उपात्तः। रससमवधानादन्यो यत्नो यत्नान्तरम्।

लक्षणमिति। अर्थात् व्यापक। सम्बन्ध यह है कि प्रबन्ध के द्वारा किया जाता हुआ। अतः बुद्धिपूर्वकत्व अवश्यम्भावी है इसलिये बुद्धिपूर्वक शब्द का उपादान किया गया है। यत्नान्तर का अर्थ है रस समवधान से भिन्न यत्न।

तारावती

और अधरों की आर्द्रता। इस प्रकार श्लेषालङ्कार हैं। (३) मन्यु प्यारा है मैं प्यारा नहीं हूँ, इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार हो जाता है। ये तीनों अलङ्कार स्वभाविक रूप में ही आ गये हैं। इनके लिये कवि को कोई अतिरिक्त प्रयत्न करना नहीं पड़ा हैं। अलङ्कार विना यत्न के निष्पन्न हुये हैं और रसचर्वणापरायण सहृदय के हृदय में भी रस-चर्वणा में व्याघात उत्पन्न नहीं करते।

वृत्तिकार ने लिखा है कि 'उस अलङ्कार का रस के अंग होने में लक्षण है उसका पृथक् यत्न द्वारा सम्पन्न न होना।' आशय यह है कि कवि रस-निष्पत्ति के लिये जो प्रयत्न करता है उसी प्रयत्न के द्वारा अलङ्कार का प्रयोग भी हो जाता है। उसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़े तो वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं हो सकता। लक्षण का अर्थ है व्यापक धर्म। अलङ्कार की रसाङ्गता का व्यापक धर्म ही है पृथक् यत्न के द्वारा निर्वर्त्य न होना। इस सन्दर्भ की लोचनकार ने विस्तृत व्याख्या नहीं की है। सम्भवतः इसे सरल समझकर छोड़ दिया है। केवल कतिपय शब्दों का अर्थ दे दिया हैं। उन्हीं शब्दों का अर्थ यहाँ पर दिया जा रहा है। मूल स्पष्ट है अतः विषय को समझने के लिये अनुवाद को देखना चाहिये। वृत्ति में

ध्वन्यालोक:

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्—नैवम्, अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ। युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव। यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्वङ्गितैव। रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम्। अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसेनाङ्गत्वं पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः।

(अनु०) (प्रश्न) जो बात यमक के विषय में कही जाती है वही दूसरे अलङ्कारों के विषय में भी कही जा सकती है? (उत्तर) दूसरे अलङ्कारों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। जब कोई प्रतिभाशाली कवि रसमय रचना करने में अपना मन लगा देता है उस समय ऐसे ऐसे अलङ्कार जिनकी सङ्घटना प्रयत्न करने पर भी कठिन है स्वयं आने लगते हैं मानों पहले आने के लिये होड़ लगा रहे हों। उदाहरण के लिये (चन्द्रापीड के) कादम्बरी के दर्शन करने के अवसर पर कादम्बरी में अलङ्कार इसी प्रकार आये हैं अथवा जिस प्रकार सेतुबन्ध काव्य में माया के बने हुये राम के शिर के दर्शन के अवसर पर सीता देवी के विह्वल हो जाने पर भी अलङ्कार होड़ लगाकर आये हैं। अलङ्कारों का इस प्रकार होड़ लगाकर आना स्वाभाविक ही है। कारण यह है कि रसों का आक्षेप विशेष प्रकार के वाच्य के द्वारा ही किया जाता है। रूपक इत्यादि अलङ्कार भी और कुछ नहीं हैं केवल रस-प्रतिपादक शब्दों के द्वारा प्रकाशित होनेवाले (और रस को प्रकाशित करनेवाले) विशेष प्रकार के वाच्य ही हैं। अतः इस प्रकार के अलङ्कार रसाभिव्यक्ति में वहिरंग कभी नहीं कहे जा सकते। किन्तु यमक के दुष्कर मार्ग में वहिरंगता बनी ही रहती है। (आशय यह है कि वाच्यार्थ के द्वारा रस का आक्षेप होता है। अतः वाच्यालङ्कारों का आना स्वाभाविक ही है। किन्तु यमक इत्यादि का निरन्तर आना असाधारण बात है, उसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना ही पड़ता है। अतः उनका प्रयोग रसाभिव्यक्ति में व्याघात ही उत्पन्न करता है।) रसमय काव्यों में भी जहाँ यमक इत्यादि का प्रयोग-बाहुल्य पाया जाता है वहाँ रस इत्यादि अङ्ग (अप्रधान) होते हैं और यमक इत्यादि अंगी। हाँ रसाभास में यमक आदि का अङ्ग होना भी विरुद्ध नहीं है। किन्तु जहाँ रस अङ्गी (प्रधान रूप में व्यङ्ग्य) हों वहाँ यमक इत्यादि अङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि उनके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है।

ध्वन्यालोकः

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥

(अनु०) इसी अर्थ के संग्रह श्लोक :—

कतिपय रसमय वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनमें अलंकारों का भी समावेश हो जाता है। वहाँ पर महाकवि के एक ही प्रयत्न के द्वारा रस और अलङ्कार दोनों की निष्पत्ति हो जाती है।

यमक इत्यादि को रचना में कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। अतः समर्थ भी कवि की रसमय रचना में यमक इत्यादि अङ्ग नहीं हो सकते।

यमक इत्यादि का रसाभास का अङ्ग होना निषिद्ध नहीं किन्तु ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित श्रृंगार में यमक इत्यादि किसी प्रकार भी अङ्ग नहीं हो सकते।'

लोचन

निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः तथा निरूप्यमाणदुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः। अहं पूर्वः अग्रग इत्यर्थः। अहमादावहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः। अहंपूर्व इत्यस्य भावोऽहंपूर्विका। अहमिति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थवृत्तिः।

एतदिति। अहंपूर्विकया परापतनमित्यर्थः। कानिचिदिति। कालिदासादिकृतानीत्यर्थः। शक्तस्यापि पृथग्यत्नो जायत इति सम्बन्धः। एषामिति। यमकादीनाम्। ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे इति यदुक्तं तत्प्राधान्येनार्धश्लोकेन संगृहीते ध्वन्यात्मभूत इति ॥

निरूपण किये जानेपर जिसकी सङ्घटना दुष्कर होती है। अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक करने के लिये इच्छित होते हुये भी जिनका करना अशक्य हैं। तथा निरूपण किये जाने पर दुर्घट अर्थात् ये कैसे रच गई हैं इस प्रकार विस्मय को उत्पन्न करनेवाले। 'मैं पहले' अर्थात् आगे। अर्थात् मैं पहले आऊँगा मैं पहले आऊँगा। 'अहं पूर्व' की भाववाचक संज्ञा है अहंपूर्विका। 'अहम्' यह 'अस्मद्' के अर्थ में विभक्तिप्रतिरूप निपात है।

एतत् इति। अर्थात् अहंपूर्विका के साथ दौड़ दौड़कर आना। कानिचित् इति। अर्थात् कालिदास इत्यादि के किये हुये। समर्थ (कवि) का भी पृथक् यत्न हो जाता हैं यह सम्बन्ध है। 'इनका' अर्थात् यमक इत्यादि का। 'ध्वन्यात्मभूत श्रृंगार में' जो यह कहा गया है वह प्रधानतया अर्ध श्लोक से संगृहीत 'ध्वन्यात्मभूते' इस (का संग्राहक है) ॥ १६ ॥

ध्वन्यालोकः

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य श्रृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते।

ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

(अनु०) अब उस अलङ्कार वर्ग की व्याख्या की जा रही है जिसका ध्वन्यात्मभूत शृंगार में उपादान उचित होता है—

'ध्वन्यात्मभूत शृंगार में समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया हुआ रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त हो जाता है' ॥ १७ ॥

तारावती

लिखा है—'प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वं क्रियमाणे' इस वाक्यखण्ड में 'प्रबन्धेन क्रियमाणे' यह संबन्ध योजना होगी। (प्रबन्ध का अर्थ है अविच्छेद। अर्थात् यदि यमक इत्यादि कहीं एक बार आ जावें तो उससे उतना रसविच्छेद नहीं होता। किन्तु जब यमक इत्यादि अविच्छिन्न रूप में आते ही चले जाते हैं तो एक तो कवि को यमक के लिये शब्दान्वेषण का पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है दूसरे पाठक की मनोवृत्ति यमक में ही उलझकर रह जाती है उसे रसास्वादन का अवसर ही नहीं मिलता।) इसीलिये 'बुद्धिपूर्वक' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि जब यमक प्रबन्ध के रूप में प्रवृत्त होगा तो उसमें बुद्धिपूर्वकता आ ही जावेगी। 'यत्नान्तर' शब्द का अर्थ है रस-समवधान के लिये जितने यत्न की आवश्यकता है उसके अतिरिक्त यत्न। 'निरूप्यमाण-दुर्घटनानि' के दो अर्थ हो सकते हैं—निरूपण करने पर भी जिनकी संघटना कठिन हो अर्थात् ऐसे अलङ्कार स्वभावतः आ जाते हैं जिनकी संघटना उस समय भी कठिन हो जावे। जब बुद्धिपूर्वक उनके संघठन करने की इच्छा की जावे तथा निरूपण करने पर जो दुर्घट दिखलाई दें अर्थात् जिनपर विचार करने पर स्वयं कवि को आश्चर्य हो जावे कि मैंने इन अलंकारों को रच कैसे दिया ? 'अहंपूर्विका' शब्द 'अहंपूर्वः' से बना है जिसका अर्थ है कि 'मैं ही पहले आऊँगा' 'मैं ही पहले आऊँगा' इस प्रकार की होड़ अलंकारों में लग जाती है। 'इसी 'अहंपूर्वः' शब्द का भावार्थक प्रत्यय होकर 'अहंपूर्विका' बना है। 'यह बात ठीक भी है' इस वाक्य में 'यह बात' का अर्थ है—अलंकारों का होड़ लगा कर आना। 'कुछ अलंकार रसवान् होते हैं' इस वाक्य में 'कुछ' का अर्थ है कालिदास इत्यादि महाकवियों के बनाये हुये। इसका सम्बन्ध इससे है कि 'समर्थ भी कवि को उनके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। इनकी रस में व्यङ्ग्यता नहीं होती' इस वाक्य में 'इनकी' का अर्थ है यमक इत्यादि की। इन संग्राहक पद्यों में 'ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे' यह जो कहा गया है वह प्रधानतया आधी कारिका में आये हुये 'ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे' का ही निर्देशक है ॥ १६ ॥

'अब ध्वन्यात्मभूत शृंगार के व्यञ्जक अलंकार वर्ग का प्रकथन किया जा रहा है' इस वाक्य में 'अब' का अर्थ यह है कि पिछले प्रकरण में उन अलंकारों का दिग्दर्शन करा दिया गया जो

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वाच्यालङ्कार-वर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्। स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्व-हेतुर्निष्पद्यते।

अलङ्कार निस्सन्देह बाह्यालंकार के साम्य से अङ्गी की चारुता में हेतु कहा जाता है। 'रूपक इत्यादि' में इत्यादि के द्वारा उन सब अलङ्कारों का संग्रह हो जाता है जो कि वाच्यालङ्कार के रूप में कहे गये हैं और जो कुछ लोगों के द्वारा आगे चलकर कहे जावेंगे क्योंकि अलङ्कार अनन्त होते हैं। वह सब अलङ्कारप्रपञ्च यदि समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया जाता है तो अङ्गी ध्वनि के रूप में स्थित सभी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रस इत्यादि की चारुता में हेतु बन जाता है।

लोचन

इदानीमिति। हेयवर्ग उक्तः। उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः। व्यञ्जक इति। यश्च यथा चेत्यध्याहारः। यथार्थतामिति। चारुत्वहेतुतामित्यर्थः। उक्त इति। भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः। वक्ष्यते चेत्यत्र हेतुमाह अलङ्काराणामनन्तत्वादिति। प्रतिभानन्त्यादन्यैरपि भाविभिः कैश्चिदित्यर्थः॥

इदानीमिति। हेयवर्ग कह दिया गया। उपादेयवर्ग तो कहा जाना चाहिये यह भाव है। व्यञ्जक इति। 'जो और जिस प्रकार' इन शब्दों का अध्याहार (किया जाना चाहिये)। यथार्थतामिति। अर्थात् चारुत्वहेतुता को। 'कहा गया है'। अर्थात् भामह इत्यादि अलंकार-लक्षणकारों के द्वारा। और कहा जावेगा इस विषय में हेतु बतलाते हैं—अलंकारों के अनन्त होने से। अर्थात् प्रतिभा के अनन्त होने से अन्य भी कुछ होनेवाले (अलंकारों) से (अनन्तता होती है।)

तारावती

रसमय रचना में त्याज्य होते हैं; रसमय रचना में जिनका प्रकथन करना उचित है उनका निर्देश किया जा रहा है। 'व्यञ्जक' के साथ 'जो' और 'जिस प्रकार' का अध्याहार कर लेना चाहिये। अर्थात् यहाँपर यह भी बतलाया जा रहा है कि कौन से अलंकार रस के व्यञ्जक होते हैं और यह भी बतलाया जा रहा है कि वे किस प्रकार व्यञ्जक होते हैं। 'अलंकार यथार्थता को प्राप्त होते हैं' इस वाक्य में यथार्थता का अर्थ है चारुत्वहेतुता। अर्थात् आत्मभूत शृंगार में यदि विचारपूर्वक रूपक इत्यादि अलंकारों की योजना की जावे तो वे अलंकार वास्तव में चारुता-हेतु हो जाते हैं। 'रूपक इत्यादि अलंकार वर्ग कहा गया है' इस वाक्य में 'कहा गया है' का अर्थ है भामह इत्यादि आलंकारिकों के द्वारा कहा गया है। 'आगे चलकर कहे जावेंगे'

ध्वन्यालोकः

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्वहणैषिता ॥१८॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

(अनु०) इस (अलङ्कार) के विनिवेश में इस समीक्षा से काम लेना चाहिये—

'जिस रूपक इत्यादि की विवक्षा रसपरक हो, कभी अंगी के रूप में न हो, समय पर ग्रहण और त्याग कर दिया जावे निर्वहण की अत्यन्त इच्छा न हो ॥ १८ ॥

निर्वहण के होते हुये भी प्रयत्न पूर्वक अंग के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जावे। इस प्रकार का रूपक इत्यादि अलङ्कार समूह के अंगत्व का साधक माना जाता है ॥ १९ ॥

लोचन

समीक्ष्येति। समीक्ष्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेतिभावः। श्लोकपादेषु चतुर्षु श्लोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः। यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यजति, यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, यं बलादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम्। तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपयितुं ग्रन्थान्तरमिति वृत्तिग्रन्थस्य सम्बन्धः ॥ १७ ॥

भाव यह है कि 'समीक्ष्य' इस शब्द से कारिका में कही हुई समीक्षा ली जाती है। चार-श्लोक-पादों में और श्लोकार्ध में यह अङ्गत्व का सिद्ध करना है। 'रूपकादिः' इसका प्रत्येक से सम्बन्ध हो जाता है। जिस अलंकारको उसके अङ्गत्व के रूप में कहना चाहता है अङ्गी के रूप में नहीं, जिसको अवसर पर ग्रहण करता है, जिसको अवसर पर छोड़ देता है, जिसका अत्यन्त निर्वाह नहीं करना चाहता, प्रयत्नपूर्वक जिसकी अङ्ग के रूप में अपेक्षा करता है वह इस प्रकार निबद्ध किया हुआ रसाभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है इस प्रकार का यह वितत महावाक्य है। और उस महावाक्य के बीच में उदाहरण, अवकाश, उदाहरण स्वरूप उसकी योजना और उस समर्थन के निरूपण के लिये ग्रन्थान्तर (प्रवृत्त हुआ है) यह वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है ॥ १७ ॥

तारावती

का अर्थ यह है कि अलंकार अनन्त होते हैं क्योंकि प्रतिभायें भी अनन्त होती हैं। अतः सम्भव है आगे चलकर कतिपय नये अलंकारों का प्रवर्तन किया जावे ॥ १७ ॥

(१७ वीं कारिका में कहा था कि कवि को समीक्षापूर्वक अलंकार योजना करनी चाहिये।) अब यह बतलाया जा रहा है कि वहाँ पर जिस समीक्षा का निर्देश किया गया

ध्वन्यालोकः

रसबन्धेष्वत्यादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति । यथा—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः ।

(अनु०) रस के बन्धनोंके लिए जिस कवि के मन में अत्यन्त आदर है इस प्रकार का कवि जिस अलङ्कार को उसके अंग के रूप में कहना चाहता है (वह रूपक इत्यादि अलङ्कार-समूह को अंग सिद्ध करनेवाला होता है ।) जैसे—

'हे मधुकर ! तुम इस शकुन्तला की चञ्चल अपांगोंवाली कांपती हुई दृष्टि का बार बार स्पर्श कर रहे हो । कान के निकट मंडराते हुये तुम इस प्रकार का शब्द कर रहे हो मानों कोई रहस्य की बात कहना चाहते हो । यह अपने हाथों को हिला रही है और तुम इसके रति-सर्वस्व अधर का पान कर रहे हो । इस प्रकार हम तो तत्त्वान्वेषण में ही मारे गये, तुम सचमुच सफल हो गये ।'

यहाँ पर भ्रमर की स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के गुणों के अनुकूल है ।

तारावती

था वह समीक्षा क्या हो सकती है ? अर्थात् रसाभिनिवेश में प्रवृत्त कवि को अलंकार योजना में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये । १८ वों कारिका के प्रत्येक चरण एक-एक और १९ वीं कारिका के प्रथम आधे श्लोक में एक बात बतलाई गई है जो कि अलंकार को रस का अङ्ग (उसका पोषक) बनाने में समर्थ होती है । वे तत्त्व ये हैं—(१) जिस अलंकार को अङ्ग के रूप में निबद्ध किया जावे । (२) जिसको अङ्गी के रूप में कभी निबद्ध न किया जावे । (३) जिसका ग्रहण और त्याग अवसर के अनुकूल हो अर्थात् जिसे अवसर के अनुसार ग्रहण किया जावे और अवसर के अनुसार ही छोड़ दिया जावे । (४) जिसके निर्वहण की अत्यन्त उत्कण्ठा न हो । (६) निर्वहण के होते हुये भी प्रयत्नपूर्वक जिसको अङ्ग बना देने की चेष्टा की जावे । वह इस प्रकार निबद्ध किया हुआ रूपक इत्यादि अलंकार रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है । यह (छोटे-छोटे अवान्तर वाक्यों से बना हुआ) एक महावाक्य है । इस महावाक्य के बीच में (अवान्तर वाक्यों के आधार पर) उदाहरण देने का अवकाश है, उदाहरणों का स्वरूप-विवेचन तथा उसकी प्रकृत योजना और उनका समर्थन इन बातों का निरूपण करने के लिये अगला ग्रन्थ लिखा जा रहा है यही वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है ।

(अलङ्कार के रसाङ्गता-सम्पादन का प्रथम प्रयोजक यह बतलाया गया है कि जब कवि

लोचन

चलापाङ्गामिति । हे मधुकर ! वयमेवंविधाभिलाषचाटुप्रवणा अपि तत्त्वान्वेषणाद्वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासपात्रीभूता जाताः । त्वं खल्विति । निपातेनायत्नसिद्धं तथैव चरितार्थत्वमिति शकुन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः । तथाहि कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास्म, कथमेषास्मदभिप्रायव्यञ्जकं रहोवाच्यमाकर्ण्यात, कथं नु हठादनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं विधेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम् । भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्काकरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशति । श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोरुत्पलशङ्कानपगमात्तत्रैव दन्ध्वन्यमान आस्ते । सहजसौकुमार्यत्रासकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दकुवलयामोदमधुरमधरं पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः । अन्ये तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमरस्वभावोक्तिरत्र रूपकव्यतिरेक इत्याहुः ।

चलापाङ्गाम् इति । हे मधुकर ! इस प्रकार के अभिलाष और चाटु में प्रवण भी हम लोग तत्त्वान्वेषण से वस्तुवृत्त के अन्वेषण किये जानेपर हत हो गये हैं अर्थात् आयासमात्र के ही पात्र बन गये हैं । 'त्वं खलु' इति । यहाँ निपात से अयत्न सिद्ध तुम्हारा ही चरितार्थत्व है । यह शकुन्तला के प्रति अभिलाषी दुष्यन्त की उक्ति है । वह इस प्रकार—कैसे इसके/कटाक्ष का गोचर हो जाऊँ,—किस प्रकार यह हमारे अभिप्रायव्यन्जक एकान्तवचनों को सुने; किस प्रकार न चाहनेवाली का भी हठपूर्वक पूर्ण रूप में चुम्बन करूँ; यह जो हमारे मनोराज्यपदवी में आरूढ है तुम्हारे लिये अयत्नसिद्ध हैं । भ्रमर निस्सन्देह नील कमल की बुद्धि से उसकी आशंका उत्पन्न करनेवाली दृष्टि का बार-बार स्पर्श करता है । नेत्रों के श्रवणाकाशपर्यन्त होने से उत्पलशंका के नष्ट न होने के कारण वहीं पर अतिशय रूप में शब्द कर रहा है । सहज सौकुमार्य के त्रास से कातर (शकुन्तला के) रति निधानभूत विकसित अरविन्द और कुवलय जैसे आमोद से मधुर अधर को पीता है इस प्रकार भ्रमरस्वभावोक्ति अलंकार प्रकृत रस के अङ्गत्व को ही प्राप्त हो गया हैं । दूसरे लोग तो 'भ्रमरस्वभाव में उक्ति है जिसकी वह भ्रमरस्वभावोक्ति' यहाँपर रूपक व्यतिरेक है यह कहते हैं ।

तारावती

रसमय रचना करने में अपना मन पूर्णरूप से लगा दे उस समय जो अलङ्कार प्रयुक्त हो जाता है उसे रस के अङ्ग के रूप में कहना कवि को अभीष्ट हो, वह अलङ्कार वास्तव में रस का अङ्ग कहा जाता है ।) उदाहरण के लिये अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त छिपकर शकुन्तला की सारी चेष्टाओं को देख रहे हैं । उसी समय एक भ्रमर, शकुन्तला के ऊपर दौड़ आता है, शकुन्तला भयभीत हो जाती हैं, उस समय की शकुन्तला की चेष्टाओं को देख कर दुष्यन्त भौंरे को सम्बोधित करते हुये ये शब्द कह रहे हैं । इन शब्दों का आशय यह है कि हमारी कामनायें उत्कट कोटि की हैं और हम चाटूक्तियों में भी निपुण हैं । किन्तु तत्त्वान्वेषण में ही हम मारे

ध्वन्यालोकः

नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति।

(अनु०) 'नांगित्वेन' का अर्थ है प्रधानता के रूप में नहीं। कभी-कभी रस इत्यादि के तात्पर्य से कथन के लिये अभीष्ट भी अलंकार अंगी के रूप में कथन के लिये अभीष्ट दिखलाई पड़ता है। जैसे—

'जिन विष्णु भगवान् ने चक्राभिधातरूपी अपने सबल आदेश के द्वारा ही राहु की धर्मपत्नियों के सुरतोत्सव में केवल चुम्बन ही शेष रक्खा और आलिंगन के उत्कट विलास को व्यर्थ बना दिया।'

यहाँ पर रस इत्यादि का तात्पर्य होते हुये भी पर्यायोक्त की विवक्षा अंगी के रूप में की गई है।

तारावती

गये और आयास के अतिरिक्त हमें कोई फल नहीं मिला। यहाँपर 'खलु' यह निपातार्थक अव्यय है। 'त्वं खलु कृती' इन शब्दों से व्यक्त होता है कि जीवन धारण करना तुम्हारा ही सफल हुआ है और वह भी बिना किसी प्रयत्न के। हमारी कामना है कि किसी न किसी प्रकार शकुन्तला के कटाक्षों का विषय बन सकें, किसी न किसी उपाय से एकान्त में यह हमारे अभिप्राय को सुने, यह निषेध कर रही हो और हम बलात् इसके अधरों का पान करें ये सब कामनायें हमारे मनोराज्य की पदवी पर ही अधिष्ठित हैं किन्तु तुम्हें बिना ही प्रयत्न के प्राप्त हो गई हैं। यहाँपर भौंरे की स्वभावोक्ति का उपादान जो अलङ्कार है, रस का परिपोष करने के लिये ही किया गया है। भौंरे का स्वभाव ही नेत्र, कान, अधर इत्यादि पर मँडराना और गुनगुनाना होता है। उसमें यह कल्पना की गई है कि शकुन्तला के नेत्र नीलोत्पल की आशङ्का उत्पन्न करते हैं और उनको नीलोत्पल ही समझ कर भौंरा टूट रहा है। नेत्र कानों तक दौड़ते हैं अतः कानों के निकट भी नीलोत्पल की शङ्का दूर नहीं हुई है। अतः भौंरा यहीं पर गुनगुना रहा है। शकुन्तला में स्वाभाविक कोमलता है. अतः वह भौंरे से त्रस्त हो रही है, ऐसी दशा में वह भौंरा प्रफुल्लित कमल और कुवलय के समान सुगन्धित तथा मधुर, रतिनिधानभूत, अधर का पान कर रहा है। यही भौंरे की स्वभावोक्ति है जिससे दुष्यन्त के पूर्वराग विप्रलम्भ का परिपोष होता है। यही अलङ्कार की रसाङ्गता या रस-परिपोषकता है। कतिपय विद्वानों ने यह अर्थ किया है कि यहाँ पर रूपक और व्यतिरेक अलङ्कार है क्योंकि भ्रमर पर कामुक का आरोप किया गया है। वृत्तिकार के 'भ्रमरस्वभावोक्ति'

लोचन

चक्राभिघात एव प्रसभाज्ञा अलङ्घनीयो नियोगस्तया यो राहुदयितानां रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार। यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्वन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः। अत्राह कश्चित्—पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, नतु रसादि।

चक्राभिघात ही है प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलंघनीय नियोग, उसके द्वारा जिसने राहु की प्रियतमाओं के रतोत्सव को चुम्बनमात्र शेष कर दिया। क्योंकि आलिंगन ही है उद्दाम अर्थात् प्रधान जिन विलासों में उनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य वह रतोत्सव (बन गया)। यहाँपर किसी ने कहा हैं यहां प्रधानतया पर्यायोक्त ही कवि का विवक्षित (कहने के लिये अभीष्ट) है रस

तारावती

शब्द का अर्थ उन्होंने यह किया हैं कि जिन रूपक और व्यतिरेक अलङ्कारों की उक्ति भ्रमर के स्वभाव में है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि यहाँपर भ्रमर के गुण और कार्यों के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की अवगति हो रही है। अतः यहाँपर समासोक्ति अलङ्कार है।

अलङ्कार को अङ्गरूपता प्रदान करनेवाला दूसरा तत्त्व है उसका अङ्गी के रूप में स्थिर न होना। इसका अर्थ यह है कि जब कभी किसी अलङ्कार का प्रयोग रस के परिपोष के लिये किया जाता हैं वहाँ पर रस का प्रतिभास ही प्रधान रूप में होना चाहिये। अलङ्कार उसका परिपोषक ही होना चाहिये। किन्तु कहीं पर ऐसा भी हो जाता है कि रस में तात्पर्य होते हुये भी प्रधान रूप से वहाँ पर अलङ्कार का ही प्रतिभास होता है। जैसे—

'जिन विष्णु भगवान् ने चक्राभिघातरूपी अपने सबल आदेश से राहु की धर्मपत्नियों के सुरत के उत्सव में केवल चुम्बन ही शेष रक्खा और आलिङ्गन के उत्कट विलास को व्यर्थ बना दिया।'

यहाँपर कहना यह है कि विष्णु भगवान् ने चक्र से राहु का शिर काट लिया। किन्तु कहा यह गया है कि 'राहु की पत्नियों का आलिङ्गन असम्भव बना कर उनका सुरत व्यर्थ कर दिया।' (पुराणों में लिखा है कि छलपूर्वक अमृत पान में प्रवृत्त राहु का शिर भगवान् ने अपने चक्र से काट लिया। अमृतपान कर चुकने के कारण उसकी मृत्यु नहीं हुई। अब केवल शिर को ही राहु कहते हैं। इस प्रकार शिर के कट जाने के बाद से राहु के लिये आलिंगन असम्भव हो गया। केवल चुम्बन ही शेष रह गया।) यहाँपर भंग्यन्तर से एक बात कही गई है। अतः पर्यायोक्त अलंकार है। इस विषय में किसी ने लिखा है—यहाँपर पर्यायोक्त ही कवि के लिये प्रधानतया विवक्षित है। रस की प्रधानता यहाँपर कही ही किस प्रकार जा सकती है? किन्तु यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि यहाँपर मुख्य रूप से वासुदेव के प्रताप का वर्णन ही अभिप्रेत है। किन्तु वह चारुता-हेतु के रूप में प्रतीत नहीं हो रहा है। चारुता-हेतु पर्यायोक्त ही मालूम पड़ता है। यहाँपर एक बात और समझ लेनी चाहिये—लेखक

ध्वन्यालोकः

अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आवासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य।

(अनु०) (३) अङ्ग के रूप में विवक्षित भी जिस अलङ्कार का अवसर के अनुकूल ही ग्रहण करता है अवसर के प्रतिकूल नहीं। अवसर पर ग्रहण करने का उदाहरण—

'उत्कट कलिकावाली, विशेष रूप से पाण्डुवर्णवाली, क्षणभर में ही जृम्भा को आरम्भ करदेनेवाली, अविरल रूप में श्वसन के उद्गम द्वारा अपने आयासको विस्तारित करती हुई मदन से युक्त इस उद्यानलता को परस्त्री की भाँति देखते हुये मैं निस्सन्देह देवी के मुख को कोपसे लाल कर दूँगा। यहाँपर उपमा में श्लेष का अवसर के अनुकूल उपादान है।

लोचन

तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपीति। मैवम्; वासुदेवप्रतापो ह्यत्र विवक्षितः। स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपि तु पर्यायोक्तमेव। यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषाशङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्—यत्कृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते। ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः। तथा च ग्रन्थकार एवाग्रे दर्शयिष्यति। महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम्।

इत्यादि नहीं। तो यह कैसे कहा जा रहा है कि रस इत्यादि तात्पर्य के होते हुये भी ? किन्तु ऐसा नहीं। यहाँ विवक्षित है वासुदेवप्रताप। वह यहाँपर चारुता-हेतु के रूप में प्रकाशित नहीं होता किन्तु पर्यायोक्त ही चारुता-हेतु के रूप में प्रकाशित हो रहा है) यद्यपि यहाँ पर काव्य में कोई दोष की शंका नहीं है तथापि यह दृष्टान्तवत् है कि पोषणीय प्रकृत का तिरस्कारक अङ्गभूत अलंकार भी हो जाता है। फिर कहीं अनौचित्य को भी प्राप्त हो जाता है यह ग्रन्थकार का आशय है। 'तथा च' यह ग्रन्थकार इस प्रकार आगे दिखलावेंगे। महात्माओं का दोषोद्घोषण अपना ही दोष है अतएव यह दोष का उदाहरण नहीं दिया।

तारावती

ने दोषदर्शन की दृष्टि से यह उदाहरण नही दिया है। इस उदाहरण के द्वारा लेखक ने केवल यह बात दिखलाई हैं कि कहीं कहीं पर जिस रस का परिपोष करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है उसका अंग होते हुये भी उसी का तिरस्कारक हो जाता है। यहाँपर यह भले ही

लोचन

उद्दामा उद्गताः कलिकाः यस्याः। उत्कलिकाश्च रुहरुहिकाः। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैरात्मनो लतालक्षणस्यायासमायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निश्श्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं सन्तापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्रोपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य

उद्दाम अर्थात् निकली हुई हैं कलिकायें जिसकी और उत्कलिका का अर्थ है उत्कण्ठा। क्षणभर में अर्थात् उसी समय प्रारम्भ कर दिया गया है जृम्भा अर्थात् विकास जिसके द्वारा। जृम्भा अर्थात् कामजन्य अङ्गमर्द। श्वसनोद्गम अर्थात् वसन्त मारुत के उल्लास के द्वारा लतारूप अपने आयास अर्थात् हिलने के प्रयत्न को विस्तारित करती हुई। निःश्वासपरम्पराओं के द्वारा अपने आयास अर्थात् हृदयस्थित सन्ताप को प्रकट करनेवाली। मदन नाम के वृक्ष विशेष के साथ और मदन अर्थात् कामदेव के साथ। भाव यह है कि यहाँ पर उपमा श्लेष भावी ईर्ष्या-

तारावती

दोष न हो किन्तु कभी-कभी ऐसी अवस्था दोषपूर्ण भी हो सकती है। यह बात आगे चलकर ग्रंथकार स्वयं स्वीकार करेगा कि मान्य कवियों के काव्यों में दोष दिखलाना ग्रंथकार को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि महात्माओं के दोष की उद्घोषणा करना अपना ही दोष होता है। अतः अलंकार के दोष होने का उदाहरण नहीं दिया गया है।

(३) जिसका ग्रहण अवसर के अनुकूल हो। अंग के रूप में प्रयोग करने मात्र से ही अलंकार रस का परिपोषक नहीं हो जाता। यह भी हो सकता है कि अलंकार का उपादान रस के अंग के रूप में हुआ हो किन्तु अवसर के प्रतिकूल प्रयोग करने के कारण वह रस का परिपोष न कर सके। अतः वही अलंकार रस का परिपोष कर सकता है जो अंग के रूप में विवक्षित भी हो और उसका उपादान अवसर के प्रतिकूल न होकर अवसर के अनुकूल ही हो। अवसर के अनुकूल अलंकार प्रयोग का उदाहरण रत्नावली से दिया गया है। वत्सराज उदयन और रानी वासवदत्ता ने अपनी-अपनी लताओं को दोहद के कृत्रिम उपायों द्वारा अकाल-कुसुमित करने की चेष्टा की थी। संयोगवश राजा की लता कुसुमित हो गई और वासवदत्ता की लता कुसुमित न हो सकी। राजा यह समाचार सुनकर उद्यानलता को देखने के लिए जाते हुये कह रहे हैं कि जब मैं प्रेमपूर्वक अपनी प्रफुल्लित लता को देखूँगा तो स्वभावतः अपनी असफलता के विचार से रानी को क्रोध आवेगा। इसी प्रसंग में पर-स्त्री की उपमा दी गई है। जब कोई पुरुष किसी पर-स्त्री को प्रेमपूर्वक देखता है तब उसकी पत्नी को क्रोध आ जाना स्वभाविक ही है। लता भी स्त्री (स्त्रीलिंग) है। अतः उसे प्रेमपूर्वक देखते हुये राजा को देखकर वासवदत्ता को क्रोध अवश्य आवेगा। यहाँपर लता के जितने भी विशेषण दिये गये हैं वे सब श्लेष के कारण लता और पर-स्त्री दोनों ओर घटते हैं।) लता 'उद्यानोत्कलिका'

लोचन

भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरस्सरायमाणो गृहीत इति भावः। अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके तु वाक्यार्थाभिनयेनोपाङ्गादिना। न तु सर्वथा नाभिनय इत्यलमवान्तरेण। ध्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाशप्रदानजीवितम्।

विप्रलम्भ का मार्ग-परिशोधक होने के रूप में स्थित उसकी चर्वणा के आभिमुख्य को करते हुये अवसर पर अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में आगे आते हुये ग्रहण किया जाता है। यहाँपर अभिनय भी प्राकरणिक अर्थ में प्रतिपद (होता है)। अप्राकरणिक में तो वाक्यार्थाभिनय के साथ उपाङ्ग इत्यादि के द्वारा (अभिनय किया जाता है)। सर्वथा अभिनय न होता हो यह बात नहीं है। बस अधिक अवान्तर की क्या आवश्यकता? ध्रुव शब्द भावी ईर्ष्या के अवकाश-प्रदान का जीवन है।

तारावती

होगी अर्थात् उसमें कलियाँ निकल आई होंगी। मानों पर-स्त्री (प्रतिनायिका) उत्कट कोटि की सम्मिलन की उत्कण्ठा से युक्त हो। लता के अन्दर उसी अवसर पर जृम्भा अर्थात् विकास आरम्भ हो गया होगा। मानो पर-वनिता में जृम्भा अर्थात् काम वेदना के कारण अंगों का टूटना प्रारम्भ हो गया हो। श्वसन शब्द के दो अर्थ हैं—वसन्त की वायु और श्वास-वायु। श्वसन अर्थात् वसन्त की वायु से लता अपने आयास (मन्द-मन्द कम्पन) को विस्तारित कर रही होगी जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित काम-वेदनाजन्य सन्ताप को प्रकट कर रही हो। लता समदना अर्थात् मदनफल नामक वृक्ष से युक्त होगी अर्थात् मदनफल नाम के वृक्ष पर फैली हुई होगी जैसे कोई रमणी मदन अर्थात् कामदेव से युक्त हो।' यहाँ पर उपमा और श्लेष का उपादान अवसर के अनुकूल ही हुआ है। क्योंकि अग्रिम प्रकरण में सागरिका के प्रति राजा के प्रेम को देखकर रानी के चित्त में ईर्ष्या-विप्रलम्भ का उदय होने ही वाला है। यह उपमा उसी ईर्ष्या-विप्रलम्भ के मार्ग की शोधक है। यह सहृदयों के हृदय को रस की चर्वणा के अनुकूल बना देती हैं और रस के प्रमुख अवस्था को प्राप्त होने के ठीक पहले अवसर के अनुकूल ही इसका उपादान हुआ है। (इस प्रकरण का मुख्य प्रतीयमान ईर्ष्या-विप्रलम्भ हैं; उसका आस्वादन करने के पहले इस उपमा द्वारा सहृदयों के हृदय रसास्वादन के अनुकूल बन जाते हैं। यही इस उपमा का रसप्रवणत्व है।) नट को प्रत्येक शब्द का अभिनय प्राकरणिक अर्थ लता में ही करना चाहिये। अप्राकरणिक अर्थ में अभिनय वाक्यार्थ के अभिनय के द्वारा उपाङ्ग इत्यादि के रूप में होता है। यह बात नहीं कहनी चाहिये कि अप्राकरणिक अर्थ में अभिनय होता ही नहीं। 'ध्रुवम्' (अवश्य ही) शब्द ही भावी ईर्ष्या को अवकाश देने में जीवन है।

(४) अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल किसी अलङ्कार का त्याग देना भी रस का

ध्वन्यालोकः

गृहीतमपि च यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया। यथा—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणैः
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि॥
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

(अनु०) (४) जिसको ग्रहण करके भी रस के अनुकूल होने के कारण दूसरे अलङ्कार की अपेक्षा करते हुये छोड़ भी दिया जावे। जैसे—हे अशोक तुम नव पल्लव से और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रंगा हुआ हूँ? हे मित्र! स्मर-धनु से छूटे हुये शिलीमुख तुम पर आ रहे हैं और मुझपर भी। कान्ता के चरण तल के द्वारा ताड़न तुम्हें आनन्द देता है और उसी प्रकार मुझे भी। हे अशोक हम दोनों की सब बातें समान हैं केवल ब्रह्माजीने मुझे सशोक बनाया है।

लोचन

रक्तो लोहितः। अहमपि रक्तः प्रवृद्धानुरागः। तत्र च प्रबोधको विभावस्तदीयपल्लवराग इति मन्तव्यम्। एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन व्याख्येयः। अत एव हेतुश्लेषोऽयम्। सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हि भूयसा श्लेषानुग्राहकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्—'तत्सोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इत्युक्त्वा न त्वन्यालङ्कारानुग्रहचिकीर्षया।

रक्त अर्थात् लाल। मैं भी रक्त अर्थात् प्रवृद्ध अनुरागवाला हूँ। यहाँपर प्रबोधक विभाव उसका पल्लवराग माना जाना चाहिये। इस प्रकार प्रतिपद प्रथम अर्थ की व्याख्या विभाव रूप में की जानी चाहिये। इसीलिये यह हेतु-श्लेष है। सहोक्ति उपमा और हेतु अलंकारों का अधिकता के साथ श्लेष का अनुग्राहकत्व है। इसी अभिप्राय से भामह ने निरूपण किया है—वह सहोक्ति उपमा और हेतु के निर्देश से तीन प्रकार का है—इस उक्ति से, अन्य अलंकारों के अनुग्रह के निराकरण की इच्छा से नहीं।

तारावती

पोषक होता है। आशय यह है कि यदि रस-परिपोष के लिये एक अलङ्कार का उपादान किया गया हो और उसके लिये उस अलङ्कार को छोड़कर दूसरे अलङ्कार के ग्रहण करने से काव्य शोभा बढने की सम्भावना हो तो उसे छोड़ भी देना चाहिये। जैसे हनुमन्नाटक में श्री रामचन्द्र जी भगवती सीता की वियोगावस्था में अशोक से कह रहे हैं—

'हे अशोक तुम नवीन पल्लवों से रक्त (लालरंग से रंगे हुये) हो और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रक्त (प्रवृद्ध अनुरागवाला) हूँ। स्मर और मनु नाम के वृक्षों से छूटे हुये शिलीमुख (भ्रमर तुम्हारे ऊपर आ रहे हैं और स्मरधनु (कामदेव के धनुष) से छूटे हुये

तारावती

शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर आ रहे हैं। कान्ता के चरणतल का प्रहार तुम्हें आनन्द देनेवाला है अर्थात् पुष्पित कर देता है और उसी प्रकार कान्ता के चरणतल का प्रहार (एक प्रकार का सुरत-बंध) मुझे भी आनन्द देता हैं। मुझ में और तुममें सब बात तो समान हैं भेद केवल इतना ही हैं कि तुम अशोक हो और मैं सशोक हूँ।'

यहाँ पर रक्त, शिलीमुख, स्मर, धनुः, अशोक इन शब्दों में श्लेष है जिससे अनुग्राहक के रूप में ३ अलङ्कारों की व्यञ्जना होती है (१) सहोक्ति—अर्थात् अशोक के साथ राम भी रक्त हैं इत्यादि रूपों में उपमागर्भित साहचर्य व्यक्त होता है। (२) उपमा–'राम अशोक के समान रक्त हैं' इत्यादि। (३) हेतु—अशोक पल्लवों से रक्त है इसी उद्दीपन के कारण राम प्रियतमा के गुणों से रक्त हो रहे हैं। अशोक पर स्मर और धनुनाम के वृक्षों से छूटे हुये भ्रमर आ रहे हैं जो उद्दीपक हैं अतः राम भी कामवाणों का लक्ष्य हो रहे हैं, अशोक प्रियतमा के चरणाघात से फूल उठता है उसी तथ्य का स्मरणकर वे अपनी प्रियतमा के स्मरण का आनन्द ले रहे हैं। इस प्रकार यहाँपर प्रत्येक पाद में प्रथम अर्थ (अशोक-परक अर्थ) की उद्दीपन विभाव रूप में व्याख्या की जानी चाहिये। अतएव इसे हम हेतु-श्लेष कहेंगे। सहोक्ति, उपमा और हेतु ये तीन अलङ्कार विशेष रूप से अधिकता के साथ श्लेष के ग्राहक होते हैं इसी आशय से भामह ने निरूपण किया है—'सहोक्ति, उपमा और हेतु इन तीन अलंकारों का निर्देश करने के कारण वह (श्लेष) तीन प्रकार का होता है।' इस उक्ति के द्वारा भामह ने यही सिद्ध किया है कि ये तीन अलंकार विशेष रूप से श्लेष के द्वारा अनुगृहीत होते हैं। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि अन्य अलंकार श्लेष के द्वारा अनुगृहीत होते ही नहीं। कवि ने इन प्रबन्ध प्रवृत्त अलंकारों को छोड़कर काव्य शोभा के लिये व्यतिरेक को ग्रहण कर लिया है—'तुम अशोक हो और मैं सशोक हूँ।' 'प्रवन्धप्रवृत्त श्लेष-व्यतिरेक को अनुगृहीत करने के निमित्त परित्यक्त होकर विशेष रस को पुष्ट करता है।' इस वाक्य में विशेष रस का अर्थ है विप्रलम्भ शृङ्गार। 'सशोक' शब्द से व्यतिरेक की अभिव्यक्ति होती हैं इस प्रकार शोक के साथ होनेवाले तथा विप्रलम्भ के परिपोषक निर्वेद चिन्ता इत्यादि व्यभिचारी भावों को भी अवकाश प्रदान कर दिया गया है। (यहाँपर मूल ग्रन्थ में एक उदाहरण अलंकार से अवसरानुकूल ग्रहण का दिया गया है और दूसरा उदाहरण 'रक्तस्त्वं' इत्यादि अवसरानुकूल अलंकार के परित्याग का दिया गया है। इस विषय में पण्डितराज ने लिखा है कि "जिस प्रकार रति इत्यादि की आवश्यकता के अनुसार किसी अङ्ग से भूषण (वस्त्र) इत्यादि का हटाया जाना ही विशेष शोभाधायक होता है उसी प्रकार प्रकृत उदाहरण में रसानुकूल होने के कारण उपमालंकार का परित्याग ही रमणीय है व्यतिरेक नहीं। इसलिये सहृदय-धुरन्धर ध्वनिकार ने रस के अनुसार कहीं रस का संयोग करना चाहिये कहीं वियोग यह कहकर सादृश्य के दूरीकरण में 'रक्तस्त्वम्' इस पद्य का उदाहरण दिया है।" यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपमा और

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति। नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किं तर्हि? अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेक-लक्षणं नरसिंहवदिति चेत्—न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेष-विषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः। यथा—'सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ।

(अनु०) यहाँ पर प्रबन्ध में प्रवृत्त हुआ भी श्लेष व्यतिरेक के कथन की इच्छा से त्याग दिया गया है और इसी कारण रस-विशेष (विप्रलम्भ) को पुष्ट करता है। (पूर्वपक्षी) यहाँ पर दो अलङ्कारों का मेल नहीं हैं। (उत्तरपक्षी) तो क्या है? (पूर्व प०) नरसिंह (के मिलित स्वरूप) के समान यह श्लेष और व्यतिरेक के मेल से बना हुआ दूसरा ही अलङ्कार है। (उ. प.) नहीं यह बात नहीं है। क्योंकि उसकी व्यवस्था तो अन्य प्रकार से ही होती हैं। जहाँ पर श्लेष–विषयभूत शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति हो जाती है वह उसका (सङ्कर का) विषय होता है। 'जैसे वे हरि नाम के ही हैं किन्तु देव सुन्दर घोड़ों के समूह के कारण सहरि हैं।'

लोचन

रसविशेषमिति विप्रलम्भम्। सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः। किं तर्हीति। सङ्करालङ्कार एक एवायं; तत्र किं व्यक्तं किं वा गृहीतमिति परस्याभिप्रायः। तस्येति सङ्करस्य। एकत्र हि विषयेऽलङ्कारद्वयप्रतिभोल्लासः सङ्करः। सहरिशब्द एको विषयः। सः हरिः यदि वा सह हरिभिः सहरिरिति!

रस-विशेष का अर्थ है विप्रलम्भ। व्यतिरेक को लानेवाले सशोक शब्द से शोक के साथ होनेवाले निर्वेद चिन्ता इत्यादि विप्रलम्भ के परिपोषक व्यभिचारियों को अवकाश दे दिया गया है। किं तर्हीति। यह एक ही संकरा-लंकार ही है। उसमें क्या छोड़ दिया गया और क्या ग्रहण किया गया हैं यह दूसरे का अभिप्राय है। 'तस्य' का अर्थ है संकर का। एक विषय में दो अलंकारों की प्रतिभा का उल्लास संकर है। 'सहरि' शब्द एक विषय है। वह हरि, अथवा हरियों के साथ।

तारावती

व्यतिरेक इन दोनों की यहाँ पर संसृष्टि हैं या संकर? आनन्दवर्धन ने संसृष्टि मानी है। संसृष्टि मानने से ही ध्वनिकार का मन्तव्य भी सिद्ध होता है क्योंकि संकर में सब अलंकार मिलकर एक हो जाते हैं। अतएव उसमें किसी एक अलंकार के ग्रहण और दूसरे के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। जब दो या अधिक अलंकार एक दूसरे से मिलते हैं और उनकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहती है तब उनकी संसृष्टि कही जाती है। संसृष्टि में ही एक का ग्रहण और

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्। श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेन्न, व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा—

(अनु०) (इसके प्रतिकूल) यहाँपर श्लेष का विषय अन्य शब्द है। और व्यतिरेक का विषय अन्य शब्द है। यदि इस प्रकार के विषय में अलङ्कारान्तर कल्पना की जावेगी तो संसृष्टि का तो विषयापहार ही हो जावेगा। यदि यह कहो कि 'श्लेष-मुख से ही यहाँ पर व्यतिरेक को अपना स्वरूप प्राप्त होता है, अतः यह संसृष्टि का विषय नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है। जैसेः—

तारावती

दूसरे का त्याग उचित कहा जा सकता है। अग्रिम प्रकरण में संकर को पूर्व पक्ष में रखकर संसृष्टि की सिद्धान्तपक्षता का समर्थन किया गया है) (प्रश्न) यहाँपर दो अलंकारों का सम्मिलन नहीं है किन्तु एक दूसरा ही श्लेष-व्यतिरेक नामवाला अलंकार है। दो अलंकारों का एकीकरण इसी प्रकार हो सकता है जैसे मनुष्य और सिंह को मिलाकर नृसिंह की एक मूर्ति की कल्पना कर ली जाती है। फिर यह कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि एक अलंकार ने दूसरे को अवकाश दे दिया? यहाँ पर पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि संकर नाम का यह एक ही अलंकार है उसमें क्या छोड़ा गया क्या ग्रहण किया गया? अर्थात् जब दोनों अलंकार मिलकर एक है तब यह कथन संगत नहीं हो सकता कि एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण किया गया। (उत्तर) यहाँ पर दो अलंकारों का एकीकरण रूप संकर नहीं है। कारण यह है कि संकर के विषय में तो व्यवस्था का प्रकार ही दूसरा है। अलंकारों का संकर वहीं पर होता है जहां एक ही विषय में दो अलंकारों की प्रतिभा का उल्लास हो। आशय यह है कि जहाँ दो अलंकारों की प्रतीति का विषय (क्षेत्र) एक ही है वहाँ उन दोनों अलंकारों का संकर कहा जाता है। श्लेष और व्यतिरेक का संकर वहीं पर होगा जहाँ जिस शब्द में श्लेष हो उसी शब्द का दूसरा प्रकार (अर्थ) लेकर व्यतिरेक की प्रतीति होने लगे। जैसे 'सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इस वाक्य में सहरि शब्द श्लेष का भी प्रत्यायन करता है और व्यतिरेक का भी। सहरि शब्द का भगवान् के पक्ष में अर्थ होगा 'वे भगवान्' और राजा के पक्ष में अर्थ होगा-'हरि अर्थात् घोड़ों से युक्त' इस प्रकार इस पूर्ण वाक्य का अर्थ होता हैं वे भगवान् तो नाम के ही 'हरि' हैं किन्तु वास्तविक 'सहरि' शब्द राजा से पक्ष में ही ठीक घटता है क्योंकि राजा घोड़ों से युक्त हैं। यहाँपर 'सहरि' शब्द ही श्लेष का भी प्रत्यायन करा देता है और व्यतिरेक का भी। इस प्रकार यहाँ पर श्लेष और व्यतिरेक का संकर है। इसके प्रतिकूल प्रस्तुत उदाहरण 'रक्तस्त्वं—सशोकः कृतः' में श्लेष का विषय रक्तः इत्यादि है

लोचन

अत्र हीति। हि शब्दस्तुशब्दस्यार्थे। रक्तस्त्वमित्यत्रेत्यर्थः। अन्य इति रक्त इत्यादिः। अन्यश्च अशोकसशोकादिः। नन्वेकं वाक्यात्मकं विषयमाश्रित्यैकविषयत्वाद्स्तु सङ्कर इत्याशङ्क्याह—यदीति। एवं विधे वाक्यलक्षणे विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम्। एकवाक्यापेक्षया यद्येकविषयकत्वमुच्यते तत्र क्वचित् संसृष्टिः स्यात्, सङ्करेण व्याप्तत्वात्। ननूपमागर्भो व्यतिरेकः, उपमा च श्लेषमुखेनैवायातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुग्राहक इति संकरस्यैवैष विषयः। यत्र त्वनुग्राह्यानुग्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेव; तदेतदाह—श्लेषेति। श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः। एतत्परिहरति-नेति। अयं भावः—किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने व्यतिरेको भवत्युत गम्यमानत्वे। अत्राद्यं पक्षं दूषयति—प्रकारान्तरेणेति। उपमाभिधानेन विनापीत्यर्थः।

अत्र हीति। 'हि' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। अर्थात् तुम रक्त हो इसमें। अन्य का अर्थ है रक्त इत्यादि। और अन्य अशोक सशोक इत्यादि है। (प्रश्न) एक वाक्यात्मक विषय को लेकर एक विषय होने से संकर हो जावे? इस शंका का (उत्तर) देते हैं—'यदि इति'। इस प्रकार के वाक्यात्मक विषय में। विषय यह एक वचन विवक्षित समझा जाना चाहिये। एक वाक्य की अपेक्षा से यदि एक वाक्यत्व कहा जावे तो कहीं संसृष्टि हो ही नहीं सकती। क्योंकि (ऐसी दशा में) संकर से व्याप्त (हो जावेगी)। (प्रश्न) व्यतिरेक उपमागर्भित है और उपमा श्लेष के बल पर ही आई है इस प्रकार श्लेष यहाँ पर व्यतिरेक का अनुग्राहक है अतः यह संकर का ही विषय है। जहाँ पर तो अनुग्राह्यानुग्राहक भाव नहीं होता वहाँ एकवाक्यगामी होने पर भी संसृष्टि ही होती है। अतः यही कह रहे हैं—श्लेष इति। अर्थात् श्लेष के बल पर से लाई हुई उपमा के द्वारा। इसका उत्तर देते हैं—नेति। आशय यह है—'क्या सर्वत्र उपमा के स्वशब्द द्वारा कहे जाने में व्यतिरेक होता है या गम्यमान होने में? उसमें प्रथम पक्ष में दोष दिखलाते हैं—प्रकारान्तरेण इति। अर्थात् उपमा के अभिधान के बिना भी।

तारावती

और व्यतिरेक का विषय 'अशोक' 'सशोक' इत्यादि शब्द हैं। विषयभेद होने के कारण यहाँ पर संकर नहीं संसृष्टि ही होगी। 'अत्र ह्यन्य एव व्यतिरेकस्य' इस वृत्तिगत वाक्य में 'हि' शब्द का अर्थ है 'तु' अर्थात् यहाँ तो विषयभेद हो जाता है अतः संकर नहीं हो सकता। (प्रश्न) यहाँ पर एक शब्द भले ही दोनों अलंकारों का विषय न हो किन्तु एक वाक्य तो दोनों अलंकारों का विषय है ही। फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि विषय-भेद होने के कारण दोनों अलंकारों का संकर नहीं हो सकता। (उत्तर) यदि आप वाक्य को लेकर भी दो अलंकारों की एकविषयता मानेंगे तो संसृष्टि तो कहीं हो ही न सकेगी। सर्वत्र संकर ही संसृष्टि के विषय को व्याप्त कर लेगा। अतएव एक वाक्य को लेकर अलंकारों की एकविषयता

ध्वन्यालोकः

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढ़ोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वा
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वप्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात्। न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

(अनु०) अपने वेग से निर्दयता-पूर्वक पर्वतों को भी दलित कर देनेवाली कल्पान्त वायु से भी जो शान्त नहीं की जा सकती, जो दिन में उज्ज्वल कान्ति को प्रगाढ़ता के साथ उगलती रहती है, जो अन्धकार रूपी कज्जल से रहित न हो यह बात नहीं जो पतङ्ग से उत्पत्ति को प्राप्तकर उसी से हरण को नहीं प्राप्त होती। ऐसी, उष्ण कान्तिवाले समस्त द्वीपों के दीपक सूर्य की प्रभा, जो एक विलक्षण प्रकार की ही (दीपक की) बत्ती है, आप सब लोगों को सुखी करे।

यहाँपर तो समानता के (दीपवर्ति और सूर्य प्रभा में) बिना ही प्रपञ्चप्रतिपादन के व्यतिरेक दिखाया है। यहाँपर श्लेषमात्र से चारुत्वप्रतीति है इसलिये व्यतिरेक का अंग होने से उसकी विवक्षा नहीं होती। स्वतः अलंकारता नहीं है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार के विषय में भलीभाँति प्रतिपादित किये हुये साम्य मात्र से ही चारुता की प्रतिपत्ति देखी जाती है। जैसे—

तारावती

नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर 'वाक्य में' इस शब्द का एक वचन सप्रयोजन है। इसका अर्थ होता है 'एक वाक्य में'। (प्रश्न) व्यतिरेक सर्वथा उपमा-गर्भित ही होता है। उपमा श्लेष के बल पर ही आई है अतः यहाँ पर श्लेष व्यतिरेक का अनुग्राहक ही है अतएव श्लेष और व्यतिरेक का संकर ही होना चाहिये। संसृष्टि का विषयापहार भी नहीं होता क्योंकि संसृष्टि ऐसे स्थान पर हो सकती है जहाँपर दो अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव हो। अतः यहाँ पर संसृष्टि के विषयापहार की आड़ ली ही कैसे जा सकती है? 'व्यतिरेक को श्लेषमुख से ही आत्मलाभ होता है' वृत्तिकार के इस कथन का आशय यह है कि श्लेष उपमा को लाने में कारण होता है और उपमा के कारण व्यतिरेक सत्ता में आता है। अतः इनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव है। (उत्तर) व्यतिरेक सर्वदा उपमागर्भित ही होता है इस कथन से आपका क्या अभिप्राय है? क्या जहाँ व्यतिरेक होता है वहाँ अनिवार्य रूप से उपमा वाच्य होती है? अथवा अनिवार्य रूप से उपमा के वाच्य होने की आवश्यकता नहीं है। क्या व्यतिरेक में उपमा व्यङ्ग्य भी हो सकती है? अच्छा प्रथम पक्ष को लीजिये। यह आप कह ही नहीं सकते कि जहाँ उपमा

लोचन

शम्या शमयितुं शक्येत्यर्थः। दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कज्जलं तेन। न नो रहिता अपि तु रहितैव। दीपवर्तिस्तु तमसापि युक्ता भवति। अत्यन्तमप्रकटत्वात् कज्जलेन चोपरिचरेण। पतङ्गादर्कात्। दीपवर्तिः पुनः शलभाद्ध्वंसते नोत्पद्यते। साम्येति। साम्यस्योपमायाः प्रपञ्चेन प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तेन विनापीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—प्रतीयमानैवोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मान्न श्लेषोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहित्वेनोपात्ता। ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं तथापीह तत्प्रावण्येनैव सोपात्ता, तदप्रावण्ये स्वयं चारुत्वहेतुत्वाभावादिति श्लेषोपमात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते। तदाह—नात्रेति। एतदसिद्धं स्वसंवेदनबाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोपमामात्रेण चारुत्वसम्पन्नमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति—यत इतयादिना। उदाहरणश्लोके तृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोभिसम्बन्धनीयः अन्यत्सर्वं रक्तस्त्वमितिवद्योज्यम्।

शम्या अर्थात् शमन किये जाने में समर्थ। दीपवत्ती तो वायुमात्र से शमन की जा सकती है। अन्धकार ही कज्जल उसके द्वारा। नहीं रहित है ऐसा नहीं अपितु रहित ही है। दीपवत्ती तो अन्धकार से भी युक्त होती है क्योंकि अत्यन्त अप्रकट होती है और ऊपर मँडरानेवाले कज्जल के द्वारा (अन्धकार से युक्त होती है)। पतङ्ग से अर्थात् सूर्य से (उत्पन्न) किन्तु दीप की बत्ती तो शलभ से ध्वस्त होती है उत्पन्न नहीं होती। साम्य अर्थात् उपमा के प्रपञ्च अर्थात् प्रबन्ध से जो प्रतिपादन उस स्वशब्द के विना भी यह अर्थ है। यह कहा गया है—प्रतीयमान उपमा ही व्यतिरेक की अनुग्राहिणी होती हुई स्वकण्ठ से अभिधान की अपेक्षा नहीं करती। अतः श्लेषोपमा व्यतिरेक के अनुग्राहक के रूप में ग्रहण नहीं की गई है। (प्रश्न) यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं होता तथापि यहाँ पर (रक्तस्त्वं इत्यादि में) तो तत्परक (व्यतिरेकपरक) रूप में ही वह दिखलाई गई है। तत्परक न होने पर स्वयं चारुत्व हेतु न होने के कारण श्लेषोपमा यहाँ पर पृथक् अलंकार भाव को ही प्राप्त नहीं होती है। वही कहते हैं—नात्रेति। यह असिद्ध है क्योंकि स्वसंवेदन से बाधित है यह हृदय में रख कर स्वसंवेदन को छिपानेवाले विरोधी को श्लेष के विना केवला उपमा के द्वारा चारुता से युक्त दूसरे उदाहरण को दिखलाते हुये निरुत्तर करते हैं—'यत इत्यादिना।' उदाहरण के श्लोक में तृतीयान्त पदों के साथ तुल्य शब्द का सम्बन्ध कर लिया जाना चाहिए। और सब 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि के समान योजित किया जाना चाहिए।

तारावती

वाच्य होती है वहाँ व्यतिरेक होता है। ऐसे भी स्थान देखे जाते हैं जहाँ व्यतिरेक तो होता है किन्तु उपमा वाच्य नहीं होती। जैसे सूर्यशतक का यह पद्य लीजिये—'उष्ण कान्तिवाले समस्त द्वीपों के दीपक सूर्य की प्रभा जो कि एक दूसरे ही प्रकार की दीपक की बत्ती है, आप सब लोगों को सुखी करे। दीपक की प्रभा वायु से बुझ जाती है किन्तु यह सूर्य की प्रभा

ध्वन्यालोकः

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयोः
तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः॥

इत्यादौ।

'हे जलधर! मेरा करुण क्रन्दन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरा नेत्रजल (अश्रु) तुम्हारे विश्रामरहित प्रवाहित होनेवाले धाराजल के समान हैं और प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हुई शोक की अग्नि विजली के विलास के समान है। मेरे हृदय में प्रियतमा का मुख विद्यमान है और तुम्हारे अन्दर चन्द्रमा हैं। इस प्रकार सब बातों में मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी है। फिर हे जलधर! तुम मुझे जलाने के लिये ही क्यों उद्यत हो। इत्यादि में।

तारावती

निर्दय होकर वेग से पर्वतों को भी ढहा देनेवाली कल्पान्त वायु से भी नहीं बुझ सकती। इसकी प्रगाढ़ और उज्ज्वल दीप्ति सर्वदा प्रकाशित ही रहती है। दीपक की बत्ती दिनमें सर्वदा शून्य हो जाती हैं क्योंकि दिन में दीपक का प्रकाश विल्कुल प्रकट नहीं होता किन्तु सूर्य की प्रभा दिन में शून्य नहीं होती। दीपक अन्धकार और कालिख से रहित नहीं होता। कज्जल सर्वदा दीपक के ऊपर ही मंडराया करता है, किन्तु सूर्य को प्रभा कज्जलरूपी अन्धकार से रहित न हो ऐसा नहीं होता। (दीधितिकार ने 'अहनि न रहिता' का अर्थ यह भी किया है कि दीपक की वत्ती दिन में पुरुषों का हित नहीं करती किन्तु सूर्य की प्रभा दिन में मनुष्यों का हित करती हैं।) दीपप्रभा पतंग (शलभ) से शान्त हो जाती है किन्तु सूर्यप्रभा पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न हो होती है, शान्त नहीं होती। यही सूर्य प्रभा की विलक्षणता हैं।' यहाँ पर साम्य प्रपञ्च के द्वारा प्रतिपादन के बिना ही व्यतिरेक दिखलाया गया हैं। 'साम्य' का अर्थ है उपमा और प्रपञ्च का अर्थ है प्रवन्ध। आशय यह है कि यहाँ पर उपमा का स्वशब्द के द्वारा (अभिधा वृत्ति के द्वारा) प्रतिपादन नहीं किया गया है फिर भी व्यतिरेक हो जाता है। यहाँपर कहने का आशय यह है कि (कहीं-कहीं पर) प्रतीयमान उपमा ही व्यतिरेक की अनुग्राहिणी होकर कण्ठ-रव से साम्य प्रतिपादन की अपेक्षा नहीं करती। अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि श्लेषमूलक उपमा व्यतिरेक की अनुग्राहिणी के रूप में ग्रहण की गई है। (प्रश्न) अन्यत्र ऐसा होना सम्भव भी हो कि बिना श्लेषमूलक वाच्योपमा के व्यतिरेक सम्पन्न भी हो जावे किन्तु यहाँपर श्लेषमूलक उपमा का उपादान व्यतिरेक में एक विशेषता उत्पन्न करने के लिये ही किया गया है। कारण यह है कि श्लेष पर आधारित उपमा यदि व्यतिरेक में विशेषता का आधान न करे तो उसमें स्वयं अपनी कोई सुन्दरता रह ही नहीं जाती। अतः यहाँपर श्लेष और उपमा पृथक् अलंकार ही नहीं हो सकते; फिर इनका अङ्गाङ्गि-भाव संकर क्यों

तारावती

नहीं माना जा सकता ? (उत्तर) ऊपर प्रतिपक्षी ने जो कुछ कहा है वह वस्तुतः ठीक नहीं है और न सिद्ध ही होता हैं। उक्त उदाहरण में राम और अशोक का श्लेष-मूलक साम्य पृथक् चमत्कार-कारक है और उनका व्यतिरेक पृथक् चमत्कारोत्पादक है। यह बात स्वसंवेदन-सिद्ध है और पूर्वपक्षी इस बात को समझ भी रहा है, किन्तु अपने संवेदन को छिपा रहा हैं। अतः उसे निरुत्तर करने के लिये ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जहाँ श्लेष के बिना केवल उपमा से ही चारुता की निष्पत्ति हो जाती है और व्यतिरेक के परिपोष की अपेक्षा भी नहीं रह जाती। इस प्रकार के विषय में यदि केवल साम्य का प्रतिपादन ही सुचारुरूप से किया जावे तब भी चारुता देखी ही जाती है। जैसेः—

हे जलधर ! मेरा करुण क्रंदन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरे नेत्रजल अविराम प्रवाहित होनेवाले धाराजल के समान हैं और प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हुई शोक की अग्नि बिजली के विलास के समान हैं, मेरे अन्दर प्रियतमा का मुख विद्यमान है और तुम्हारे अन्दर चन्द्रमा है, इस प्रकार सब बातों में मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी ही है। फिर भी हे जलधर ! तुम मुझे निरन्तर जला डालने पर ही क्यों तुले हुये हो ?' (तुम जलधर हो, तुम्हारा अन्तःकरण शीतल हैं फिर तुम मुझे क्यों जला रहे हो ?)

(यह पद्य सुभाषितावली में आनन्दवर्धन के नाम पर पाया जाता है, कुछ लोग इसे यशोवर्मा का बतलाते हैं। सूक्तिमुक्तावली में यशोवर्मा के नाम पर दो पद्य दिये हुये हैं—एक तो यही है और दूसरा 'यस्त्वन्नेत्रसमानकांति……' इत्यादि है। महा नाटक (४–३४) में भी यह पद्य पाया जाता है।)

इस पद्य में तृतीयांत शब्द उपमान हैं और प्रथमांत उपमेय। 'तुल्य' शब्द वाचक हैं। इस पद्य में भी 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि के समान योजना करनी चाहिये अर्थात् यहाँ पर तृतीयांत उपमान के रूप में भी पाये जाने चाहिये और हेतु के रूप में भी। 'बादल गरज रहे हैं इसलिये मेरे मुख से वियोग के उद्दीप्त हो जाने के कारण रुदन का शब्द निकल रहा हैं।' निरंतर वर्षा हो रही है अतः मेरे भी वेदना-जन्य आंसू प्रवाहित हो रहे हैं।' इत्यादि।

यहाँ पर केवल साम्य के बल पर ही चारुता की निष्पत्ति हो जाती है न श्लेष की अपेक्षा हैं न व्यतिरेक की। इसी प्रकार 'रक्तस्त्वम्………' इस पद्य में भी उपमा-गत चारुता की निष्पत्ति पृथक् रूप में होती है और उसको छोड़ कर व्यतिरेक की निष्पत्ति पृथक् की गई है। एक को छोड़कर दूसरे का उपादान रस का परिपोषक हो रहा है।

(५) इस प्रकार अलङ्कार के ग्रहण और त्याग का समर्थन कर कारिका के 'नातिनिर्वहणैषिता' इस भाग की व्याख्या की जा रही है—वृत्तिकार ने 'यं च' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें 'च' शब्द समुच्चयवाचक है और अलंकार की समीक्षा के नये प्रकार का समुच्चय कराता है। पांचवां प्रकार यह है कि जिस अलंकार के निर्वहण के लिये कवि सचेष्ट नहीं होता।

ध्वन्यालोकः

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति । यथा—

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

इत्यादौ रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्टये ।

(अनु०) और रस के निर्वहण में अपना मन पूर्ण रूप से लगाये हुये कवि जिस (अलङ्कार) का अत्यन्त निर्वाह करना नहीं चाहता वह अलङ्कार रस पोषक होता है । जैसेः—

'प्रियतमा क्रोध में भरकर कोमल बाहुलता रूपी पाश में नायक को भली-भाँति जकड़ कर शाम के समय सखियों के सामने निवास स्थान पर ले जाकर उसकी दुश्चेष्टाओं की ओर संकेत करती हुई अपनी क्रोधावेश में स्खलित होती हुई सुन्दर वाणी में (सखियों से) कह रही थी कि 'फिर कभी ऐसा मत कहना' इस प्रकार हँसते हुये अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा करनेवाला जो प्रियतम रोती हुई नायिका के द्वारा पीटा जाता है वह धन्य ही है ।

यहाँ पर रूपक का आक्षेप किया जाता है जिसका निर्वाह नहीं किया गया है अतः वह रस को बहुत अधिक पुष्ट करता है ।

लोचन

एवं ग्रहणत्यागौ समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे—रसेति । चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः । बाहुलतिकायाः बन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत्, दयिता व्याधवधूः वासगृहं कारागारपञ्जरादीति परमनौचित्यं स्यात् । सखीनां पुर इति । भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करोतीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति भावः ।

इस प्रकार ग्रहण और त्याग का समर्थन करके 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा न होना' इस भाग की व्याख्या करते हैं:—रसेति ! चकार समीक्षा प्रकार के समुच्चय के अर्थ में है । बाहुलतिका के बन्धनीय पाश के रूप में आरोप का यदि निर्वाह किया जावे तो दयिता व्याधवधू और वासगृह कारागार-पञ्जर इत्यादि यह परम अनौचित्य होगा । 'सखियों के सामने' कहने का भाव यह है कि 'आप सब निरन्तर कहा करती हैं कि यह ऐसा नहीं करता, इसलिये अब इस समय पर देखो ।'

तारावती

आशय यह है कि जिस समय कवि इसके निर्वहण में अपना मन पूर्ण रूप से लगा देता है और संयोगवश आये हुये अलंकार की परिसमाप्ति के लिये अधिक प्रयत्न नहीं करता उस समय वह अलंकार रस का परिपोषक हो जाता है । जैसेः—

लोचन

स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा। काऽसौ गीरित्याह—भूयो नैवमित्येवं रूपा। एवमिति यदुक्तं तत्किमित्याह—दुश्चेष्टितं नखपदादि संसूच्य अङ्गुल्यादिनिर्देशेन। हन्यत एवेति न तु सख्यादिकृतोऽनुनयोऽनुरुध्यते। यतोऽसौ हसनं निमित्तीकृत्य निह्नुतिपरप्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति।

कोप के आवेश में स्खलित होनेवाली तथा कल अर्थात् मधुर है वाणी जिसकी। यह वाणी कौन है यह कहते हैं—'फिर कभी नहीं' इस रूपवाली। इस प्रकार जो यह कहा वह क्या ? यह कहते हैं—दुश्चेष्टित अर्थात् नखक्षत इत्यादि को 'सूचित करके' अर्थात् अंगुली इत्यादि के निर्देश से। 'मारा ही जाता है' सखी इत्यादि के किये हुये अनुनय को नहीं माना जाता। क्योंकि यह हँसी को निमित्त बनाकर छिपाने का प्रयत्न करता है और हैं प्रियतम भी, उसके अपराध को सहने में कौन समर्थ हो सकती है ?

तारावती

कोई नायिका सखियों से अपने प्रियतम के अपराधों का वर्णन किया करती है। सखियां नायक का पक्ष लेती हैं और सर्वदा यही कह दिया करती हैं कि नायक ऐसी प्रकृति का नहीं है वह ऐसा अपराध नहीं कर सकता। एक बार नायिका नायक को नखक्षत इत्यादि से विभूषित देख लेती है और पकड़कर सखियों के सामने ले आती है। इस प्रकार अपने कथन को प्रमाणित करती है। यही वर्णन करते हुये कवि कह रहा है—

'प्रियतमा सायंकाल में क्रोधावेश में भरकर अपनी कोमल और चञ्चल बाहुलता रूपी पाश में प्रियतम को दृढ़ता पूर्वक बांध कर अपने निवास स्थान में सखियों के सामने ले आई। अपनी कल मधुर वाणी में जो कि कोप के कारण स्खलित हो रही थी उसकी दुश्चेष्टाओं को संकेत के द्वारा सूचित करते हुये अर्थात् उसके नखक्षत इत्यादि चिह्नों की ओर हाथ से संकेत करते हुये सखियों से कहा कि देखो अब कभी ऐसा मत कहना कि यह अपराधी नहीं है। उस समय नायिका रो रही थी और प्रियतम हँसकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा था। उस समय प्रियतमा उसे मारने लगी। सचमुच इस प्रकार का सौभाग्य जिसे प्राप्त हो वह धन्य ही है।'

यहाँ पर 'बाहुलतारूपी पाश' इसमें रूपक अलङ्कार है। किन्तु उसका निर्वाह नहीं किया गया है। निर्वाह न करने के कारण ही रस का परिपोष भली भांति हो जाता है। यदि बाहुलतारूपी पाश के रूपक का निर्वाह किया जाता तो नायिका को व्याध-वधू कहना पड़ता और वासगृह को कारागारपञ्जर, जो कि अत्यन्त अनुचित होता। 'मारती ही है' कहने का आशय यह है कि सखी इत्यादि के किये हुये अनुरोध को भी नहीं मानती। क्योंकि यह प्रियतम हँसी का बहाना लेकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा है। भला उसके अपराध को सहने में कौन समर्थ हो सकती है। (यह पद्य अमरुशतक से लिया गया है।)

ध्वन्यालोकः

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदिह न ते भीरु सादृश्यमस्ति॥

इत्यादौ।

(अनु०) निर्वहण के लिये अभीष्ट भी जिसको प्रयत्न पूर्वक अङ्ग के रूप में देखता है। जैसे—

मैं श्यामाओं (प्रियङ्गुलताओं) में तुम्हारा अङ्ग, चकित हरिणी के अवलोकन में तुम्हारा दृष्टिपात, चन्द्रमा में कपोल सौन्दर्य, मयूरों के बर्हभार में तुम्हारा केशपाश और नदी की कृश लहरियों में भ्रू विलास को देखता हूँ। किन्तु! कातर हृदय वाली! खेद है कि कहीं भी एकत्र तुम्हारा सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं होता।' इत्यादि में।

लोचन

निर्वोढुमिति। निश्शेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः। श्यामासु सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकित्वेन च योगात्। शशिनीति पाण्डुरत्वात्। उत्पश्यामीति यत्नेनोत्प्रेक्षे। जीवितसन्धारणायेत्यर्थः। हन्तेति कष्टम्। एकस्थसादृश्याभावे हि दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकस्य धृतिं लभ इति भावः। भीर्विति। यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः। अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम्।

निर्वाह करने के लिये, अर्थात् निश्शेष रूप में समाप्त करने के लिये। 'श्यामा में' अर्थात् सुगन्धित प्रियंगुलताओं में, पाण्डुता तनुता और कण्टकित होने के योग से। 'चन्द्रमा में' अर्थात् पाण्डु वर्ण के योग से। 'उत्पश्यामि' का अर्थ है प्रयत्न पूर्वक देखता हूँ। अर्थात् जीवन धारण करने के लिये। 'हन्त' का अर्थ है खेद की बात है। एक स्थान पर सादृश्य के अभाव में निस्सन्देह दोलायमान मैं सर्वत्र स्थित हुआ कहीं भी धैर्य को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ यह भाव है। 'भीरु' इति। अर्थात् जो निस्सन्देह कातर हृदयवाला होता है वह सर्वत्र एक स्थान पर नहीं रखता। यहाँ पर निस्सन्देह उस भाव के अध्यारोप रूप उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करनेवाला सादृश्य जैसा उपक्रान्त किया गया है वैसा निर्वाह भी कर दिया गया (इस प्रकार) विप्रलम्भ का पोषक ही हुआ है।

ध्वन्यालोकः

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः संपद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति।

(अनु) वह इस प्रकार उपनिबद्ध किया हुआ अलङ्कार कवि की रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है। उक्त प्रकारों का अतिक्रमण करने पर तो नियमतः अलङ्कार रसभङ्ग में कारण हो जाता है। इस प्रकार के लक्ष्य (जहाँ अलङ्कार रसोपघातक हो गया है) महाकवियों के प्रबन्धों में भी प्रायः देखे जाते हैं। किन्तु उनको पृथक्-पृथक् इसलिये नहीं दिखलाया कि जिन महात्माओं की आत्मा सहस्रों सूक्तियों से प्रकाशित हो चुकी है उनके दोषों की उद्घोषणा करना अपना ही दोष हो जाता है। किन्तु रस इत्यादि के विषय में रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग की व्यञ्जकता के क्षेत्र में लक्षणों का जो यह दिग्दर्शन कराया गया है उसका अनुसरण करते हुये तथा अन्य लक्षणों की भी उत्प्रेक्षा करते हुये यदि कोई सुकवि अभी हाल में ही कहे हुये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की प्रतिभावाली ध्वनि की आत्मा का सावधान चित्त होकर उपनिबन्धन करता है तो उसे महत्त्वपूर्ण सुकवि का पद (अनायास ही) मिल जाता है।

तारावती

(६) निर्वहण होते हुये भी प्रयत्नपूर्वक जिसकी अङ्ग के रूप में अपेक्षा की जावे। जहां पर कवि ने किसी एक अलङ्कार का पूर्ण रूप से निर्वाह कर दिया हो किन्तु ऐसी कुशलता से उसका निर्वाह किया हो कि वह पूर्ण होते हुये भी रस का अंग बन जावे वहां पर रस अलङ्कार का पोषक ही होता है। जैसे मेघदूत में यक्ष अपनी प्रियतमा को सन्देश देते हुये कह रहा है:—

'हे भीरु मैं सुगन्धित प्रियङ्गुलताओं में तुम्हारे अङ्ग की कल्पना करता हूँ। चञ्चल हरिणी के प्रेक्षण में मैं तुम्हारे दृष्टिपात की कल्पना करता हूँ। इसी प्रकार चन्द्र में कपोलों के सौन्दर्य की, मयूरों के बर्हभार में केशों की और नदी की कृशतर लहरियों में भ्रूविलास की कल्पना करता हूँ किन्तु खेद है कि कहीं भी तुम्हारा एकस्थ सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं होता।' यहां पर प्रियङ्गुलताओं में नायिका के अङ्ग की कल्पना की गई है। क्योंकि नायिका के समान प्रियङ्गुलताओं में भी पाण्डुवर्णता (स्वर्णवत् गौरवर्णता) और दुबलापन होता है तथा नायिका जिस प्रकार प्रेमावेश में रोमाञ्चित होती है उसी प्रकार प्रियंगुलताओं में भी कटीलापन होता है। (इससे नायिका की सर्वकालिक प्रेम निर्भरता हर्ष-परवशता और रोमाञ्चित रहना अभिव्यक्त होता है।) चन्द्रमा में मुख की उत्प्रेक्षा इसीलिये की जाती है कि दोनों ही गौर वर्णवाले हैं। 'उत्पश्यामि'

लोचन

तत्तु लक्ष्यं न दर्शितमिति सम्बन्धः। प्रत्युदाहरणे ह्यदर्शितेप्युदाहरणानुशीलन-दिशा कृतकृत्यतेति दर्शयति—किं त्विति। अन्यल्लक्षणमिति। परीक्षाप्रकारमित्यर्थः। तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि। यथा ममैव—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्वथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरैः;
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः॥

इत्यत्र रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम् ॥१८, १९॥

सम्बन्ध योजना इस प्रकार है कि उस तत्त्व को नहीं दिखलाया। प्रत्युदाहरण के न दिखलाये जानेपर भी उदाहरणानुशीलन की दिशा से ही कृतकृत्यता हो जाती है यह दिखलाते हैं—'किन्तु' इति। 'अन्यल्लक्षणमिति' अर्थात् परीक्षा का प्रकार। वह जैसे अवसर पर छोड़े हुये को पुनः ग्रहण कर लेना इत्यादि। जैसे मेरा ही :—

'यदि शीतांशु की किरणें अमृत की शोभावाली हैं तो क्यों अत्यन्त रूप में मेरे मन को जला रही हैं? यदि कालकूट पटल के साथ रहने से दूषित हैं तो प्राणों को क्यों नहीं हर लेतीं? यदि प्रियतमा के संकथन रूपी मन्त्राक्षरों के द्वारा उनकी रक्षा की जाती है तो मैं मोह को क्यों प्राप्त हो जाता हूँ? अरे-अरे! मैं नहीं जानता कि यह क्या गति है?'

यहाँ पर रूपक सन्देह और निदर्शना को छोड़ कर रस परिपोष के लिए पुनः उपादान कर लिया गया। बस इतना पर्याप्त है॥ १८, १९॥

तारावती

का अर्थ है 'प्रयत्नपूर्वक कल्पना करता हूँ' क्योंकि वियोग दशा में मेरे प्राणधारण का यही एक आश्रय है। खेद इसीलिये है कि सादृश्य की सब वस्तुयें इतस्ततः बिखरी हुई हैं, एक स्थान पर सभी वस्तुओं का सादृश्य दिखलाई नहीं देता, अतः मेरा हृदय सर्वदा दोलायमान रहता है। मैं जहां कहीं स्थित होता हूँ और एक वस्तु के सादृश्य का आनन्द लेता हूँ वहां दूसरी वस्तु का अभाव खटकता रहता है, एक ही स्थान पर सभी वस्तुओं के सादृश्य का धैर्य हमें प्राप्त नहीं होता। 'हे भीरु' इस सम्बोधन का आशय यह है कि जो कातर हृदय होता है वह अपनी सभी चीजों को एक स्थान पर ही नहीं रखता। मालूम पड़ता है कि प्रियतमा ने भय के कारण ही अपनी समस्त सुन्दर वस्तुओं को एक स्थान पर नहीं रक्खा है। यहां पर उत्प्रेक्षालंकार में किसी वस्तु पर किसी ऐसे तत्त्व का अध्यारोप किया जाता है जिसकी सत्ता वहां विद्यमान नहीं होती। इस उत्प्रेक्षा का अनुप्राणक (जीवनदायक) सादृश्य ही होता है। यहां पर सादृश्य को जिस रूप में प्रारम्भ किया गया था उसका पूरा पूरा निर्वाह कर दिया गया किन्तु फिर भी वह विप्रलम्भ का पूर्ण रूप से परिपोषक ही हो गया है।

तारावती

यदि कवि उक्त प्रकारों का आश्रय लेकर अलंकारों को काव्य में निबद्ध करता है तो वह अलंकार रस को अभिव्यक्ति में कारण हो जाता है। इसके प्रतिकूल यदि उक्त प्रकारों का अतिक्रमण कर दिया जावे तो वह अलंकार नियमपूर्वक रसभङ्ग में कारण बन जाता है। महाकवियों के प्रबन्धों में ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें अलंकारों का अनुचित प्रयोग रस के व्याघात में कारण बन गया है। किन्तु मैं यहां विस्तार के साथ उनकी व्याख्या नहीं करना चाहता। कारण यह है कि जिन महात्माओं की अन्तरात्मा सहस्रों सूक्तियों से द्योतित हो रही है उनके दोषों का उद्घोष करना स्वयं अपना ही दोष हो जावेगा। किन्तु यहां पर रस इत्यादि के विषय में रूपक इत्यादि अलंकारवर्ग किस प्रकार व्यञ्जक होता है इसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। यदि कोई अच्छा कवि इस मार्ग का अनुसरण करेगा और स्वयं इसी प्रकार के अन्य लक्षणों की कल्पना कर लेगा तथा परीक्षा के दूसरे प्रकारों को निकालेगा और उसके आधार पर सावधानी के साथ पहले बतलाये हुये असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को निबद्ध करने की चेष्टा करेगा तो उसे सुकवि का महत्त्वपूर्ण पद सरलतापूर्वक मिल सकेगा ऐसी आनन्दवर्धन की धारणा है। परीक्षा के अन्य प्रकारों में उदाहरण के लिये एक यह हो सकता है कि जहां अलंकार को छोड़कर पुनः ग्रहण कर लिया जावे। जैसे मेरा (अभिनव गुप्त का) ही पद्य —

'यदि शीतांशु की किरणें अमृत को शोभावाली हैं. तो फिर मेरे मन को बहुत अधिक जला क्यों रही हैं ? (यदि इनके जलाने में यह कारण है कि) ये कालकूट पटल के सम्पर्क से दूषित हो चुकी हैं तो मेरे प्राणों को क्यों नहीं हर लेतीं ? यदि इनके प्राणों के न हरने का कारण यह है कि उस विष के प्रभाव को मारनेवाले प्रियतमा के वचन रूपी अमृत के अक्षर मेरी रक्षा करते हैं। तो मैं बार-बार मूर्छित क्यों हो जाता हूँ ? अत्यन्त दुःख की बात है कि मैं समझ ही नहीं पाता हूँ कि मेरी यह दशा क्या हो गई है ?'

यहां निम्नलिखित अलंकार प्रकट हो रहे हैं—(१) रूपक—किरणों पर अमृतच्छटा का आरोप, कालकूट-सम्पर्क-दूषितत्व का आरोप और प्रियतमा के वचनों पर मन्त्राक्षरत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है। (२) सन्देह—क्या ये अमृत की शोभावाली हैं या विष के सम्पर्क से दूषित हैं अथवा प्रियतमा के वचनरूपी मन्त्राक्षर मेरी रक्षा करते हैं—इस प्रकार सन्देह है। (३) निदर्शना—किरणों पर अमृतशोभाशालित्व और विषसम्पृक्तत्व के तथा प्रियतमा के वचनों पर मन्त्राक्षरों के ऐक्य का आरोप किया गया है इसलिये निदर्शनालंकार है।

यहां पर 'यदि.............शोभावाली हैं' में जिन अलंकारों का उपादान किया गया है 'तो फिर.............जला क्यों रही हैं' इन शब्दों के द्वारा उनका परित्याग कर दिया गया है। पुनः 'यदि ये.............दूषित हो चुकी हैं' इन शब्दों के द्वारा उन्हीं अलंकारों का उपादान किया गया और पुनः 'तो ....हर लेती है' इन शब्दों में उनका परित्याग कर दिया गया। पुनः 'यदि प्रियतमा के.............करते हैं।' में उनका उपादान

ध्वन्यालोकः

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ २० ॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः।

(अनु०) इस विवक्षितान्यपरवाच्य की जिस आत्मा का अनुस्वान के समान क्रमपूर्वक प्रतिभास होता है वह भी दो रूपों में व्यवस्थित होती है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ॥ २० ॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के व्यङ्ग्य के संलक्ष्यक्रम होने के कारण अनुरणन के समान जो आत्मा होती हैं वह भी शब्दशक्तिमूलक तथा अर्थशक्तिमूलक इन दो प्रकारों की होती है।

लोचन

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः प्रथमं भेदमलक्ष्यक्रमं विचार्य द्वितीयभेदं विभक्तुमाह—क्रमेणेत्यादि। प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः। घण्टाया अनरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति। सोऽपीति। न केवलं मूलतो ध्वनिर्द्विविधः। नापि केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः। अयमपि द्विविध एवेत्यपि शब्दार्थः ॥२०॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद लक्ष्यक्रम पर विचार करके द्वितीय भेद का विभाजन करने के लिये कह रहे हैं—क्रमेण इत्यादि। अनुवाद भाग प्रथम पाद हेतु के रूप में ग्रहण किया गया है। घण्टा का अनुरणन अभिघातज शब्द की अपेक्षा क्रमशः ही शोभित होता है। सोऽपीति। केवल मूलतः ही ध्वनि दो प्रकार की नहीं होती और नहीं ही केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का होता हैं। यह भी दो ही प्रकार की होती है यह 'अपि' शब्द का अर्थ है ॥ २० ॥

तारावती

किया गया और पुनः 'तो फिर·········हो जाता हूँ' में उनका परित्याग कर दिया गया। इस प्रकार अलंकारों के उपादान और परित्याग से रस की अत्यन्त पुष्टि हो जाती है। यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का दिग्दर्शन किया गया ॥ १८, १९ ॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पर विचार किया जा चुका अब द्वितीय भेद का विभाजन करने के लिये ध्वनिकार ने यह बीसवीं कारिका लिखी हैं। इसका आशय यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि की आत्मा का प्रतिभास केवल असंलक्ष्यरूप में ही नहीं होता अपितु संलक्ष्य रूप में क्रमबद्धता के साथ उसी प्रकार उसका प्रतिभास होता है जिस प्रकार अनुरणन की प्रतीति हुआ करती है। उसकी व्यवस्था दो प्रकार से होती है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। इसीलिये यह ध्वनि भी दो प्रकार की मानी

ध्वन्यालोकः

ननु शब्दशक्त्या तत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात् , नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥ २१॥

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः।

(अनु०) (प्रश्न) शब्दशक्ति से जहाँ अर्थान्तर प्रकाशित होता है वह यदि ध्वनि का एक प्रकार कहा जाता है तो श्लेष के विषय का तो अपहार ही हो गया। (उत्तर) नहीं अपहार हुआ, यही बात २१ वीं कारिका में कही जा रही है—

'जिसमें शब्द के द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्दशक्ति के द्वारा आक्षिप्त ही किया हुआ अलङ्कार प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है॥ २१॥

जिससे अलंकार ही, वस्तुमात्र नहीं, जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है यह हमारा कहने का मन्तव्य है—'जहाँ दोनों वस्तुयें शब्दशक्ति से प्रकाशित होती हैं वहाँ श्लेष होता है।'

तारावती

जाती है। इस कारिका का प्रथम पाद अनुवाद रूप है। अर्थात् सिद्ध वस्तु का निर्देश करता है (किसी साधारण संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्य के दो खण्ड होते हैं एक उद्देश्य और दूसरा प्रतिनिर्देश्य अथवा विधेय। यहां पर 'इस ध्वनि की अनुस्वान के समान जो आत्मा क्रम के साथ प्रतिभासित होती है' यह उद्देश्य वाक्य है और 'शब्द तथा अर्थमूलक होने के कारण उसमें दो भेद होते हैं' यह विधेय वाक्य है।) प्रथम पाद जो कि अनुवाद अथवा उद्देश्य वाक्य का एक खण्ड है उसका उपादान हेतु के रूप में हुआ है अर्थात् इस ध्वनि का प्रतिभास अनुस्वान या अनुरणन के समान हुआ करता है क्यों कि इसके आत्मा की प्रतीति क्रमपूर्वक होती है। घण्टा में जो अभिघातज शब्द होता है उसकी अपेक्षा उसके अनुरणन की प्रतीति पृथक् ही होती है। आशय यह है कि जिस प्रकार पहले-पहल घण्टा में अभिघात होने पर एक शब्द होता है; फिर उस शब्द से पृथक् ही उसका अनुरणन श्रुतिगोचर होता रहता है उसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में पहले शब्द का प्रयोग होता है फिर उससे अभिधेयार्थ की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस क्रम का प्रतिभास पाठकों को होता चलता है अतः उसे संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। (रसध्वनि में हम पद्य को सुनते जाते हैं और हमें आनन्दानुभूति होती जाती है। उसमें हमें यह मालूम ही नहीं पड़ता कि पहले हम शब्द सुनते हैं फिर अर्थ समझते हैं और उसके बाद आनन्द की उपलब्धि होती है। इसके प्रतिकूल संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में हमें पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है कि हम पहले शब्द सुनते हैं तब वाच्यार्थ-

लोचन

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टे—यस्मादिति। अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—न वस्तुमात्रमिति। वस्तुद्वये चेति। चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे।

कारिका में आये हुये 'ही' शब्द की व्याख्या करते हैं—'यस्मादिति'। अलङ्कार शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं—न वस्तुमात्रमिति। 'वस्तुद्वये च' में 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में हैं।

तारावती

बोध होता हैं और फिर व्यङ्ग्यार्थबोध। यही संल्लक्ष्य और असंल्लक्ष्य की प्रक्रिया में अंतर है।) मूल में कहा गया था 'वह भी दो प्रकार का होता है'इसवाक्य में 'भी' शब्द का अर्थ यह है कि इस प्रकरण में ध्वनि के सभी भेदोपभेद दो ही दो प्रकार के किये गये हैं—ध्वनि के दो भेद होते हैं अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं-–अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो ही भेद होते हैं—असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भी दो ही भेद होते हैं—शब्द-शक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ॥ २० ॥

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ पर शब्द-शक्ति से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है उसे यदि ध्वनि में अन्तर्भूत कर दिया जावेगा तो श्लेष के तो विषय का ही अपहार हो जावेगा। श्लेष कहीं हो ही न सकेगा। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये बीसवीं कारिका लिखी गई है—कारिकाकार का आशय यह है कि जिस काव्य में किसी शब्द के बल पर केवल वस्तु की ही व्यञ्जना न हो किन्तु किसी अलङ्कार की भी व्यञ्जना हो उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं। यदि शब्दशक्ति में दो वस्तु-परक अर्थ प्रकाशित हों तो वहाँ पर श्लेष होता है। कारिका में आये हुए ही शब्द की व्याख्या करने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है—'क्योंकि अलङ्कार जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं। यहाँ पर अलंकार का व्यवच्छेद्य क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कहा गया है—वस्तुमात्र नहीं। 'और दो वस्तुओं के शब्दशक्ति से प्रकाशित होने पर श्लेष होता है।' यहाँ पर 'च' शब्द का प्रयोग 'तु' शब्द के अर्थ में किया गया है। (कहने का आशय यह है कि शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि में भी शब्द के बल पर ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है और श्लेष में भी शब्द के बलपर ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। अन्तर केवल इतना है कि दोनों में एक अर्थ तो वस्तु-परक होता ही है किन्तु दूसरा अर्थ भी यदि केवल वस्तु-परक ही हो तो वह श्लेष कहलाता है और यदि दूसरा अर्थ अलंकार-परक हो अथवा अलंकारमिश्रित वस्तुपरक हो तो उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं।) श्लेष के उदाहरण के रूप में 'येनध्वस्त ....माधवः' यह पद्य उद्धृत किया गया है। शब्दशक्ति के आधार पर इसके दो अर्थ निकलते हैं एक विष्णुपरक और दूसरा शिवपरक। विष्णुपरक अर्थ की व्याख्या इस प्रकार

ध्वन्यालोकः

यथा—

> येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
> यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
> यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
> पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥

(अनु०) जैसे—

विष्णुपरक अर्थ—अजन्मा जिस भगवान् ने शकटासुर को मारा; जो बलि या बलवान् राक्षसों को जीतनेवाला है जिसने पुराने समय में शरीर को स्त्री रूप में बनादिया था और जो उद्धत सर्प को मारनेवाला तथा शब्द में लीन होने वाला है, जो गोवर्धन तथा पातालगत भूमि को धारण करनेवाला, चक्र को वलय के रूप में धारण करनेवाला है, जिसका नाम देवता लोग चन्द्रमा को दमन करनेवाले राहु के शिर को नष्ट करनेवाला बतलाते हैं, वे यादवों का आवास बनानेवाले, सबकुछ प्रदान करनेवाले भगवान् लक्ष्मीनाथ तुम्हारी रक्षा करें।

भगवान् शंकरपरक दूसरा अर्थ—कामदेव को जीतनेवाले जिन भगवान् शंकर ने बलि जीतनेवाले विष्णु के शरीर को पुराने समय में अस्त्ररूप बना दिया था, उद्धत भुजङ्ग ही जिसके हार और वलय हैं, जिसने गङ्गा को धारण किया; जिसके शिर को चन्द्रमा से युक्त कहते हैं, देवता लोग जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम बतलाते हैं; वे अन्धक का नाश करनेवाले उमाकान्त भगवान् शंकर तुम्हारी रक्षा करें।

लोचन

येनेति। येन ध्वस्तं बालक्रीडायामनः शकटम्। अभवेनाजेन सता। बलिनो दानवान् यो जयति ताहग्येन कायो वपुः पुरामृतहरणकाले स्त्रीत्वं प्रापितः। यश्चोद्वृत्तं समदं कालियाख्यं भुजङ्गं हतवान्। रवे शब्दे लयो यस्य। 'अकारो विष्णुः' इत्युक्तेः। यश्चागं गोवर्धनपर्वतं गां च भूमिं पातालगतामधारयत्। यस्य च नाम स्तुत्यमृषय आहुः किं तत्? शशिनं मथ्नातीति क्विप् राहुः, तस्य शिरोहरो मूर्धापहारक इति। स त्वां माधवो विष्णुः सर्वदः पायात्। कीदृक्? अन्धकनाम्नां जनानां येन क्षयो निवासो

येन इति। तोड़ दिया है बालक्रीड़ा में अनस् अर्थात् शकट जिसने। अभव अर्थात् अज होते हुये जिसने। जो बलवान् दानवों को जीत लेता है इस प्रकार के काय अर्थात् शरीर को जिसने पहले अर्थात् अमृतहरण काल में स्त्रीत्व को प्राप्त करा दिया। जिसने उद्वृत्त अर्थात् मतवाले कालिया नाम के भुजङ्ग को मारा। जिसका लय रव अर्थात् शब्द में होता है, क्योंकि कहा गया है कि अकार विष्णु रूप होता है। और जिसने अग अर्थात् गोवर्धन पर्वत और गौ अर्थात् भूमि को धारण किया। और जिसके नाम को ऋषि लोग स्तुत्य बतलाते हैं, वह क्या है? जो शशि को मथता है (वह शशिमत्) क्विप् प्रत्यय है अर्थात् राहु। उसके सिर को हरनेवाला

लोचन

द्वारकायां कृतः। यदि वा मौसले इषीकाभिस्तेषां क्षयो विनाशो येन कृतः। द्वितीयोऽर्थः येन ध्वस्तकामेन सता बलिजितो विष्णोः सम्बन्धी कायः पुरा त्रिपुरनिर्दहनावसरेऽस्त्रीकृतः शरत्वं नीतः। उद्वृत्ता भुजङ्गा एव हारा वलयाश्च यस्य, मन्दाकिनीञ्च योऽधारयत्। यस्य च ऋषयः शशिमच्चन्द्रयुक्तं शिर आहुः, हर इति च यस्य नाम स्तुत्यमाहुः, स भगवान्स्वयमेवान्धकासुरस्य विनाशकारी त्वां सर्वदा सर्वकालमुमाया धवो वल्लभः पायादिति। अत्र वस्तुमात्रं द्वितीयं प्रतीतं नालङ्कार इति श्लेषस्यैव विषयः।

अर्थात् मूर्धापहारक यह। वह सब-कुछ देनेवाले माधव अर्थात् विष्णु तुम्हारी रक्षा करें। किस प्रकार के? अन्धक नामक जनों का क्षय अर्थात् निवास जिसने द्वारका में किया। अथवा मौसल (पर्व) में सरकण्डों से उनका विनाश जिसने किया। द्वितीय अर्थ—कामदेव को नष्ट करनेवाले होते हुये जिसने बलिजित् अर्थात् विष्णुसम्बन्धी शरीर को त्रिपुर-निर्दहन के अवसर पर अस्त्र बनाया अर्थात् शरत्व को प्राप्त करा दिया। उद्धत भुजङ्ग ही हार और वलय हैं जिसके, मन्दाकिनी को जिसने धारण किया। ऋषि लोग जिसके शिर को शशिमत् अर्थात् चन्द्रयुक्त बतलाते हैं और जिसके हर इस स्तुत्य नाम को कहते हैं। अन्धकासुर के विनाशकारी वे भगवान् उमा के धव अर्थात् पति स्वयं ही सर्वदा अर्थात् सर्वकाल रक्षा करें। यहाँ पर द्वितीय प्रतीत (अर्थ) वस्तुमात्र है अलङ्कार नहीं। इस प्रकार यह श्लेष का विषय है।

तारावती

होगी—(अभवेन येन अनः ध्वस्तम्) जिसने बाल-क्रीड़ा में शकटासुर को नष्ट किया था, जो कि जन्म की बाधा से रहित थे। (पुरा बलिजित्कायः स्त्रीकृतः) पुराने समय में अर्थात् अमृत मथन के अवसर पर बलवान् दानवों को जीतनेवाले अपने शरीर को स्त्री बना दिया था। (कहा जाता है कि अमृत मथन के अवसर पर अमृत पर स्वामित्व स्थापित करने के लिए देवों और दानवों में घोर युद्ध हुआ और देवताओं को जीतकर दानव अमृत छीन ले गये। तब देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर दानवों से पुनः अमृत प्राप्तकर देवताओं को पिलाया था।) (यः च उद्वृत्त भुजङ्गहा) जिन भगवान् ने उद्वृत्त अर्थात् मतवाले कालिया नाम के सर्प को (अथवा सर्प के रूप में परिणत हुये अघासुर को) मारा था। (भगवान् कृष्ण की बाल-क्रीड़ा में कालिया-दमन और अघासुर-वध की कथायें प्रसिद्ध हैं।) (रवलयः या आरवलयः) जिसका लय शब्द में हो जाता है क्योंकि कहा ही गया है कि 'अ' यह अक्षर विष्णु का रूप है। (अथवा शब्द ब्रह्म के रूप में स्थित होने के कारण जिन भगवान् का तादात्म्य शब्द में हो जाता है अथवा इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि आर अर्थात् चक्र को जो वलय के रूप में धारण करते हैं।) (यश्च अगं गां च अधारयत्) जिसने गोबर्धन पर्वत तथा पृथ्वी को धारण किया। (भगवान् कृष्ण के गोबर्धन पर्वत उठाने तथा भगवान् बाराह के हिरण्याक्ष वध में पाताल से पृथ्वी को उठाकर लाने की कथायें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।) (यस्य च

तारावती

स्तुत्यं नाम ऋषय आहुः) जिसके प्रशंसनीय नाम को ऋषि लोग कहते हैं। वह नाम क्या है? (शशिमच्छिरोहर इति) चन्द्रमा का मथन राहु करता है और उस राहु के शिर को हरनेवाला भगवान् का नाम है यह ऋषि लोग कहते हैं। वे ही माधव अर्थात् लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु, जो कि सभी कुछ प्रदान करनेवाले हैं आप सब लोगों की रक्षा करें। वे भगवान् हैं कैसे? जिन्होंने अन्धक वंशवालों का क्षय अर्थात् निवास द्वारका में बनाया था। अथवा जिन्होंने अन्धक वंशवालों का विनाश इषीकाओं के द्वारा किया था जिसका वर्णन महाभारत के मौसल पर्व के अन्तर्गत आया है। (महाभारत के मौसल पर्व में लिखा है कि कई ऋषि मिलकर द्वारका गये। वहाँ अन्धकों और यादवों ने मिलकर साम्ब को स्त्री बनाकर ऋषियों से पूछा कि इसके क्या सन्तान होगी? ऋषियों ने इस औद्धत्य पर रुष्ट होकर उन्हें शाप दे दिया कि इससे जो भी सन्तान उत्पन्न होगी वह तुम्हारा नाश करेगी। यदुवंशियों ने जब साम्ब का स्त्री-वेश हटाकर देखा तो उससे एक मूसल उत्पन्न हुआ। आनेवाली आपत्ति को बचाने के निमित्त उस मूसल का चूरा कर सागर के निकट फेंक दिया गया। एक बार जब सब मिलकर तीर्थयात्रा के लिये जा रहे थे, शराब के नशे में चूर होकर एक दूसरे को अपशब्द कहने लगे। इसके बाद एक दूसरे को मार डालने की क्रिया प्रारम्भ हो गयी। भगवान् ने समुद्र के तट पर पूर्वोक्त मूसल के चूरे को लेकर जैसे ही दूसरों को मारा वैसे ही उस चूरे से अंकुर बन गये और उन अंकुरों ने मूसल का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार परस्पर लड़ते हुये सभी मारे गये।) यह तो इस पद्य का विष्णु-परक अर्थ हुआ। इन्हीं शब्दों से शंकरपरक अर्थ भी निकल सकता है। शंकरपरक अर्थ इस प्रकार होगा—'मनोभव को नष्ट करनेवाले जिन भगवान् शंकर ने त्रिपुरदाह के अवसर पर बलि को जीतनेवाले भगवान् विष्णु के शरीर को अस्त्र के रूप में अर्थात् बाण के रूप में प्रयुक्त किया था। त्रिपुरवध की कथा लिङ्ग पुराण, शिव पुराण और स्कन्द पुराण में आई है। कहा जाता है कि विद्युन्माली, तारकाक्ष और कमलाक्ष नाम के तीन राक्षस थे। इन राक्षसों ने ब्रह्मा से वरदान के रूप में काञ्चन राजत और आयस ये तीन पुर प्राप्त किये। बाद में दर्प के वशवर्ती होकर जब उन असुरों ने विश्व को उत्पीड़ित करना प्रारम्भ कर दिया तब भगवान् शंकर ने देवताओं की सहायता से बाणरूपधारी भगवान् विष्णु के द्वारा उस राक्षस का वध किया।) उद्धत सर्प ही जिसके हार और वलय हैं, जिसने गङ्गा को धारण किया, ऋषि लोग जिसके शिर को चन्द्रयुक्त बतलाते हैं और जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम बतलाते हैं। स्वयं ही अन्धकासुर का विनाश करनेवाले, तथा भगवती उमा के पति वे ही भगवान् शंकर जी तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें। (अन्धकासुर के विनाश की कथा भी लिङ्ग, शिव और स्कन्द पुराणों में आई है। अन्धकासुर हिरण्याक्ष का पुत्र था। देवासुर-संग्राम में शुक्राचार्य जी मृत राक्षसों को मृतसञ्जीवनी विद्या के प्रभाव से पुनः प्रत्युज्जीवित कर दिया करते थे। एक बार भगवान् शंकर ने शुक्राचार्य को निगल लिया। शुक्राचार्य ने शंकर जी के पेट में लोक-लोकान्तरों के दर्शन किये। अन्धकासुर शुक्राचार्य

ध्वन्यालोकः

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्येदमुक्तम् 'आक्षिप्तः' इति। तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

(अनु०) (प्रश्न) भट्टोद्भट ने दिखलाया है कि दूसरे अलङ्कारों की प्रतिभा में भी श्लेष यह नाम हो जाता है; अतएव फिर भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई अवकाश नहीं रहा—इसी शङ्का का उत्तर देने के लिये यह कहा है कि 'अलङ्कार आक्षिप्त हो'। अतएव यह अर्थ हुआ—जहाँ शब्दशक्ति द्वारा साक्षात् दूसरा अलंकार वाच्य होते हुये प्रतिभासित होता है वह सब श्लेष का विषय है। और जहाँ पर शब्दशक्ति के द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वाच्य से भिन्न दूसरा ही व्यङ्ग्य अलंकार प्रकाशित होता है वह ध्वनि का विषय है।

लोचन

आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं चोद्येनोपक्रमते—नन्वलङ्कारेत्यादिना।

कारिकागत आक्षिप्त शब्द का व्यवच्छेद्य (पृथक्करणीय) दिखलाने के लिये प्रेरणीय के रूप में उपक्रम किया जा रहा है नन्वलंकार इत्यादि से।

तारावती

को छुड़ाने के निमित्त सेना लेकर चढ़ आया। सेना का कलकलनाद शुक्राचार्य जी ने भगवान् शंकर के पेट के अन्दर से सुना और उत्तेजित होकर शंकर जी के शुक्र मार्ग से बाहर निकल आये। अन्धकासुर लड़ता-लड़ता मारा गया।)

यहाँ पर प्रतीतिगोचर होनेवाला दूसरा अर्थ वस्तुमात्र है। अतः यह श्लेष का ही विषय है, शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य का नहीं। क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ पर दूसरे अर्थ से वस्तु-मात्र की प्रतीति हो वहाँ पर श्लेष होता है और जहाँ पर दूसरे अर्थ से अलंकार की प्रतीति हो वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है।

कारिका में आक्षिप्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसकी सङ्गति बिठाने के लिये तथा यह दिखलाने के लिये कि उस आक्षिप्त शब्द से कौन सा तत्त्व ध्वनि के क्षेत्र से बाह्य हो जाता है, पूर्वपक्ष के रूप में उसकी अवतारणा की जा रही है—(प्रश्न) भट्टोद्भट ने दिखलाया है कि जहाँ दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो रही हो वहाँ भी श्लेष नामक अलंकार होता है। फिर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लिये अवसर ही कहाँ रह गया? (उत्तर) कारिका में आये हुये आक्षिप्त शब्द पर ध्यान देने से इस प्रश्न का उत्तर स्वतः समझ में आ जावेगा। आक्षिप्त शब्द का आशय यह है कि जहां पर शब्दशक्ति से दूसरा अलङ्कार साक्षात् वाच्य होकर प्रकाशित हो

तारावती

रहा हो वह सब श्लेष का विषय होता है। इसके प्रतिकूल जहां पर शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरे अलङ्कार का आक्षेप कर लिया जावे और वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही हो वहां पर ध्वनि का विषय होता है।

[इस प्रकरण में बतलाया गया है कि जहां शब्दशक्ति से अलङ्कार की प्रतीति हो वहां पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है और जहां पर शब्दशक्ति से किसी वस्तु की प्रतीति हो वहां पर श्लेष होता है। इसका आशय यह है कि आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त केवल अलङ्कारध्वनि को ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं, वस्तु-ध्वनि को शब्दशक्ति मूलक नहीं मानते। इसके प्रतिकूल अनेक आचार्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो भेद मानते हैं—अलङ्कार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। काव्यप्रकाश कार ने चौथे उल्लास की ५३ वीं कारिका में लिखा है कि—'जहां पर शब्द से ही अलङ्कार अथवा वस्तु व्यञ्जित हो और उसकी प्रधानता भी हो वहां पर शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है, यह दो प्रकार की होती है—अलङ्कार ध्वनि और वस्तु-ध्वनि।' यह लिखकर अलङ्कार ध्वनि के उदाहरण देने के बाद 'पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि..........ता वससु' यह उदाहरण शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि का दिया है। साहित्य-दर्पणकार ने भी काव्यप्रकाश की मान्यता को ही स्वीकार कर लिया है और उदाहरण भी वही दे दिया है जो कि काव्यप्रकाशकार ने दिया था। रुय्यक ने अपनी काव्य-प्रकाशसंकेत नामक टीका में मम्मट की मान्यता का प्रत्याख्यान कर दिया है किन्तु अपने अलङ्कार सर्वस्व में वस्तु-ध्वनि की स्थापना कर दी है। इन दोनों परस्पर विरुद्ध तत्त्वों में सङ्गति बिठाने के लिये जयरथ ने लिखा है कि रुय्यक को वस्तु-ध्वनि मानने में कोई आपत्ति नहीं है किन्तु उन्हें आपत्ति इस उदाहरण में है। क्योंकि इसमें ध्वनि कुछ तो शब्दशक्ति से निकलती है और कुछ अर्थ-शक्ति से। अतः यह उदाहरण उभयशक्तिमूलक ध्वनि का होना चाहिये न कि केवल शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का। शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का ठीक उदाहरण रुय्यक के मत में 'शनिरशनिश्च' यह होगा। इसका आशय यह है कि रुय्यक के मत में भी शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का अपलाप नहीं हो सकता। रसगङ्गाधरकार ने शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि को स्वीकार किया है उसका उदाहरण यह दिया है—कोई नायिका अपनी सखी से कह रही है—'राजा के मेरे प्रतिकूल होने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ा भय उपस्थित हो गया है, हे बाले ! पथिक को बास देने की व्यवस्था से उस भय का निराकरण करो।' यहाँ पर 'राजा' शब्द के दो अर्थ हैं, भूपति और चन्द्रमा। नायिका प्रकट रूप में तो भूपतिपरक बात कहती है किन्तु 'चन्द्र'-परक अर्थ कर लेने पर कामोद्दीपन की व्यञ्जना के साथ अवगत होता है कि नायिका पथिक के साथ सहवास की आकांक्षा व्यक्त कर रही है। इस विषय में रसगङ्गाधरकार ने लिखा है—'यहां पर न तो राजा और चन्द्र के उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जा सकती है और न इनके भेदापोह के रूप में रूपक ही माना जा सकता है। कारण यह है कि उपमा या रूपक वहीं पर होते हैं जहाँ उपमान और उपमेय दोनों एक साथ उल्लसित हों। यहाँ पर 'नृप' रूप अर्थ का उपादान केवल

तारावती

इसीलिये हुआ है कि उपभोग रूप अर्थ छिपाया जा सके। अतः उपमा और रूपक ये दोनों अलंकार तात्पर्य का विषय हो ही नहीं सकते। यहाँ पर यह भी शंका नहीं करनी चाहिए कि इस प्रकार रूपक या उपमा न मानने से परस्पर असंसृष्ट दो अर्थ माने जाने का दोष होगा। यह दोष वहीं पर होता है जहाँ दोनों अर्थ एक दूसरे के समकक्ष हों और दोनों का असंबद्ध रूप में ही प्रतिपादन करना कवि को अभीष्ट हो। यहाँ पर दोनों समकक्ष नहीं हो सकते क्योंकि जिस समय छिपाने के लिये कहे हुये राजपरक अर्थ की प्रतीति होती है उस समय छिपाया जानेवाला अर्थ प्रतीतिगोचर होता ही नहीं। इसके प्रतिकूल जिस समय छिपाया जानेवाला अर्थ प्रतीतिगोचर होता है उस समय छिपानेवाला अर्थ दब जाता है। इस प्रकार इन दोनों अर्थों की समकक्षता नहीं है। इस ग्रन्थ का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि वहीं स्वीकार की जानी चाहिये जहाँ दो अर्थों का आच्छाद्य-आच्छादक भाव हो। अर्थात् जहाँ पर वक्ता सर्व साधारण में समझे जाने के लिये जिस बात को कहे उसके कुछ शब्दों के बल पर एक दूसरा और अर्थ निकल आवे और उस अर्थ को उस वक्ता के निकटवर्ती व्यक्ति ही समझ सकें। इस प्रकार पण्डितराज के मत में जहाँ अपने अभिप्राय को छिपा कर कहना अभीष्ट होता है वहाँ शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि होती है। इस विषय में अप्पय दीक्षित का मत कुछ भिन्न है। उन्होंने लिखा है—प्राचीनों का कहना है कि जहाँ पर शब्दशक्ति के बल पर प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दो अर्थ प्रतीत हो रहे हों वहाँ पर दूसरे अर्थ की अवगति के लिये व्यञ्जना-व्यापार का आश्रय लेना पड़ेगा। वहाँ अभिधा नहीं हो सकती क्योंकि अभिधा का नियन्त्रण प्राकरणिक अर्थ में हो चुका है और मुख्यार्थबाध इत्यादि शर्तों के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती। व्यञ्जना के लिये न तो प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित होने की शर्त है और न मुख्यार्थबाध इत्यादि का कोई बन्धन है। यह है प्राचीनों का मत। इस पर मेरा (अप्पय दीक्षित का) मत यह है कि जिस प्रकार प्राकरणिक अर्थ में अभिधा नियन्त्रित हो सकती है उसी प्रकार अप्राकरणिक अर्थ में भी उसका नियन्त्रण हो सकता है। क्योंकि अभिधा के लिये आवश्यक शर्तें आकांक्षा योग्यता सन्निधि इत्यादि तो अप्राकरणिक अर्थ में भी विद्यमान हैं ही, फिर वहाँ पर अभिधा का प्रसार क्यों नहीं हो सकता ? व्यञ्जनावादी के मत में भी व्यञ्जना के द्वारा भी सर्वत्र अप्राकरणिक अर्थ का प्रत्यायन नहीं हो सकता। चाहे दूसरा अर्थ अभिप्राय को छिपाने के लिये ही लिया गया हो किन्तु उसका भी उपयोग तो प्रकरण में होता ही है। यदि बिना किसी प्रयोजनके एक अर्थ अभिधा से ले लिया जावे और दूसरा अर्थ व्यञ्जना से तो प्रकरण का उपयोग ही क्या हुआ ? यह तो वही दशा हुई खेत सींचने के लिये जहां आवश्यकता है वहां एक नाली निकाल दो और जहां आवश्यकता नहीं है वहां दूसरी नाली निकाल दो। तो इसमें व्यवस्था ही क्या हुई। अतः मानना पड़ेगा कि किसी भी प्रकरण में शब्दों का दूसरा अर्थ वहीं पर लिया जाता है जहां उसकी आवश्यकता हो। इस प्रकार दोनों अर्थ अभिधा के द्वारा ही निकलते हैं। प्राचीनों ने

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

अत्र श्रृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपमव्यङ्गथस्य ध्वनेः।

(अनु०) शब्दशक्ति से दूसरे अलंकार के साक्षात् प्रतिभास (प्रतीत) होने का उदाहरण—

'हार के बिना भी स्वभाव से ही हारी उसके दोनों स्तन किसके हृदय में विस्मय नहीं उत्पन्न कर रहे थे?'

यहाँ पर श्रृंगार का व्यभिचारी विस्मय नाम का भाव है और विरोधालंकार भी साक्षात् प्रतिभासित होता है। अतः विरोध की छाया को अनुगृहीत करनेवाले श्लेष का यह विषय है, अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य-ध्वनि का नहीं।

तारावती

ऐसे प्रकरण में जहां व्यञ्जना वृत्ति मानी है वहां उनका अभिप्राय दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना मानने में नहीं है अपितु दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव को स्थापित करने के लिये व्यञ्जना व्यापार की अपरिहार्यता बतलाई गई है।

उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि आलङ्कारिकों के दो पक्ष हैं—एक पक्ष शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि को मानता ही नहीं जिसमें आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त प्रमुख हैं तथा अप्पय दीक्षित का भी झुकाव उसी ओर मालूम पड़ता है। दूसरी ओर हैं मम्मट, विश्वनाथ, पण्डित-राज जगन्नाथ इत्यादि। ये लोग केवल अलङ्कार-ध्वनि को ही शब्दशक्तिमूलक नहीं मानते अपितु वस्तु-ध्वनि को भी शब्दशक्तिमूलक मानते हैं। उपभेद कल्पना में इस बात पर ध्यान रखना होगा कि पाठकों के लिए चमत्कारविधान किस तत्त्व पर आधारित है। यदि चमत्कार विधान साम्य पर निर्भर है तो वह अलङ्कार-ध्वनि कही जावेगी यदि उसका आधार द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग है तो वह श्लेष अलङ्कार कहा जावेगा और यदि उसका आधार शब्द के बल पर निकलनेवाला दूसरा अर्थ है तो वह वस्तु-ध्वनि कहलावेगी। ऐसे स्थान देखे जाते हैं जहां शब्द के बल पर दूसरा अर्थ निकलता है और वक्ता को उस अर्थ को छिपाकर किसी अपने अन्तरङ्ग मित्र पर प्रकट करना ही अभीष्ट होता है। ऐसे स्थान पर वस्तुतः चमत्कार में मूल कारण वह छिपाकर कहा हुआ अर्थ ही होता है। वहां एक तो सादृश्य की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं जाता और यदि जाता भी है तो वह इतना उपेक्षणीय होता है कि उसके आधार पर पाठक के चमत्कार का पर्यवसान नहीं हो सकता। श्लिष्ट शब्दों के श्लेष की ओर यद्यपि पाठकों का ध्यान जाता है तथापि उसमें ही सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं हो जाती। सौन्दर्य की विश्रान्ति तब

लोचन

तस्या विनापीति। अपि शब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थद्वयेऽप्यभिधाशक्तिं नियच्छति हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ। हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति। अत एव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्बलकः। अपिशब्दाभावे तु न तत एवार्थद्वयस्याभिधा स्यात्, स्वसौन्दर्यादेव स्तनयोर्विस्मयहेतुत्वोपपत्तेः। विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्रायेणोपात्तम्। यथा विस्मयः शब्देन प्रतिभाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्यपीत्यनेन शब्देन।

तस्या विनापीति। यह अपिशब्द विरोध को कहते हुये दोनों अर्थों में अभिधाशक्ति को नियन्त्रित करता हैं—जो अवश्य हृदय को हरते हैं उन्हें हारी कहते हैं। जिनके हार विद्यमान हों उन्हें भी हारी कहते हैं। अतएव विस्मय शब्द इसी अर्थ के बोध में सहकारी है। अपि शब्द के अभाव में तो उन्ही - दो अर्थों की अभिधा होती। क्योंकि स्तनों की विस्मयहेतुता तो अपने सौन्दर्य से ही (सिद्ध हैं)। विस्मय नामक भाव यह दृष्टान्त के अभिप्राय से ग्रहण किया गया हैं। जिस प्रकार विस्मय इस शब्द से विस्मय प्रतीत होता है उसीप्रकार विरोध भी 'अपि' शब्द से प्रतीत होता हैं।

तारावती

होती है जब पाठक उसे छिपाकर कहे हुए अर्थ का परिशीलन करता है। यह क्षेत्र शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का ही है अतः उसका अपलाप नहीं हो सकता।

प्रस्तुत प्रकरण में यह बतलाया गया है कि द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग में जहां किसी दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो वहां वह अलङ्कार श्लेषमूलक ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। जहां अलंकार साक्षात् वाच्य हो वहां वह श्लेष मूलक कहा जाता है और जहां व्यङ्ग्य हो वहां शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। पहले श्लेषमूलक साक्षात् वाच्य अलङ्कारान्तर का उदाहरण लीजिये। 'उसके दोनों पयोधर जो हार न होते हुये भी स्वभावतः हारी हैं किसके हृदय में विस्मय नहीं उत्पन्न कर रहे थे ?' विस्मय उत्पन्न करने का कारण यह है कि हाररहित होते हुये भी हारी (हारवाले) हैं। 'हाररहित होते हुये भी' इस वाक्य का 'भी शब्द' विरोध का अभिधान करते हुये 'हारी' शब्द के दोनों अर्थों में अभिधा को नियन्त्रित कर देता है। 'हारी' शब्द के दो अर्थ हैं 'जो हृदय को अवश्य हरे' और 'जिनके पास हार विद्यमान है।' दूसरा अर्थ करने से विरोध की प्रतीति होती है और उस प्रतीयमान विरोध को 'अपि' शब्द वाच्य बना देता है। बिस्मय भी उत्पन्न होने का कारण यही है कि पयोधर हाररहित होते हुये भी हारी हैं। अतः विस्मय शब्द भी इसी अर्थ का सहकारी तथा पोषक है। यदि यहां पर 'अपि' शब्द का प्रयोग न किया गया होता तो दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती थी। यदि केवल यही कहा जाता कि 'उसके पयोधर हाररहित हैं, स्वभावतः हारी हैं और किसके हृदय में विस्मय नहीं पैदा करते।' तो विस्मय का अर्थ यही होता कि उसके स्तन

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव । यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

(अनु०) वाच्य श्लेष अथवा विरोध के द्वारा व्यञ्जित अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का तो यह विषय (क्षेत्र) है ही । जैसे मेरा ही पद्य—

सुदर्शन-कर, चरणारविन्द के त्रिभुवनाक्रमण-क्रीडन में लोकों को आक्रान्त करनेवाले, चन्द्रात्मक नेत्र धारण करनेवाले भगवान् कृष्ण ने समस्त श्लाघनीय शरीरवाली सभी अंगों की लीला से तीनों लोकों को जीतनेवाली, चन्द्र के समान सम्पूर्ण मुख को धारण करनेवाली जिन रुक्मिणी को उचित ही अपने शरीर से अधिक समझा, वे रुक्मिणी आपलोगों की रक्षा करें ।

लोचन

ननु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्तीत्याशङ्क्याह—अलक्ष्येति । विरोधेन वेति । वाग्रहणेन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, अनुग्रहयोगादेकतरत्यागग्रहणनिमित्ताभावो हि वाशब्देन सूच्यते । सुदर्शनं चक्रं करे यस्य । व्यतिरेकपक्षे सुदर्शनौ श्लाघ्यौ करावेव यस्य । चरणारविन्दस्य ललितं त्रिभुवनाक्रमणक्रीडनम् । चन्द्ररूपं चक्षुर्धारयन् ।

(प्रश्न) क्या यहाँ सर्वथा ध्वनि नहीं है ? यह शंका करके (उत्तर) देते हैं—अलक्ष्येति । विरोधेन वेति । वा ग्रहण से यह श्लेष और विरोध का संकरालंकार है यह दिखलाते हैं । अनुग्रह (अनुग्राह्यानुग्राहक भाव) के योग से एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा' शब्द से सूचित होता है । सुदर्शनचक्र है जिसके हाथ में । व्यतिरेक पक्ष में सुन्दर दर्शनवाले अर्थात् श्लाघ्य हैं हाथ ही जिसके । चरणारविन्द का ललित अर्थात् त्रिभुवन के आक्रमण की क्रीडा । चन्द्ररूप नेत्रों को धारण करते हुये ।

तारावती

अपने सौन्दर्य के कारण ही विस्मय में डालनेवाले हैं । अतएव अभिधा वृत्ति से यहां पर विरोध की प्रतीति नहीं होती ।

वृत्तिकार ने लिखा है कि—'यहां पर श्रृङ्गार रस का व्यभिचारी विस्मय नामक भाव और विरोधालङ्कार ये दोनों साक्षात् प्रतिभासित होते हैं ।' यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि प्रकरण तो श्लेषालङ्कार और शब्दशक्तिमूलक अलंकार-ध्वनि के विषय-विभाजन का चल रहा है फिर बीच में श्रृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव की वाच्यता का उल्लेख क्यों कर दिया गया ।

तारावती

इसका उत्तर यह है कि विस्मय नामक व्यभिचारी भाव का कथन दृष्टान्त के अभिप्राय से किया गया है। जिस प्रकार विस्मय शब्द का प्रयोग कर देने से श्रृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव विस्मय की प्रतीति अभिधा-वृत्ति से ही होती है उसी प्रकार 'भी' शब्द का प्रयोग कर देने से विरोधाभास की प्रतीति भी साक्षात अभिधा वृत्ति से ही हो जाती है। अतः यह विषय श्लेष का ही है जो विरोधालङ्कार की छाया का परिपोष करता है। यह विषय शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप अलंकार-ध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि यहां पर विरोधाभास अलंकार वाच्य है।

किन्तु उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि जहां वाच्यालंकार होता है वहां किसी प्रकार की ध्वनि होती ही नहीं। 'वाच्य श्लेष अथवा विरोध के द्वारा व्यक्त की हुई असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि का तो यह क्षेत्र है ही' वृत्तिकार के इस वाक्य में 'अथवा विरोध के द्वारा' अथवा शब्द का अर्थ यह है कि आप उसे चाहे श्लेष कहें अथवा विरोध। ये दोनों मिलकर एक ही अलंकार बनाते हैं अर्थात् यहां पर श्लेष और विरोध का संकर बन जाता है। श्लेष और विरोध में अनुग्राह्यानुग्राहक भाव विद्यमान है, अतः एक के त्याग का कोई निमित्त यहां पर विद्यमान नहीं है। यही बात 'वा' शब्द से व्यक्त होती है। दूसरे अलंकार से संपृक्त वाच्य श्लेष का दूसरा उदाहरण आनन्दवर्धन का बनाया हुआ अपना ही पद्य है। इस पद्य में व्यतिरेक की छाया को अनुगृहीत करनेवाला श्लेष वाच्य के रूप में ही प्रतीत होता है। पद्य का अर्थ यह है—'भगवान् कृष्ण सुदर्शन-कर हैं अर्थात् उनके हाथों में सुदर्शनचक्र है और रुक्मिणी का सारा शरीर प्रशंसनीय है।' व्यतिरेक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि भगवान् के कर ही केवल सुन्दर दर्शनीय हैं जब कि रुक्मिणी का सारा शरीर प्रशंसनीय है। भगवान् ने चरणारविन्द की ललितगति अर्थात् त्रिभुवन के अतिक्रमण की क्रीड़ा के द्वारा लोकों को आक्रान्त किया, किन्तु रुक्मिणी ने अपने सब अङ्गों की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया, भगवान् केवल चन्द्ररूपी नेत्रों को ही धारण करते हैं जब कि रुक्मिणी का पूरा मुख चन्द्रमा के समान है। इस प्रकार यह बात उचित ही थी कि भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर से अधिक समझा। वे रुक्मिणी आप सब लोगों की रक्षा करें।

यहां पर व्यतिरेकालंकार है। रुक्मिणी कृष्ण से अधिक हैं क्योंकि रुक्मिणी का सारा शरीर सुन्दर है किन्तु भगवान् के केवल हाथ ही सुन्दर हैं। (वे सुदर्शन-कर है।) भगवान् ने केवल पैरों से ही लोकों को आक्रान्त किया किन्तु रुक्मिणी जी ने सारे शरीर की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया। भगवान् के केवल नेत्र ही चन्द्रात्मक हैं। किन्तु रुक्मिणी का मुख चन्द्र है। किन्तु यह व्यतिरेकालंकार वाच्य है क्योंकि कवि ने स्वयं कह दिया है कि 'भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर की अपेक्षा अधिक समझा। इस व्यतिरेक को अनुगृहीत करनेवाला 'सुदर्शनकर' इत्यादि शब्दों में श्लेष उसका पोषक है। इस प्रकार व्यतिरेक का पोषक श्लेष ही

ध्वन्यालोकः

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते। यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

(अनु०) यहाँ पर व्यतिरेक की छाया को अनुगृहीत करनेवाला श्लेष वाच्यरूप में ही प्रतीत होता है। एक और उदाहरण—

'मेघरूपी सर्प से उत्पन्न हुआ विष (१–जल २–गरल) वियोगिनियों के लिये बल-पूर्वक, भ्रमि, अरति, हृदय में आलसीपन, प्रलय (चेष्टाशून्य होना), मूर्च्छा, अंधेरा (छा जाना), शरीर की शिथिलता और मरण, ये बातें उत्पन्न कर रहा है।

लोचन

वाच्यतयैवेति। स्वतनोरधिकामिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात्। भुजगशब्दार्थ-पर्यालोचनाबलादेव विषशब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहेत, अपितु द्वितीयमर्थं हालाहललक्षणमाह। तदभिधानेन विनाभिधाया एवासमाप्तत्वात्। भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः।

वाच्यतया एवेति। क्योंकि अपने शरीर से अधिक, इन शब्दों के द्वारा व्यतिरेक कहा गया है। भुजंग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही विष शब्द जल को कहकर भी विरत होना नहीं चाहता अपितु हालाहल लक्षणवाले दूसरे अर्थ को कहता है। क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा ही असमाप्त रह जाती है। भ्रमि से लेकर मरण पर्यन्त (शब्दों) का साधारण ही अर्थ है।

तारावती

यहां पर माना जावेगा, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं। (हां रुक्मिणीविषयक कविगत रति (भक्ति-भाव) तो ध्वनि है ही।)

अन्य उदाहरण—

'मेघरूपी सर्प से उत्पन्न हुआ विष (जल) वियोगिनी स्त्रियों के लिये बल पूर्वक भ्रमि (मस्तक का चक्कर), अरति (संसार से विरक्ति) हृदय में आलस्य, प्रलय (चेष्टाशून्यत्व) मूर्छा, नेत्रों के सामने अन्धकार शारीरिक कष्ट और मरण ये बातें उत्पन्न कर रहा हैं।'

विष के दो अर्थ है जल और गरल। यद्यपि प्राकरणिक होने के कारण विष शब्द जल का प्रत्यायन करा देता है तथा जब हम भुजग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना करते हैं तब उसी कारण विष शब्द जल की बोधकता तक ही रुकने का साहस नहीं करता। अपितु हालाहलरूप द्वितीय अर्थ का प्रत्यायन कर देता है। कारण यह है कि जब तक हालाहल का अभिधान नहीं किया जावेगा तब तक अभिधा की विश्रान्ति नहीं होगी। 'भ्रमि' से लेकर 'मरण' पर्यन्त चेष्टाओं का साधारण ही अर्थ है। जिस प्रकार ये चेष्टायें सर्प के काटने में विष के सञ्चार के कारण हो जाती

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स।
अखण्डिअदाणपसारा वाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा॥
(खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः॥ इति छाया)
अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते।

(अनु०) अथवा एक और उदाहरण—

(राजा के महत्त्व का क्या कहना ?) जिसके बाहुपरिघ गजेन्द्रों के समान हैं जिन्होंने खण्डित किये हुये शत्रुओं के मनरूपी सोने के कमलों के यशरूपी परिमल को मथ डाला और जिनके दान का प्रसार खण्डित नहीं होता।'

यहाँ रूपक-छायानुग्राही श्लेष वाच्य के रूप में ही अवभासित होता है।

लोचन

निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि शत्रुहृदयानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि। ससारत्वात्तैर्हेतुभूतैः। णिम्महिअपरिमला इति। प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा बाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति। गजेन्द्रशब्दवशाच्चमहिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्दश्च त्रोटनसौरभमदलक्षणानर्थान् प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्ताभिधाव्यापारा भवन्तीत्युक्तरूपं द्वितीयमप्यर्थमभिदधात्येव।

निराश किये जाने के कारण खण्डित कर दिये गये हैं जो मानस अर्थात् शत्रु हृदय वही हैं स्वर्ण कमल। ससार होने के कारण हेतुभूत उनके द्वारा। 'णिम्महिअपरिमला' इति। जिनके प्रताप का सार फैल गया है जिनका वितरण का प्रसार खण्डित नहीं होता इस प्रकार की बाहु-परिघायें ही जिसके गजेन्द्र हैं। गजेन्द्र शब्द के कारण चमहिअ शब्द; परिमल शब्द और दान शब्द, तोड़ना, सुगन्धि और मद इन अर्थों को प्राप्त होकर भी परिसमाप्त अभिधा व्यापारवाले नहीं होते हैं। इस प्रकार उक्त रूपवाले द्वितीय अर्थ को भी कहते ही हैं।

तारावती

है उसी प्रकार मेघों का जल उद्दीपन होने के कारण वियोगिनियों के अन्दर भ्रमि इत्यादि विकार उत्पन्न करता है। (यहां पर मेघरूपी सर्प में रूपक अलंकार है। यही रूपक इस बात के लिये विवश कर देता है कि विष शब्द के दोनों अर्थ लिये जावें। क्योंकि जब तक गरल रूप अर्थ नहीं लिया जाता तब तक सर्प के वाच्यार्थ की पूर्ति ही नहीं होती। अतः यहां पर रूपकानुग्राही श्लेष ही माना जायेगा, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं।

एक अन्य उदाहरण—

'जिन महाराज के गजेन्द्र उनकी बाहु-परिघाओं के समान हैं जिन्होंने शत्रुओं के मनरूपी सोने के कमलों की परिमल को मथ डाला है और जिनके दान का प्रसार खण्डित नहीं होता।

ध्वन्यालोकः

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कार व्यवहार एव।

(अनु०) उस आक्षिप्त अलंकार के स्वरूप को जहाँ पर दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित कर दिया जावे वहाँ पर शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। वहाँ पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार का ही व्यवहार होता है।

लोचन

एवमाक्षिप्तशब्दस्य व्यवच्छेद्यं प्रदर्श्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमाह—सचेति। उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति, यथा 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति। यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा-'तस्या विना' इत्यादौ, 'चमहिअ' इत्यन्ते। तत्र तावत्सोऽर्थोऽभिधेय एवेति स्फुटमदः। यत्राप्यभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा संक्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते, तत्रापि यदि पुनस्तादृक्छब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहतशक्तिकः सम्पाद्यते। अत एव साभिधा शक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेर्विषय इति तात्पर्यम्। चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्ततया झटिति सम्भावयितुमारब्धोऽपीत्यर्थः। न त्वसावाक्षिप्तः, किन्तु शब्दान्तरेणान्येनाभिधाया प्रतिप्रसवनादभिहितस्वरूपः सम्पन्नः। पुनर्ग्रहणेन प्रतिप्रसवं व्याख्यातं सूचयति। तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः।

इस प्रकार आक्षिप्त शब्द के व्यवच्छेद्य को दिखलाकर 'एवकार, के व्यवच्छेद्य को दिखलाने के लिये कहते हैं—'स च' इति। दोनों अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ' शब्द के प्रयोग में जहाँ पर अभिधा के दो में एक विषय के नियमन का कारण नहीं हैं जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि। अथवा जहाँ द्वितीय अभिधाव्यापार की सत्ता को बतलानेवाला प्रमाण है जैसे 'तस्या विनापि' इत्यादि से 'चमहिअ' यहाँ तक। वहाँ पर वह अर्थ सर्वथा अभिधेय ही होता है यह स्पष्ट है। और जहाँ पर एक अर्थ में अभिधा के नियम का हेतु प्रकरण इत्यादि विद्यमान है उससे द्वितीय अर्थ में अभिधा संक्रान्त नहीं होती। वहाँ पर यह द्वितीय अर्थ आक्षिप्त कहा जाता है। उसमें भी यदि पुनः ऐसा शब्द विद्यमान हैं जिससे यह नियामक प्रकरण इत्यादि अपहतशक्तिवाला हो जावे अतएव वह अभिधा शक्ति बाधित होते हुये भी पुनः प्रसूत सी हो जाती है यहाँ पर भी ध्वनि का विषय नहीं है यह तात्पर्य है। 'च' शब्द 'अपि' शब्द के अर्थमें भिन्नक्रम हैं। आक्षिप्त भी अर्थात् आक्षिप्त के रूप में शीघ्र ही सम्भावना के लिये आरम्भ किया हुआ भी। वह आक्षिप्त नहीं है किन्तु दूसरे शब्द विशेष के द्वारा अभिधा के पुनः जीवित हो जाने से अभिहित स्वरूपवाला हो गया। पुनः ग्रहण से व्याख्या किये हुये प्रतिप्रसव को सूचित करता हैं। इससे 'एव' का प्रयोग आक्षिप्ताभास का निराकरण करता है यह अर्थ है।

तारावती

शत्रुओं के मन निराश कर दिये जाने के कारण खण्डित कर दिये गये हैं और कमल हाथियों ने तोड़ डाले हैं। राजा के हाथों के वितरण का प्रसार नहीं रुकता और हाथियों के मद की धारा का प्रसार नहीं रुकता।

यहां पर खण्डित, परिमल और दान इन शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—(अ) खण्डित—(१) निराश किये हुये और (२) तोड़े हुये। (अ) परिमल—(१) यश और (२) सुगन्धि तथा (इ) दान—(१) वितरण (२) मद। इस प्रकार इस पूरे वाक्य का यह अर्थ हो जाता है—राजा की बाहु-परिघायें उसी प्रकार शत्रुओं को विजय के लिये निराश करके उनके यश को मथ डालती हैं जिस प्रकार उनके हाथी सोने के कमलों की सुगन्धि को मथ डालते हैं, जिस प्रकार हाथियों का मद का प्रवाह कभी प्रतिहत नहीं होता उसी प्रकार बाहुओं का वितरण करने का विस्तार कहीं प्रतिहत नहीं होता।

यहां पर श्लेष ही रूपकच्छायानुग्राही है और उसकी प्रतीति वाच्य रूप में ही होती है। कारण यह है कि गजेन्द्र शब्द का प्रयोग प्रस्तुत वाक्य में ही कर दिया गया है। अतः जब तक दोनों अर्थ नहीं निकल आते तब तक अभिधा का व्यापार शान्त ही नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से लक्षण में आये हुये 'आक्षिप्त' का आशय व्यक्त हो जाता है कि उसके कौन से स्थान ध्वनि की सीमा में नहीं आते। अब वृत्तिकार कारिकागत 'एवकार' के द्वारा कौन कौन से स्थान ध्वनि की सीमा से बाह्य हो जाते हैं उनको दिखलाने के लिये अग्रिम प्रकरण का प्रारम्भ कर रहा हैं—'आक्षिप्त अलंकार ही' में 'ही' (एव) शब्द का आशय यह है कि जहां पर अलंकार आक्षिप्त तो हो किन्तु उसका स्वरूप दूसरे शब्द या शब्दों से अभिहित कर दिया जावे वहां पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। वहां पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालंकार का ही प्रयोग होता हैं। इस प्रकरण का आशय यह है—जहां पर किसी ऐसे शब्द का प्रयोग हो जिसके दो अर्थ निकल सकें और वहां पर कोई कारण उपस्थित न हो जिससे एक अर्थ में अभिधा का नियमन किया जा सके जैसा कि 'येन ध्वस्त……' इत्यादि पद्य के उदाहरण में दिखलाया जा चुका है अथवा वहां पर किसी कारण से एक अर्थ का नियमन तो हो रहा हो किन्तु कोई ऐसा भी प्रमाण उपस्थित हो जिसके कारण दूसरा अर्थ भी उसी अभिधा वृत्ति की सीमा में ही सन्निविष्ट हो जावे जैसा कि 'उसके दोनों पयोधर;……कर रहे थे' से लेकर 'जिन महाराज…………नही होता' तक दिखलाया जा चुका है, ये समस्त स्थान वाच्यश्लेष की सीमा में आते हैं। यह बात स्पष्ट ही है कि वे सब स्थान वाच्यार्थ ही कहे जावेंगे। इसके अतिरिक्त जहाँ पर प्रकरण इत्यादि के कारण एक अर्थ में अभिधा का नियमन हो जावे और इसी कारण द्वितीय अर्थ में अभिधा प्रसार न पा सके वहां पर जो दूसरा अर्थ प्रतीतिगोचर होने लगता है वह आक्षिप्त अलङ्कार कहा जाता है। वहां पर भी यदि कोई ऐसा शब्द प्राप्त हो जावे जिससे नियामक प्रकरण इत्यादि की शक्ति ही उपहत हो रही हो तथा इसी कारण दूसरे अर्थ में बाधित

ध्वन्यालोकः

यथा—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किंनाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्टे हरिर्वश्चिरम्॥

(अनु०) जैसे—

हे केशव ! गोधूलि से नष्ट की हुई दृष्टि से मैंने कुछ नहीं देख पाया; इसीलिये मैं गिर गई हूँ; मुझ गिरी हुई को तुम सहारा क्यों नहीं देते ? विषम स्थानों में खिन्नमनवाले समस्त निर्बलों की शरण तुम्हीं हो। इस प्रकार गोष्ठ में गोपी के द्वारा विशेष अभिप्राय से कहे हुये भगवान् आप लोगों की बहुत समय तक रक्षा करें।

दूसरा अर्थ—

'हे केशव ! हे गोप ! प्रेम से आकृष्ट की हुई दृष्टि के कारण मुझे उचित-अनुचित का कुछ ज्ञान नहीं रहा; इसीलिये मैं खण्डित-चरित्रवाली बन गई हूँ। क्या कारण है कि तुम मेरे पतित्व का आश्रय नहीं लेते हो अर्थात् मेरे पति नहीं बन जाते हो ? एक-मात्र तुम्हीं विषमवाण कामदेव के द्वारा खिन्न किये हुये मनवाली सब अबलाओं को शरण देते हो। इस प्रकार गोष्ठ में·········रक्षा करें।'

लोचन

हे केशव गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किञ्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलितास्मि मार्गे। तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन। यतस्त्वमेवै-कोऽतिशयेन बलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामबलानां बालवृद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गतिरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे यद्यप्येते प्रकरणेन नियन्त्रिताभिधाशक्तयस्तथापि द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धा सती सलेशमित्यनेन प्रत्युज्जीविता।

हे केशव ! गोधूलि से हरी हुई दृष्टि के द्वारा मैंने कुछ नहीं देख पाया, इस कारण से मार्ग में स्खलित हो गई हूँ। उस गिरी हुई मुझको क्या कारण है जो हाथ से सहारा नहीं देते हो ! क्योंकि तुम्हीं अकेले अत्यन्त बलवान् ऊँचे-नीचे स्थानों में सभी निर्बल बाल, वृद्ध, अङ्गना इत्यादि दुःखी मनवालों और चलने में असमर्थ लोगों की गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। इस प्रकार के अर्थ में यद्यपि ये प्रकरण द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले शब्द हैं तथापि द्वितीय अर्थ की व्याख्या किये जाने पर अभिधाशक्ति रोकी हुई होकर 'सलेश' शब्दसे प्रत्युज्जीवित हो गई।

लोचन

अत्र सलेशं ससूचनमित्यर्थः, अल्पीभवनं हि सूचनमेव। हे केशव! गोप स्वामिन्! रागहृतया दृष्ट्येति। केशवेन उपरागेण हृतया दृष्ट्येति वा सम्बन्धः। स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जातास्मि। पतितामिति भर्तृभावं मां प्रति। एक इत्यसाधारणसौभाग्यशाली त्वमेव। यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्ष्याकालुष्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गतिजीवितरक्षोपाय इत्यर्थः।

यहाँ सलेश का अर्थ है सूचना के सहित। अल्प होना निस्संदेह सूचना ही है। अथवा हे केशव! गोप स्वामिन्! राग से हरी हुई दृष्टि के द्वारा यह। केशव से उपराग के द्वारा हरी हुई दृष्टि से यह सम्बन्ध है। स्खलिता हूँ अर्थात् खण्डित चरित्रवाली हो गई हूँ। 'पतिता' अर्थात् मेरे प्रति पतिभाव को। एक अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो। क्योंकि सभी मदन बिधुरमनवाली अबलाओं के ईर्ष्या कालुष्य के निराकरण के द्वारा सेव्यमान होते हुये गति अर्थात् जीवनरक्षा का उपाय हो यह अर्थ है।

तारावती

हुई अभिधा शक्ति मानों पुनः प्रत्युज्जीवित हो जावे तो वहां पर भी ध्वनि का विषय नहीं होता। यही इस प्रकरण का तात्पर्य है। 'स च आक्षिप्तः अलङ्कारः' इस वृत्ति के वाक्य में 'च' शब्द का अर्थ है 'अपि' और इसकी योजना भिन्नक्रम से होती है अर्थात् 'च' शब्द का प्रयोग 'सः' के बाद हुआ है किन्तु उसका अन्वय 'आक्षिप्तः, के बाद होता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा 'आक्षिप्तः अपि' अर्थात् 'आक्षिप्त के रूप में जिस अलङ्कार की सम्भावना किया जाना प्रारम्भ हो गया हो।' आशय यह है कि वह अलङ्कार वस्तुतः आक्षिप्त नहीं होता किन्तु दूसरे शब्द से अभिधा का प्रत्युज्जीवन हो जाने के कारण उसका स्वरूप अभिहित (अभिधावृत्तिगम्य) हो जाता है। 'यत्र पुनः शब्दान्तरेण' में पुनः शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि वह अभिधाशक्ति उपहत होकर प्रत्युज्जीवित हो जाती है जैसी कि व्याख्या अभी की जा चुकी है। अतएव 'एव' शब्द के प्रयोग से जो कि आक्षिप्ताभास होने की सम्भावना थी उसका निराकरण हो गया। आशय यह है कि 'एवकार' का एक मन्तव्य यह भी हो सकता था कि केवल आक्षिप्त अलङ्कार ही ध्वनि का विषय होता है आक्षिप्ताभास नहीं। 'पुनः' शब्द के प्रयोग से इस व्याख्या का निराकरण हो गया और उसका अर्थ यह हो गया कि जहां पर कोई अलङ्कार आक्षिप्त होते हुये भी किसी अन्य शब्द के द्वारा अभिहित हो जावे वहां पर ध्वनि नहीं होती अपितु वाच्यश्लेष होता है।

जहाँ पर व्यङ्ग्य होकर भी अलंकार किसी दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित जैसा हो जाता है और अभिधा की शक्ति नियन्त्रित होकर भी प्रत्युज्जीवित हो जाती है उसका उदाहरण दिया जा रहा है—कोई गोपी किसी गोष्ठ (गायोंके बाड़े) में गिर गई है। वह भगवान् कृष्ण से उठाने की प्रार्थना करते हुये कह रही है—'हे केशव! गोधूलि से हरी हुई (नष्ट की हुई) दृष्टि के द्वारा मैने कुछ देख नहीं पाया; इसी कारण मैं गिर गई हूँ।

तारावती

उसी मुझ गिरी हुई को क्या कारण है कि तुम हाथ से सहारा नहीं दे रहे हो। क्योंकि तुम्हीं केवल अत्यन्त बलवान् हो जोकि विषम अर्थात् नीचे-ऊँचे प्रदेशों में सभी अबलों (दुर्बलों) अर्थात् दुःखी मनवाले बाल-वृद्ध स्त्री इत्यादि के लिये जोकि चलने में असमर्थ हैं, एकमात्र गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। ये शब्द जिन कृष्ण से अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये गोपी ने कहे वे भगवान् सर्वदा आपलोगों की रक्षा करें। यहाँ पर प्रकरण के द्वारा उक्त अर्थ में इन शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित कर दी गई है फिर भी कई शब्द द्वयर्थक आये हैं जिनके बलपर एक और अर्थ निकलता है किन्तु प्रकरण न होने के कारण जब द्वितीय अर्थ की व्याख्या की जाने लगती है तब वहां अभिधाशक्ति रुक जाती है। किन्तु इसके बाद जब 'सलेशम्' शब्द पर विचार किया जाता है तब वह अभिधाशक्ति पुनः प्रत्युज्जीवित हो जाती हैं। 'सलेशम्' का अर्थ है सूचना के साथ अर्थात् अपनी मनःकामना अभिव्यक्त करने के लिये। 'लेश' शब्द 'लिश' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बनता है 'लिश' धातु अल्पार्थक है, अतः 'लेश' शब्द का अर्थ हुआ स्वल्प या थोड़ा। थोड़ा कहने का अभिप्राय यही है कि उसने अपने मन्तव्य को पूर्णरूप से व्यक्त नहीं किया अपितु स्वल्प-मात्रा में उसे सूचित कर दिया। 'विशेष अभिप्राय को सूचित करने के लिये' इन शब्दों का ठीक अर्थ तभी बैठ सकता है जबकि उस विशेष अर्थ की भी व्याख्या कर दी जावे। अतएव प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित होकर पूर्वोक्त नायिका के गिर जाने का अर्थ एकमात्र अभिधावृत्ति के द्वारा अवगत हो रहा था और दूसरा प्रेम-प्रकाशनपरक अर्थ प्राकरणिक न होने के कारण आक्षेपगम्य ही था। किन्तु सलेश शब्द ने अभिधा को पुनः जीवित कर दिया और उसके अभिप्राय की व्याख्या के लिये यह अर्थ और निकलने लगा—(केशवगोप रागहृतया दृष्ट्या) हे केशव! हे गोप! राग (अनुराग) के द्वारा हरी हुई दृष्टि से अथवा केशवगत उपराग (प्रेमजन्य अवसाद) के कारण हरी हुई दृष्टि से कुछ नहीं देख पाया अर्थात् मैं प्रेमपाश में एकदम आबद्ध हो गई और कर्तव्याकर्तव्य का विचार भी न कर सकी। इसीलिये मैं स्खलित हो गई हूँ अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो गया है। (पतितां किं नाम न आलम्बसे) तुम मेरे पतित्व को क्यों ग्रहण नहीं कर रहे हो अर्थात् मेरे पति क्यों नहीं बन जाते। तुम ही एक हो अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो जो कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति इतना तीव्र राग जागृत हो गया है। तुम्हीं केवल अद्वितीय सौभाग्यशाली हो क्योंकि विषमेषु (विषमबाण) अर्थात् कामदेव से खिन्न मनवाली सभी अबलाओं के द्वारा तुम्हारा ही सेवन किया जाता है और आश्चर्य की बात है कि तुम उन युवतियों के हृदयों में ईर्ष्या कालुष्य का सञ्चार भी नहीं होने देते और उन सबका स्वच्छन्दता-पूर्वक उपभोग करते हो। तुम्हीं उनको शरण देनेवाले हो अर्थात् तुम उनकी जीवनरक्षा का एकमात्र उपाय हो। आशय यह है कि मैं तुम्हारे वियोग में मर रही हूँ, यदि तुम मेरे अनुराग को स्वीकार नहीं करोगे तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, मैं अबला हूं मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं, जब कि तुम सभी वियोग

तारावती

विधुर ललनाओं को मृत्यु के मुख से बचाते हो तब तुम मेरी ही उपेक्षा क्यों करते हो, तुम्हें मेरा भी प्रेम स्वीकार करना चाहिये। द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग होने के कारण यह अर्थ भी अभिधा वृत्तिगम्य ही है। किन्तु प्रकरण पहले अर्थ का है, अतः अभिधा दूसरे अर्थ को कहने में अशक्त हो जाती है। 'सलेशम्' शब्द का प्रयोग अभिधा की उसी अशक्ति को हटा देता है जिससे पुनः अभिधा जीवित होकर दूसरे अर्थ को प्रकट कर देती है। अतएव यहां पर वाच्यश्लेष ही है; शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्यङ्ग्य अलङ्कार को कभी-कभी कोई एक शब्द ही वाच्य बना देता है जिससे उसमें ध्वनिकाव्यत्व की योग्यता जाती रहती है। (यही बात रस इत्यादि के विषय में कही जा सकती है। रस तभी आस्वादयोग्यता को प्राप्त करता है जबकि उसकी अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव इत्यादि के द्वारा होती है। यदि विभावादि के माध्यम से रसाभिव्यक्ति हो रही हो किन्तु उसमें अभिव्यञ्जन के समकक्ष रस अथवा शृङ्गारादि शब्द का भी प्रयोग कर दिया जावे तो रस वाच्य होकर सदोष हो जाता है। इसीलिये आचार्यों ने स्वशब्दवाच्यता को रसदोषों में सन्निविष्ट किया है।)

[यहाँ तक उन स्थानों का विवेचन कर दिया गया जहाँ श्लेष अलङ्कार वाच्य होता है (किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि भट्टोद्भट का यह कहना ठीक है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का समस्त विषय श्लेष के द्वारा व्याप्त होता है अतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कहीं अवकाश ही नहीं) इसी मन्तव्य से यहाँपर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के क्षेत्र का विवेचन किया जा रहा है। (जहाँ पर द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर अभिधावृत्ति से ही दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। वहाँ पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इसके निर्णायक संयोग इत्यादि होते हैं जिनका परिगणन निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इनकी विस्तृत व्याख्या अनेकशः की गई है। वहीं देखनी चाहिये। जब वक्ता का तात्पर्य एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है तब दूसरे अर्थ में अभिधा प्रसार नहीं पा सकती। ऐसी दशा में दूसरा अर्थ व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ही निकलता है। उन वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों में सादृश्य इत्यादि सम्बन्ध भी व्यङ्ग्य ही होते हैं। ऐसे स्थानों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि दोनों अर्थ प्राकरणिक ही हों और संयोग इत्यादि के द्वारा किसी एक अर्थ में अभिधा शक्ति नियमित न हो रही हो तो दोनों अर्थ अभिधावृत्ति गम्य ही होते हैं। यह ध्वनि का विषय नहीं होता। शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि का विषय ऐसा ही स्थान होता है जहाँ श्लेष से दो या अधिक अर्थ निकलें, एक अर्थ में

तारावती

प्रकरणादि के द्वारा अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जावे, तब दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़े और वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थों के सम्बन्ध का निर्वाह भी व्यञ्जना के द्वारा ही हो। जहाँ किसी एक अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण न हो अथवा श्लेषमूलक दूसरा अलङ्कार वाच्य ही हो या दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होकर भी किसी विशिष्ट शब्द के कारण वाच्य होने के लिये बाध्य हो जावे वहाँ पर वाच्यश्लेष ही होता है शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं।

श्लेष का दूसरे अलंकारों से क्या सम्बन्ध है और श्लेष स्वतन्त्र अलंकार हो सकता है या नहीं इस विषय में विश्वनाथ ने अच्छा प्रकाश डाला है। अतः साहित्यदर्पण के उक्त प्रकरण का आशय दे-देना अप्रासङ्गिक न होगा—साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—'श्लेष के विषय में कुछ लोगों का मत है कि इस अलङ्कार का ऐसा कोई पृथग्भूत विषय नहीं होता जहाँ किसी दूसरे अलंकार का अवसर न हो। इस प्रकार श्लेष निरवकाश होकर दूसरे अलंकारों का अपवाद हो जाता है। अतएव अलंकारों का बाध करके ही इसकी प्रवृत्ति होती है और यह अलंकार दूसरे अलंकारों की प्रतिभा को उत्पन्न करने में कारण हो जाता है। आशय यह है कि दूसरे अलंकारों की छाया के विना श्लेष सम्भव नहीं है यह कुछ लोगों का मत है।

'इस विषय में यहाँपर विचार करना है कि जहाँ पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहाँ पर कुछ तो ऐसे स्थल होते हैं जिनमें द्वितीय अर्थ का संकेतमात्र मिलता है उसका अभिधान नहीं किया जाता। ऐसे स्थानोंपर समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त इत्यादि अलंकार होते हैं। ऐसे अलंकारों में श्लेष की गन्ध भी नहीं होती क्योंकि इनमें द्वितीय अर्थ अभिधेय होता ही नहीं।

'दूसरे स्थल ऐसे होते हैं जहाँ वस्तुतः द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग रहता है। यदि वहाँ पर श्लेषमूलक रूपक हो तो रूपक श्लेष का बाधक हो जाता है क्योंकि वहाँ पर सौन्दर्य का पर्यवसान आरोप में ही होता है द्व्यर्थकता में नहीं। यदि वहाँ पर विरोधाभास या पुनरुक्तवदाभास हो तो विरोध सूचक अर्थ की सूचना ही मिलती है वह अर्थ द्वितीय अर्थ के समकक्ष नहीं होता। अतः वहाँ पर श्लेष नहीं हो सकता। ये तो वे स्थान हुये जहाँ श्लेष न होकर कोई दूसरा ही अलंकार होता है।

'इनके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे होते हैं जहाँ द्व्यर्थक शब्दों के बलपर कुछ तो प्राकरणिक अर्थों का एक धर्म में सम्बन्ध हो (जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि में विष्णु और शङ्कर का) अथवा दो अप्राकरणिक अर्थों का एकधर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। यदि एक प्राकरणिक और दूसरे अप्राकरणिक अर्थ का एकधर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर दीपक होता है। यदि अप्राकरणिक अर्थ प्राकरणिक से सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करे तो उपमा होती है। इस प्रकार श्लेष का ऐसा कोई स्थान ही शेष नही रह जाता जहां ये अलंकार न हो सकें। इसके प्रतिकूल इन अलंकारों के ऐसे स्थान मिल सकते हैं जहाँ श्लेष न

तारावती

हो। इस प्रकार ऐसे स्थानों पर विभिन्न अलंकार मानने पर श्लेष अलंकार का सर्वथा अभाव ही हो जावेगा। किन्तु श्लेष मानने पर अलंकारों को दूसरे स्थान मिल जावेंगे और उन अलंकारों का विषयापहार नहीं होगा। अतएव श्लेष की सत्ता बनाये रखने के लिये ऐसे स्थानों पर श्लेष ही मानना चाहिये अन्य अलंकार नही। (यह है कुछ लोगों की मान्यता।)

इस विषय में विश्वनाथ का कहना है कि—'यह बात ठीक नहीं हैं कि श्लेष का दूसरे अलंकारों से पृथग्भूत स्वतन्त्र कोई विषय हो नहीं रह जाता। 'येन ध्वस्तमनोभवेन……' इत्यादि स्थल श्लेष का स्वतन्त्र विषय है। दूसरे लोग यहाँपर तुल्ययोगिता बतलाते हैं। किन्तु तुल्ययोगिता में यह नियम नहीं होता कि उसमें दोनों अर्थ वाच्य ही हों जब कि श्लेष मे दोनों अर्थों के वाच्य होने का नियम है। दूसरा भेद यह होता है कि तुल्ययोगिता में एक धर्म का अनेक धर्मियों से सम्बन्ध होता है किन्तु श्लेष में धर्म भी भिन्न होते हैं और धर्मी भी। श्लेष में विभिन्न धर्मियों का विभिन्न धर्मों से सम्बन्ध होता है।

'यह जो कहा गया था कि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान बन गया।' यहाँ पर श्लेष उपमा की प्रतिभा के उत्पादन में हेतु होता है, यहां पर श्लेष ही प्रधान हैं, उपमा की प्रतिभा के कारण उसमें सौन्दर्य का आधान हो जाता है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्णोपमा का कोई विषय ही नहीं मिलेगा। यदि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान हो गया।' इस वाक्य में 'कला' शब्द का शब्दश्लेष उपमा का प्रयोजक होगा। इस प्रकार धर्म के प्रत्यायन में कहीं शब्द-श्लेष आ जावेगा और कहीं अर्थ श्लेष। अतएव पूर्णोपमा का विषय ही जाता रहेगा। अतः ऐसे स्थानों पर पूर्णोपमा ही मानी जानी चाहिये श्लेष नहीं। रुद्रट ने शब्दसाम्य को उपमा का प्रयोजक माना ही है। कुछ लोग कहते हैं कि गुण और क्रिया का साम्य वास्तविक होता है, अतः उनका साम्य हो उपमा का प्रयोजक होता है और उनके साम्य में ही उपमा अङ्गीकार की जानी चाहिये शब्दसाम्य में नहीं क्योंकि वहाँ पर सादृश्य अवास्तविक होता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उपमा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह वास्तविक साम्य में ही होती है! अवास्तविक शब्दसाम्य में भी उपमा रूपक इत्यादि अलंकार माने हो जाते हैं और यह कहना ही कि उपमा का बाध कर श्लेष हो जाता है यह सिद्ध करता है कि शब्दसाम्य में उपमा होती है। ऐसे स्थान पर उपमा ही मानी जानी चाहिये इसमें एक प्रमाण यह भी है कि श्लेष सादृश्य के निर्वाह में सहायक होता है, सादृश्य श्लेष के निर्वाह में सहायक नहीं होता। अतएव सिद्ध हो जाता है कि सादृश्य-मूलक उपमा अङ्गी है और श्लेष उसका अङ्ग। 'शब्द-मूलक और अर्थ-मूलक अलंकारों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर नही होता' यह नियम भी उन्हीं-उन्हीं शब्दालङ्कारों के विषय में लागू होता है जिनमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—(१) जहाँ पर द्वितीय अर्थ की ओर सङ्केतमात्र होता है

तारावती

उसी मुझ गिरी हुई को क्या कारण है कि तुम हाथ से सहारा नहीं दे रहे हो। क्योंकि तुम्हीं केवल अत्यन्त बलवान् हो जोकि विषम अर्थात् नीचे-ऊँचे प्रदेशों में सभी अबलों (दुर्बलों) अर्थात् दुःखी मनवाले बाल-वृद्ध स्त्री इत्यादि के लिये जोकि चलने में असमर्थ हैं, एकमात्र गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। ये शब्द जिन कृष्ण से अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये गोपी ने कहे वे भगवान् सर्वदा आपलोगों की रक्षा करें। यहाँ पर प्रकरण के द्वारा उक्त अर्थ में इन शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित कर दी गई है फिर भी कई शब्द द्व्यर्थक आये हैं जिनके बलपर एक और अर्थ निकलता है किन्तु प्रकरण न होने के कारण जब द्वितीय अर्थ की व्याख्या की जाने लगती है तब वहां अभिधाशक्ति रुक जाती है। किन्तु इसके बाद जब 'सलेशम्' शब्द पर विचार किया जाता है तब वह अभिधाशक्ति पुनः प्रत्युज्जीवित हो जाती है। 'सलेशम्' का अर्थ है सूचना के साथ अर्थात् अपनी मनःकामना अभिव्यक्त करने के लिये। 'लेश' शब्द 'लिश' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बनता है 'लिश' धातु अल्पार्थक है, अतः 'लेश' शब्द का अर्थ हुआ स्वल्प या थोड़ा। थोड़ा कहने का अभिप्राय यही है कि उसने अपने मन्तव्य को पूर्णरूप से व्यक्त नहीं किया अपितु स्वल्प-मात्रा में उसे सूचित कर दिया। 'विशेष अभिप्राय को सूचित करने के लिये' इन शब्दों का ठीक अर्थ तभी बैठ सकता है जबकि उस विशेष अर्थ की भी व्याख्या कर दी जावे। अतएव प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित होकर पूर्वोक्त नायिका के गिर जाने का अर्थ एकमात्र अभिधावृत्ति के द्वारा अवगत हो रहा था और दूसरा प्रेम-प्रकाशनपरक अर्थ प्राकरणिक न होने के कारण आक्षेपगम्य ही था। किन्तु सलेश शब्द ने अभिधा को पुनः जीवित कर दिया और उसके अभिप्राय की व्याख्या के लिये यह अर्थ और निकलने लगा—(केशवगोप रागहृतया दृष्ट्या) हे केशव! हे गोप! राग (अनुराग) के द्वारा हरी हुई दृष्टि से अथवा केशवगत उपराग (प्रेमजन्य अवसाद) के कारण हरी हुई दृष्टि से कुछ नहीं देख पाया अर्थात् मैं प्रेमपाश में एकदम आबद्ध हो गई और कर्तव्याकर्तव्य का विचार भी न कर सकी। इसीलिये मैं स्खलित हो गई हूँ अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो गया है। (पतितां किं नाम न आलम्बसे) तुम मेरे पतित्व को क्यों ग्रहण नहीं कर रहे हो अर्थात् मेरे पति क्यों नहीं बन जाते। तुम ही एक हो अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो जो कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति इतना तीव्र राग जागृत हो गया है। तुम्ही केवल अद्वितीय सौभाग्यशाली हो क्योंकि विषमेषु (विषमवाण) अर्थात् कामदेव से खिन्न मनवाली सभी अबलाओं के द्वारा तुम्हारा ही सेवन किया जाता है और आश्चर्य की बात है कि तुम उन युवतियों के हृदयों मे ईर्ष्या कालुष्य का सञ्चार भी नहीं होने देते और उन सबका स्वच्छन्दता-पूर्वक उपभोग करते हो। तुम्हीं उनको शरण देनेवाले हो अर्थात् तुम उनकी जीवनरक्षा का एकमात्र उपाय हो। आशय यह है कि मैं तुम्हारे वियोग में मर रही हूँ, यदि तुम मेरे अनुराग को स्वीकार नहीं करोगे तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, मैं अबला हूं मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं, जब कि तुम सभी वियोग

तारावती

विधुर ललनाओं को मृत्यु के मुख से बचाते हो तब तुम मेरी ही उपेक्षा क्यों करते हो, तुम्हें मेरा भी प्रेम स्वीकार करना चाहिये। द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग होने के कारण यह अर्थ भी अभिधा वृत्तिगम्य ही है। किन्तु प्रकरण पहले अर्थ का है, अतः अभिधा दूसरे अर्थ को कहने में अशक्त हो जाती है। 'सलेशम्' शब्द का प्रयोग अभिधा की उसीं अशक्ति को हटा देता है जिससे पुनः अभिधा जीवित होकर दूसरे अर्थ को प्रकट कर देती है। अतएव यहां पर वाच्यश्लेष ही है; शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्यङ्ग्य अलङ्कार को कभी-कभी कोई एक शब्द ही वाच्य बना देता है जिससे उसमें ध्वनिकाव्यत्व की योग्यता जाती रहती है। (यही बात रस इत्यादि के विषय में कही जा सकती है। रस तभी आस्वादयोग्यता को प्राप्त करता है जबकि उसकी अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव इत्यादि के द्वारा होती है। यदि विभावादि के माध्यम से रसाभिव्यक्ति हो रही हो किन्तु उसमें अभिव्यञ्जन के समकक्ष रस अथवा श्रृङ्गारादि शब्द का भी प्रयोग कर दिया जावे तो रस वाच्य होकर सदोष हो जाता है। इसीलिये आचार्यों ने स्वशब्दवाच्यता को रसदोषों में सन्निविष्ट किया है।)

[यहाँ तक उन स्थानों का विवेचन कर दिया गया जहाँ श्लेष अलङ्कार वाच्य होता है (किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि भट्टोद्भट का यह कहना ठीक है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का समस्त विषय श्लेष के द्वारा व्याप्त होता है अतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कहीं अवकाश ही नहीं) इसी मन्तव्य से यहाँपर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के क्षेत्र का विवेचन किया जा रहा है। (जहाँ पर द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर अभिधावृत्ति से ही दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। वहाँ पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इसके निर्णायक संयोग इत्यादि होते हैं जिनका परिगणन निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इनकी विस्तृत व्याख्या अनेकशः की गई है। वहीं देखनी चाहिये। जब वक्ता का तात्पर्य एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है तब दूसरे अर्थ में अभिधा प्रसार नहीं पा सकती। ऐसी दशा में दूसरा अर्थ व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ही निकलता है। उन वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों में सादृश्य इत्यादि सम्बन्ध भी व्यङ्ग्य ही होते हैं। ऐसे स्थानों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि दोनों अर्थ प्राकरणिक ही हों और संयोग इत्यादि के द्वारा किसी एक अर्थ में अभिधा शक्ति नियमित न हो रही हो तो दोनों अर्थ अभिधावृत्ति गम्य ही होते हैं। यह ध्वनि का विषय नहीं होता। शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि का विषय ऐसा ही स्थान होता है जहाँ श्लेष से दो या अधिक अर्थ निकलें, एक अर्थ में

तारावती

प्रकरणादि के द्वारा अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जावे, तब दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़े और वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थों के सम्बन्ध का निर्वाह भी व्यञ्जना के द्वारा ही हो। जहाँ किसी एक अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण न हो अथवा श्लेषमूलक दूसरा अलङ्कार वाच्य ही हो या दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होकर भी किसी विशिष्ट शब्द के कारण वाच्य होने के लिये बाध्य हो जावे वहाँ पर वाच्यश्लेष ही होता है शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं।

श्लेष का दूसरे अलंकारों से क्या सम्बन्ध है और श्लेष स्वतन्त्र अलंकार हो सकता है या नहीं इस विषय में विश्वनाथ ने अच्छा प्रकाश डाला हैं। अतः साहित्यदर्पण के उक्त प्रकरण का आशय दे देना अप्रासङ्गिक न होगा—साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—'श्लेष के विषय में कुछ लोगों का मत है कि इस अलङ्कार का ऐसा कोई पृथग्भूत विषय नहीं होता जहाँ किसी दूसरे अलंकार का अवसर न हो। इस प्रकार श्लेष निरवकाश होकर दूसरे अलंकारों का अपवाद हो जाता है। अतएव अलंकारों का बाध करके ही इसकी प्रवृत्ति होती है और यह अलंकार दूसरे अलंकारों की प्रतिभा को उत्पन्न करने में कारण हो जाता हैं। आशय यह हैं कि दूसरे अलंकारों की छाया के विना श्लेष सम्भव नहीं है यह कुछ लोगों का मत है।

'इस विषय में यहाँपर विचार करना है कि जहाँ पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहाँ पर कुछ तो ऐसे स्थल होते हैं जिनमें द्वितीय अर्थ का संकेतमात्र मिलता है उसका अभिधान नहीं किया जाता। ऐसे स्थानोंपर समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त इत्यादि अलंकार होते हैं। ऐसे अलंकारों में श्लेष की गन्ध भी नहीं होती क्योंकि इनमें द्वितीय अर्थ अभिधेय होता ही नहीं।

'दूसरे स्थल ऐसे होते हैं जहाँ वस्तुतः द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग रहता है। यदि वहाँ पर श्लेषमूलक रूपक हो तो रूपक श्लेष का बाधक हो जाता है क्योंकि वहाँ पर सौन्दर्य का पर्यवसान आरोप में ही होता है द्व्यर्थकता में नहीं। यदि वहाँ पर विरोधाभास या पुनरुक्तवदाभास हो तो विरोध सूचक अर्थ की सूचना ही मिलती है वह अर्थ द्वितीय अर्थ के समकक्ष नहीं होता। अतः वहाँ पर श्लेष नहीं हो सकता। ये तो वे स्थान हुये जहाँ श्लेष न होकर कोई दूसरा ही अलंकार होता है।

'इनके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे होते हैं जहाँ द्व्यर्थक शब्दों के बलपर कुछ तो प्राकरणिक अर्थों का एक धर्म में सम्बन्ध हो (जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि में विष्णु और शङ्कर का) अथवा दो अप्राकरणिक अर्थों का एकधर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। यदि एक प्राकरणिक और दूसरे अप्राकरणिक अर्थ का एकधर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर दीपक होता है। यदि अप्राकरणिक अर्थ प्राकरणिक से सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करे तो उपमा होती है। इस प्रकार श्लेष का ऐसा कोई स्थान ही शेष नही रह जाता जहां ये अलंकार न हो सकें। इसके प्रतिकूल इन अलंकारों के ऐसे स्थान मिल सकते हैं जहाँ श्लेष न

तारावती

हो। इस प्रकार ऐसे स्थानों पर विभिन्न अलंकार मानने पर श्लेष अलंकार का सर्वथा अभाव ही हो जावेगा। किन्तु श्लेष मानने पर अलंकारों को दूसरे स्थान मिल जावेंगे और उन अलंकारों का विषयापहार नहीं होगा। अतएव श्लेष की सत्ता बनाये रखने के लिये ऐसे स्थानों पर श्लेष ही मानना चाहिये अन्य अलंकार नही। (यह है कुछ लोगों की मान्यता।)

इस विषय में विश्वनाथ का कहना है कि—'यह बात ठीक नहीं है कि श्लेष का दूसरे अलंकारों से पृथग्भूत स्वतन्त्र कोई विषय हो नहीं रह जाता। 'येन ध्वस्तमनोभवेन……' इत्यादि स्थल श्लेष का स्वतन्त्र विषय है। दूसरे लोग यहाँपर तुल्ययोगिता बतलाते हैं। किन्तु तुल्ययोगिता में यह नियम नहीं होता कि उसमें दोनों अर्थ वाच्य ही हों जब कि श्लेष मे दोनों अर्थों के वाच्य होने का नियम है। दूसरा भेद यह होता है कि तुल्ययोगिता में एक धर्म का अनेक धर्मियों से सम्बन्ध होता है कितु श्लेष में धर्म भी भिन्न होते हैं और धर्मी भी। श्लेष में विभिन्न धर्मियों का विभिन्न धर्मों से सम्बन्ध होता है।

'यह जो कहा गया था कि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान बन गया।' यहाँ पर श्लेष उपमा की प्रतिभा के उत्पादन में हेतु होता है, यहां पर श्लेष ही प्रधान है, उपमा की प्रतिभा के कारण उसमें सौन्दर्य का आधान हो जाता है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्णोपमा का कोई विषय ही नहीं मिलेगा। यदि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान हो गया।' इस वाक्य में 'कला' शब्द का शब्दश्लेष उपमा का प्रयोजक होगा। इस प्रकार धर्म के प्रत्यायन में कहीं शब्द-श्लेष आ जावेगा और कहीं अर्थ श्लेष। अतएव पूर्णोपमा का विषय ही जाता रहेगा। अतः ऐसे स्थानों पर पूर्णोपमा ही मानी जानी चाहिये श्लेष नहीं। रुद्रट ने शब्दसाम्य को उपमा का प्रयोजक माना ही है। कुछ लोग कहते हैं कि गुण और क्रिया का साम्य वास्तविक होता है, अतः उनका साम्य हो उपमा का प्रयोजक होता है और उनके साम्य में ही उपमा अङ्गीकार की जानी चाहिये शब्दसाम्य में नहीं क्योंकि वहाँ पर सादृश्य अवास्तविक होता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उपमा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह वास्तविक साम्य में ही होती है! अवास्तविक शब्दसाम्य में भी उपमा रूपक इत्यादि अलंकार माने हो जाते हैं और यह कहना ही कि उपमा का बाध कर श्लेष हो जाता है यह सिद्ध करता है कि शब्दसाम्य में उपमा होती है। ऐसे स्थान पर उपमा ही मानी जानी चाहिये इसमें एक प्रमाण यह भी है कि श्लेष सादृश्य के निर्वाह में सहायक होता है, सादृश्य श्लेष के निर्वाह में सहायक नहीं होता। अतएव सिद्ध हो जाता है कि सादृश्य-मूलक उपमा अङ्गी है और श्लेष उसका अङ्ग। 'शब्द-मूलक और अर्थ-मूलक अलंकारों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर नही होता' यह नियम भी उन्हीं-उन्हीं शब्दालङ्कारों के विषय में लागू होता है जिनमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—(१) जहाँ पर द्वितीय अर्थ की ओर सङ्केतमात्र होता है

ध्वन्यालोकः

एवंजातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः। यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः। यथा—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।'

(अनु०) इस प्रकार का सभी (विषय) यथेष्ट रूप में वाच्य श्लेष का विषय हो। इसके प्रतिकूल जहाँ पर सामर्थ्य के द्वारा आक्षिप्त हुआ होकर दूसरा अलङ्कार शब्दशक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा हो वह सब ध्वनि का ही विषय होता है। जैसे—'इसी बीच में कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुये अट्टों को धवलित करनेवाली फुल्लमल्लिकाओं के विकासवाला ग्रीष्मनामक महाकाल प्रवृत्त हुआ।'

(यहाँपर दूसरे अर्थ की भी व्यञ्जना होती है—सतयुग इत्यादि सुमनोहर समय का उपसंहार कर फुल्लमल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले असुरों के लिये ग्रीष्म के समान प्रचण्ड महाकाल (भगवान् शिव) का प्रादुर्भाव हुआ)।

लोचन

एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह-यत्र त्विति। कुसुमसमयात्मकं यद्युगं मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमल्लिकानां हासो विकासः सितिमा यत्र। फुल्लमल्लिका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलदभुजगम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात्। महांश्चादौ दिनदैर्घ्यदुरतिवाहयोगात्कालः समयः अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव अवयवप्रसिद्धेःसमुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकाल-प्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

इस प्रकार श्लेषालङ्कार के विषय को अवस्थापित कर ध्वनि का विषय बतलाते हैं—'जहाँ पर तो' इत्यादि। कुसुमसमयात्मक जो जोड़ा अर्थात् दो मास, उनको समेटते हुये। धवल अर्थात् हृद्य कर दिये गये हैं अट्ट अर्थात् आपण जिसके द्वारा उस प्रकार का फुल्लमल्लिकाओं का हास अर्थात् विकास अर्थात् श्वेत वर्ण जिसमें। 'फुल्लमल्लिकायें ही हैं धवल अटाहास जिसकी' ऐसी व्याख्या करने पर यह 'जलदभुजगम्' इनके समान हो जावे। दिन की दीर्घता कठिनाई से व्यतीत करने के योग से यह काल महान् है। यहांपर ऋतुवर्णन के प्रस्ताव नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले, अतएव 'अवयव प्रसिद्धि से समुदायप्रसिद्धि बलवान् होती है' इस न्याय का अपाकरण करते हुये महाकाल प्रभृति शब्द इसी अर्थ को कहकर कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके बाद अर्थावगति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन व्यापार से ही होती है।

तारावती

वहाँ समासोक्ति, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि अलङ्कार ही होते हैं श्लेष नहीं। (२) जहाँ शब्द की द्व्यर्थकता के बलपर एक अर्थ का दूसरे पर आरोप किया जाता है वहाँ रूपक

तारावती

ही होता है वहाँ भी श्लेष नहीं होता। (३) जहाँ शब्द के बल पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का बोध होता है वहाँ (अ) यदि दो प्रस्तुतों का एक धर्म में संबंध हो अथवा दो अप्रस्तुतों का एक धर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। (आ) यदि एक प्रस्तुत और दूसरे अप्रस्तुत का सम्बन्ध हो तो वहां पर दीपक होता है। (४) यदि द्व्यर्थकता के बल पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सादृश्य विधान हो तो उपमा होती है। (५) यदि दोनों अर्थ प्रस्तुत हों, दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हों, दोनों अर्थ समान कोटि के हों और उनमें संयोग इत्यादि के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण न हो सके तो वहां पर श्लेष होता है। यह तो स्वतन्त्र श्लेष तथा श्लेषमूलक दूसरे अलङ्कारों का विषय विभाजन हो गया। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहां पर होती है जहां प्रयुक्त शब्दों से प्राकरणिक अर्थ की पूर्ति हो जावे, उस अर्थ को अपनी पूर्ति के लिये दूसरे अर्थ की अपेक्षा भी न हो, उस समय सहृदयों को जो दूसरे अर्थ की प्रतीति होने लगती है और वही अर्थ विशेष रूप से रमणीयता में हेतु होता है उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार यह ध्वनि दो प्रकार की होती है वस्तु ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि। किन्तु आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के अनुसार यह केवल एक ही प्रकार की होती है और उसे अलङ्कार-ध्वनि कहते हैं। अन्य आचार्यों के द्वारा मानी हुई वस्तु-ध्वनि को आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मत में श्लेषध्वनि की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।]

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण जैसे वाण-भट्ट लिखित हर्षचरित के द्वितीय उछ्वास में ग्रीष्मवर्णन के प्रसङ्ग में लिखा है—

'इसी बीच में कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुए फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ।'

यहाँ पर युग, अट्टहास, महाकाल इत्यादि शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—एक अर्थ ग्रीष्मपरक है और दूसरा भगवान् शिव-परक। कुसुमसमययुग का अर्थ है वसन्त काल के दो महीने चैत्र और वैशाख। दूसरा अर्थ है वसन्त काल के समान शोभन युग सतयुग त्रेता इत्यादि। उनका उपसंहार हो गया है। 'ग्रीष्म नामक महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ' महाकाल के भी दो अर्थ हैं—रूढि के द्वारा महाकाल का अर्थ है विनाश के देवता भगवान् शङ्कर और ग्रीष्म के पक्ष में इसका अर्थ है महान् या विशाल समय। ग्रीष्म में दिन बड़े-बड़े हो जाते हैं और उनका व्यतीत करना कठिन हो जाता है इसीलिये ग्रीष्म के लिए महाकाल या विशाल समय यह विशेषण दिया गया है। 'ग्रीष्माभिधान' का भगवान् शङ्कर के पक्ष में अर्थ है अभक्तों और असुरों के लिये ग्रीष्म की भीषणता से उपलक्षित होनेवाले और ग्रीष्म के पक्ष में अर्थ है ग्रीष्म नामवाले। 'फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास' का भगवान् शङ्कर के पक्ष मे अर्थ है 'फूली हुई मल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले' और ग्रीष्म के पक्ष में इसका अर्थ है 'अट्टों अर्थात् अट्टालिकाओं को श्वेत बनानेवाली फूली हुई मल्लिकाओं के विकास से परिपूर्ण। यहाँ पर 'फुल्लमल्लिका-

लोचन

अत्र केचिन्मन्यन्ते—"यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्" इति।

यहां कुछ लोग मानते हैं—'क्योंकि पहले इन शब्दों की दूसरे अर्थ में दूसरी अभिधा देखी गई इससे उस प्रकार के अर्थान्तर में देखी हुई अभिधाशक्तिवाले ही प्रतिपत्ता के लिये नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले इन (शब्दों) से प्रतिपत्ति ध्वनन-व्यापार से ही होती है इस प्रकार शब्द-शक्तिमूलकत्व और व्यङ्ग्यत्व अविरुद्ध है।'

तारावती

धवलाट्टहास' का अर्थ किसी ने यह किया है—'फूली हुई मल्लिकायें ही हैं धवल अट्टहास जिसके' किन्तु इस अर्थ में ग्रीष्म तथा शङ्कर का रूप्यरूपक भाव वाच्य हो जावेगा और 'जलदभुजगम्' के समान यह भी ध्वनि का उदाहरण न होकर वाच्यश्लेष का ही उदाहरण हो जावेगा। अतः पूर्वोक्त अर्थ करना ही ठीक है। इस प्रकार यहाँ पर दो अर्थ हो जाते हैं। एक ग्रीष्मपरक और दूसरा शिवपरक। यहाँ पर ऋतु वर्णन का प्रस्ताव या प्रकरण हैं। इससे ग्रीष्म के अर्थ में अभिधा शक्ति नियन्त्रित हो जाती है। यद्यपि महाकाल का शिव अर्थ और युग का सतयुग इत्यादि अर्थ रूढि के द्वारा प्राप्त होता है और विशाल समय तथा दो महीने यह अर्थ यौगिक है, इस प्रकार नियमानुकूल शिवपरक अर्थ ही प्रथम उपस्थित होना चाहिये। क्योंकि नियम है कि योग की अपेक्षा रूढि बलवान् होती है, जैसा कि न्याय प्रसिद्ध है—अवयवप्रसिद्धि (यौगिक अर्थ) से समुदायप्रसिद्धि (रूढ अर्थ) अधिक बलवान् होता हैं। तथापि प्रकरण ऋतुवर्णन का है, अतएव उक्त न्याय का अतिक्रमण कर महाकाल इत्यादि शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जाती है और ये शब्द ग्रीष्मपरक अर्थ कहकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं। उसके बाद दूसरे–शिवपरक–अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन व्यापार से ही होती है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनन-व्यापार से दूसरे अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है इस विषय में कई मत हैं। प्रमुख मतों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(१) इस विषय में कुछ लोग कहते हैं—जब हम किसी ऐसे शब्द का किसी विशेष प्रकरण में प्रयोग करते हैं जिसकी अभिधा शक्ति किसी दूसरे अर्थ में भी देख चुके होते हैं उस समय उस दूसरे अर्थ का संस्कार हमारे अन्तःकरणों पर जमा रहता हैं। जैसे (यहाँपर महाकाल शब्द का प्रयोग विशाल समय के अर्थ में किया गया है किन्तु 'महाकाल' का शिव अर्थ भी दूसरे स्थानों पर अधिगत होता है और वह अर्थ हमारे अन्तःकरणों पर जमा हुआ है।) ऐसे स्थान पर पहले संयोग इत्यादि के कारण एक अर्थ में शक्तिग्रह और शाब्दबोध हो जाता है और उसी अर्थ में अभिधा का नियमन हो जाता है। अर्थात् वहाँ पर यह सिद्ध हो जाता है कि कवि या लेखक का उसी अर्थ में तात्पर्य है। फिर उन्हीं द्व्यर्थक शब्दों के बल पर उस प्रकार के

लोचन

अन्ये तु—"साभिधैव द्वितीयार्थसामर्थ्यं भीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततो ध्वननव्यापाररूपोच्यते" इति।

एके तु—"शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते। स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति, प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्" इति।

दूसरे लोग तो—'वह दूसरी अभिधा शक्ति ही क्योंकि सहकारी के रूप में भीषण देवता विशेष सादृश्यात्मक अर्थ सामर्थ्य का अवलम्बन करती है इससे ध्वनन व्यापार रूपक कही जाती है।

कुछ लोग तो—'शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर, अर्थश्लेष में भी शक्तिभेद हो जाता है इस सिद्धान्त में द्वितीय शब्द वहाँ पर ले आया जाता है। वह कभी अभिधा व्यापार से जैसे दोनों का उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' यह अथवा प्रश्नोत्तर इत्यादि में वहाँ पर वाच्यालङ्कारता होती है। जहाँ पर तो ध्वनन व्यापार से ही शब्द ले आया जाता है वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थान्तर प्रतीयमानमूल होने के कारण प्रतीयमान (होना ही) ठीक है।'

तारावती

अर्थान्तर में देखी हुई अभिधाशक्ति के संस्कार के कारण एक और अर्थ निकल आता है। इस अर्थ की प्रतीति ऐसे सहृदयों को ही होती है जिनके मन में उस अर्थ का संस्कार पहले से विद्यमान रहता है। यह अर्थ अभिधेयार्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह तो पहले ही नियन्त्रित हो चुका होता है। अतएव यह अर्थ ध्वनन व्यापार से ही निकल सकता है। यह शब्दशक्तिमूलक कहलाता है क्योंकि द्वयर्थक शब्दों के बल पर निकला होता है। व्यङ्ग्य भी कहलाता है क्योंकि अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने के बाद इसकी प्रतीति होती है। इस प्रकार इस अर्थ का शब्दशक्तिमूलक होना और व्यङ्ग्य होना परस्पर विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।" (इसी मत का अनुसरण काव्यप्रकाशकार इत्यादि ने किया है।)

(२) दूसरा मत—'अभिधा इत्यादि जितने भी व्यापार हैं उन सबकी आत्मा केवल शब्द की ऐसी शक्ति ही है जो कि अर्थबोध के अनुकूल हो। सभी प्रकार की अभिधा इत्यादि वृत्तियों के द्वारा अर्थबोध होना ही उनका प्रधान कार्य है। सहकारी का भेद ही उनका परस्पर भेदक होता है। आशय यह है कि वैसे तो अर्थबोधक होने के नाते सभी वृत्तियाँ एक ही हैं किन्तु अर्थबोध कराने में विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को विभिन्न प्रकार के सहकार की आवश्यकता

तारावती

होती है। इन्हीं सहकारियों के भेद से वृत्तियों में भेद हो जाता है। अभिधा-वृत्ति केवल संकेत ग्रहण का ही सहकार लेती है, लक्षणा-वृत्ति में मुख्यार्थबाध इत्यादि के सहकार की अपेक्षा होती है और ध्वनन व्यापार में प्रकरण इत्यादि के सहकार की अपेक्षा होती हैं उपर्युक्त उदाहरण में जो दूसरा अर्थ निकलता है वह भी एक प्रकार की अभिधा ही है किन्तु उसे ध्वनन अथवा व्यञ्जना व्यापार का नाम इसलिये दे दिया गया है कि उसमें संकेत ग्रहण के अतिरिक्त ऐसे अर्थ-सामर्थ्य का भी आश्रय लिया जाता है जिसके द्वारा ग्रीष्म तथा महाकाल नामक भीषण देवता दोनों के सादृश्य की स्थापना की जाती है।"

(३) तीसरा मत—"शब्दश्लेष वहीं पर होता है जहाँ शब्द का भेद हो। अर्थश्लेष में भी जहाँ पर दो अर्थ होते हैं वहाँ पर शब्दभेद करना ही पड़ता है, क्योंकि एक सिद्धान्त है कि जहाँ शक्ति की अनेकता होती है वहाँ शब्द की भी अनेकता होती है। अतएव ऐसे अवसर पर दूसरे शब्द की कल्पना कर ली जाती है और उस दूसरे शब्द को वहाँ पर ले आकर दो अर्थ किये जाते है। (सभङ्ग शब्दश्लेष के उदाहरण 'सर्वदो माधवः' में 'सर्वदः+माधवः' और 'सर्वदा+उमाधवः ये दो शब्द पृथक् प्रतीत होते ही हैं, अभङ्ग अर्थश्लेष के उदाहरण—'दुष्टजन और तराजू की एक सी दशा होती हैं कि ये थोड़े में ही ऊपर उठ जाते हैं और थोड़े में ही नीचे आ जाते हैं' में भी दो प्रकार का 'ऊपर जाना' और नीचे आना विवक्षित है। अतः दोनों को शब्द के द्वारा आवेष्टित करने के लिये शब्दभेद की कल्पना अनिवार्य हो जाती है) कहीं-कहीं पर दोनों ही अर्थ अभिधावृत्ति से ही निकलते हैं। जैसे दोनों प्रश्नों का एक साथ उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' इत्यादि और प्रश्नोत्तरालङ्कार इत्यादि। (विद्वद्गोष्ठियों में कभी-कभी मनोरञ्जन के लिये दो प्रश्नों का शब्दच्छल से एक साथ उत्तर देने की चेष्टा की जाती है। जैसे किसी ने एक साथ दो प्रश्न किये 'कौन कहां से दौड़ रहा है ?' और 'दौड़ने वाले का रङ्ग क्या है ?' दूसरे ने विनोद के लिये दोनों प्रश्नों का एक साथ उत्तर दे दिया 'श्वेतो धावति' इस का दो प्रकार से अर्थ किया जावेगा—'श्वा+इतो धावति' इधर से कुत्ता दौड़ रहा है और 'श्वेतः धावति' सफेद रंगवाला दौड़ रहा है। इसी प्रकार जब मनोरञ्जन के लिए ही किसी पूछे हुये प्रश्न का छिपाकर उत्तर दिया जाता है तब उसे प्रश्नोत्तरालङ्कार कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—'गुफा पूछ रही है कि मैं कौन हूँ ? कहो इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा ?' इस पर दूसरे ने कह दिया—'कथमुक्तं न जानासि कदर्थयसि यत्सखे' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि 'हे सखे क्यों कही हुई बातको नहीं जानते जो कि मुझे इस प्रकार कदर्थित (परेशान) कर रहे हो ?' इन्हीं शब्दों का दूसरा अर्थ यह भी हो जाता है कि 'कथमुक्तं' क और थ से छोड़े हुये 'कदर्थयसि' को तुम नहीं जानते यदि 'कदर्थयसि' से क और थ निकाल दिया जावे तो 'दर्यसि' रह जावेगा जिसका अर्थ हो गया कि 'तुम दरी (कन्दरा) हो' इस प्रकार शब्दच्छल से प्रश्न का उत्तर भी इन्हीं शब्दों में हो गया। (यह प्रश्नोत्तरालङ्कार है।) ऐसे स्थानों पर

लोचन

इतरे तु—"द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात्। तस्याश्च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि। पूर्वत्र तु 'सलेश' पदेनैवासंबद्धता निराकृता। 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासंबद्धता नैव भाति। 'तस्या विनापि' इत्यत्रापिशब्देन 'श्लाघ्य' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिं' इत्यादौ च रूपकेणासबद्धता निराकृतेति तात्पर्यम्।

दूसरे लोग तो—द्वितीय पक्ष की व्याख्या में जो अर्थ सामर्थ्य उससे द्वितीय अभिधा ही पुनरुज्जीवित हो जाती है, इससे द्वितीय अर्थ अभिहित ही होता है ध्वनित नहीं। उसके बाद तो उस प्रतिपन्न द्वितीय अर्थ का प्राकरणिक प्रथम अर्थ के साथ जो रूपण वह तो शोभित होता ही है। वह दूसरे शब्द से नहीं अतः ध्वननव्यापार से ही होता है। उसमें किसी अभिधाशक्ति की आशङ्का की ही नहीं जा सकती। उसमें तो द्वितीय शब्दशक्तिमूल होती है। उसके बिना आरोप का उत्थान ही नहीं होता। इसलिये यह अलङ्कार ध्वनि है, यह उचित है। कहेंगे भी—'असम्बद्धार्थ का अभिधायित्व प्रसक्त न हो जावे' इत्यादि। पहले में तो 'सलेश' शब्द से ही असम्बद्धता का निराकरण हो गया। 'येन ध्वस्त' इत्यादि में असम्बद्धता प्रतीत नहीं होती। 'तस्याः विनापि' इसमें अपि शब्द से 'श्लाध्याशेषतनुम्' इत्यादि में अधिक शब्द से, भ्रमिम् इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण हो गया, यह तात्पर्य है।

तारावती

अभिधा से ही दूसरा शब्द लाया जाता है अतः यहां पर वाच्यालङ्कार ही होता है। किन्तु जहां पर शब्द को लाने के लिये व्यञ्जना-व्यापार का आश्रय लिया जावे वहां पर यद्यपि दूसरा अर्थ दूसरे शब्द के बल पर ही आया हुआ होता है किन्तु फिर भी उसके मूल में प्रतीयमान अर्थ का बोधक ध्वनन का व्यापार होता है। इसलिये उसे प्रतीयमान अर्थ का ही नाम दिया जाता है। (इस मत का सारांश यही है कि जहां कहीं एक शब्द के दो अर्थ लिये जाते हैं वहां शब्दभेद की कल्पना करनी ही पड़ती है। किन्तु जहां पर दोनों अर्थ प्राकरणिक होते हैं वहाँ पर दूसरा शब्द भी अभिधा के बलपर ही लाया गया होता है। अतएव उसे वाच्यालङ्कार का ही नाम दिया जाता है। जहाँ पर दूसरा शब्द व्यञ्जनावृत्ति के बल पर लाया हुआ होता है वहाँ पर वह ध्वनि कहलाता है। यह मत कुमारिल भट्ट के शब्दाध्याहारवाद पर आश्रित है।)

(४) चतुर्थ मत—"जहां पर संयोग इत्यादि के द्वारा एक अर्थ में अभिधा का नियमन हो

तारावती

जाता है और अर्थसामर्थ्य से दूसरे पक्ष की व्याख्या की जाती है वहां पर अर्थसामर्थ्य से अभिधा ही पुनरुज्जीवित हो जाती है। (अभिधा के इस प्रतिप्रसव का कारण होता है अर्थसामर्थ्य अर्थात् शब्द का हमारे संस्कारों में सन्निहित दूसरा अर्थ) अतएव दूसरा अर्थ भी अभिहित ही होता है ध्वनित नहीं होता। इसके उपरान्त जब द्वितीय अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकी होती है तब द्वितीय अर्थ का प्रथम प्राकरणिक अर्थ के साथ जो रूपण या उपमानोपमेयभाव होता है वह अभिहित नहीं कहा जा सकता किन्तु वह सर्वथा प्रतीत ही होता है, कारण यह है कि उस वाक्य में ऐसा कोई शब्द नहीं होता जिसके अर्थ के द्वारा उनका उपमानोपमेय भाव कल्पित किया जा सके। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि उसके लिये व्यञ्जना-व्यापार का ही आश्रय लेना पड़ता है। उसके विषय में कोई भी यह आशङ्का ही नही कर सकता कि उसको अभिधा-वृत्ति के क्षेत्र में सन्निविष्ट कर दिया जावे। इसे शब्दशक्तिमूलक इसलिए कहते हैं कि इस प्रकार के रूपण में दूसरे अर्थ को प्रकट करनेवाली शब्दशक्ति ही कारण होती है। क्योंकि उसके अभाव में उपमानोपमेय भाव का उत्थान ही नहीं हो सकता। इसलिये इसे अलङ्कार ध्वनि कहते हैं। इसीलिये अग्रिम पृष्ठों पर वृत्तिकार स्वयं इस बात को स्वीकार करेंगे कि यदि इन दोनों अर्थों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना न की जावे तो ये दोनों अर्थ परस्पर असम्बद्ध हो जावेंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि जहां पर दोनों अर्थ एक दूसरे से असम्बद्ध प्रतीत हो रहे हों वहां पर ध्वनिकाव्य हुआ करता है और जहाँ पर कोई ऐसा शब्द विद्यमान हो जिसके कारण दोनों अर्थों का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता हो वहां पर दोनों अर्थ वाच्य कोटि में ही आ जाते हैं। पहले उदाहरण 'दृष्ट्या केशव.........वशिरचम्' में 'सलेशम्' शब्द से ही असम्बद्धार्थकता का निराकरण हो जाता है। 'येन ध्वस्तमनोभवेन...........माधवः' में दोनों अर्थों की असम्बद्धता प्रकट ही नहीं होती। 'उसके दोनों पयोधर.............उत्पन्न कर रहे थे।' में 'हार न होते हुए भी' का 'भी' शब्द असम्बद्धतार्थकता को दूर कर देता है। 'रुक्मिणी का सारा शरीर ....रक्षा करे' में 'अपने शरीर की अपेक्षा अधिक समझा' का 'अधिक' शब्द दोनों अर्थों में सम्बन्ध स्थापित कर देता है। 'मेघरूपी..........उत्पन्न कर रहा है।' में 'जलद-भुजग' का रूपक दोनों अर्थों के सम्बन्ध को प्रकट कर देता है। 'जिन महाराज के.........नहीं होता।' में गजेन्द्र शब्द दोनों अर्थों का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला है। जहां इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला कोई शब्द नहीं होता वहां शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है।

ऊपर दसरा अर्थ किस प्रकार निकलता है इस प्रकिया पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार जब दो अर्थ एक ही शब्द से निकल आते हैं तब उनमें सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार हर्षचरित के इस वाक्य का पूरा अर्थ यह होगा—'जिस प्रकार सतयुग इत्यादि को समेट कर फूली हुई मल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले दानवों और अभक्तों के लिये भीषण महाकाल भगवान् शिव का आविर्भाव होता

ध्वन्यालोकः

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः,
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

(अनु०) दूसरा उदाहरण—

'उठे हुये शोभायुक्त धाराओंवाले (प्रोल्लसद्धारः) कालागुरु के समान कृष्ण वर्ण के मेघों के समूह ने (पयोधरभरः) तन्वी के विषय में किसको अभिलाषायुक्त नहीं बना दिया।' इसका दूसरा अर्थ—'तन्वी के स्तनभार ने जो कि उठा हुआ है जिस पर हार शोभित हो रहा है और जो कालागुरु के लेप से मलिन है, किसको कामुक नहीं बनाया।'

अथवा जैसे—

'समुचित समय पर बिना ही क्लेश के सिंचित किये हुये जल के द्वारा प्रजा को आनन्द देनेवाली, दिन के प्रथम भाग में प्रत्येक दिशा में बिखरी हुई और दिन के विरत होने पर समेटी हुई, विशाल दुःख को उत्पन्न करनेवाले सांसारिक भयरूपी महासागर को पार करने के लिये नाव, पवित्र वस्तुओं में उत्कृष्ट सूर्य की किरणें आपके हृदय में अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें।' दूसरा अर्थ—'उचित समय पर बिना क्लेश के दूध को बहाकर अपने बछड़ों को आनन्द देनेवाली, दिन के प्रथम भाग में इधर-उधर विचरनेवाली, दिन के विराम में समिट कर एकत्र हो जानेवाली, संसार-सागर के निस्तार की नौका गायें आपके हृदय में प्रेम उत्पन्न करें।'

लोचन

पयोभिरिति पानीयैः क्षीरैश्च। संहारो ध्वंसः, एकत्र ढौकनं च। गावो रश्मयः सुरभयश्च।

'पयोभिः' का अर्थ है जल से और दूध से। संहार का अर्थ है ध्वंस और एक स्थान पर हटाना। गौ अर्थात् किरणें और गायें।

तारावती

हैं उसी प्रकार वसन्त काल के दो महीनों का उपसंहार कर ग्रीष्म नामक विशाल समय का आविर्भाव हुआ जिसमें प्रफुल्लित मल्लिकाओं का विकास दृष्टिगत हो रहा था जिससे अट्टालिकायें हँसती सी जान पड़ती थी।'

दूसरा उदाहरण जैसे—वर्षा वर्णन के प्रकरण में कहा गया है—'आकाश में उठे हुये,

तारावती

सुशोभित धाराओंवाले काली अगर के समान मलिन मेघों के समूह ने किसके हृदय में तन्वी के प्रति अभिलाषा उत्पन्न नहीं कर दी।' यहाँ पर कई शब्दों के दो दो अर्थ हैं—(अ) उन्नत—(१) आकाश में लगे हुये और (२) ऊपर को उठे हुये। (आ) प्रोल्लसद्धारः—(१) सुशोभित धाराओंवाले और (२) सुशोभित हारोंवाले। (इ) कालागुरुमलीमसः—(१) काली अगर के समान काले वर्ण के और (२) काली अगर के लेप से मलिन अथवा काली अगर के समान काले अग्रभागवाले। (ई) पयोधरभरः—(१) मेघसमूह और (२) स्तनों का भार। इस द्व्यर्थकता के बलपर इस पद्य का एक अर्थ और निकलता है—'ऊपर को उठे हुये सुशोभितहारोंवाले, कालागुरु के लेप से मलिन अथवा कालागुरुके समान कृष्ण अग्रभागवाले तन्वी के पयोधर-भार ने किसको कामनायुक्त नहीं बनाया।'. नायिका के पक्ष में 'तन्व्याः पयोधरभरम्' यह अन्वय होगा और मेघों के पक्ष में 'तन्व्या अभिलाषिणम्' यह अन्वय होगा। यहाँ पर वर्षावर्णन का प्रकरण है अतः इस अर्थ में अभिधा नियन्त्रित हो जाती है। इसके बाद द्व्यर्थक शब्दों के बल पर नायिकापरक अर्थ निकलता है। दोनों अर्थों की असम्बद्धार्थकता को 'दूर करने के लिये इनमें उपमानोपमेय भाव की स्थापना कर दी जाती है जिससे इस पद्य का पूरा अर्थ यह हो जाता है—जिस प्रकार ऊपर को उठे हुये, अगुरु के लेप के कारण धूम्र वर्ण के किसी युवती के स्तन प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उत्कण्ठा जागृत कर देते हैं, उसी प्रकार आकाश में लगे हुये कालागुरु के समान काले रंग के मेघसमूह ने प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में युवतियों की कामना जागृत कर दी।'

एक और उदाहरण जैसे मयूर कवि ने सूर्यशतक में सूर्य की स्तुति करते हुये लिखा है—'पवित्रों में उच्चतम सूर्य की किरणें आप लोगों के हृदयों में अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें। ये सूर्य की किरणें उचित समयानुसार खींचकर विसर्जित किये हुये जलों से प्रजाओं को आनन्द देती हैं अर्थात् उचित समय पर (ग्रीष्मकाल में) जल को खींचती हैं और उचित समय पर ही (वर्षाऋतु में) उसको विसर्जित करती हैं। (यहां पर दो पाठ हैं 'आकृष्ट' तथा 'अक्लिष्ट'। प्रथम पाठ का अर्थ है 'समय पर जल को खींचकर' तथा दूसरे पाठ का अर्थ है 'क्लेश रहित जल प्रदान करती हैं।) दिन के पूर्व भाग में दिशाओं-विदिशाओं में फैल जाती हैं और जब दिन का अवसान होता है तब समेट ली जाती हैं। संसार दीर्घदुःखों को उत्पन्न करनेवाला है; उसमें भय का महासागर लहरा रहा है; उसको पार करने के लिये सूर्य की किरणें नाव का काम देती हैं।' यहां पर गो शब्द के दो अर्थ हैं किरणें तथा गायें, इसी आधार पर पूरे पद्य का धेनुपरक एक अर्थ और ले लिया जाता है कि 'गायें उचित समय पर (प्रातःकाल) खींचकर दूध से अपने बछड़ों को आनन्द देती हैं; प्रातःकाल चरने के लिये इधर-उधर बिखर जाती हैं और दिन की समाप्ति पर एक स्थान पर एकत्र हो जाती हैं; भवसागर के पार करने के लिये जो नाव का काम देती हैं अर्थात् गाय की पूँछ पकड़कर भव सागर को पार किया जाता है; वे

तारावती

गायें तुम्हारे हृदय में अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें।" यहां पर प्रकरण सूर्यस्तुति का है अतः अभिधा का नियमन उसी अर्थ में हो जाता है। इसके बाद द्वितीय अर्थ के संस्कार से गोपरक अर्थ और निकल आता है। इनकी असम्बद्धार्थकता का निराकरण करने के लिये दोनों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। 'जिस प्रकार गायें परम प्रेम उत्पन्न करें उसी प्रकार किरणें भी परम प्रेम उत्पन्न करें।' इस प्रकार ये शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण हैं।

[महिमभट्ट ने इन तीनों उदाहरणों का खण्डन किया है। 'इसी बीच में—महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ' इसके लिये महिमभट्ट ने लिखा है कि यह समासोक्ति का उदाहरण है। किन्तु समासोक्ति और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में यह अन्तर है कि समासोक्ति में केवल विशेषणसाम्य होता है किन्तु उपमा-ध्वनि में श्लेष-मूलक विशेष्यसाम्य भी होता है। दूसरी बात यह है कि व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ गौण स्थान का अधिकारी होता है और उससे उपस्कृत होकर वाच्यार्थ ही चमत्कार में कारण होता है, इसके प्रतिकूल उपमा ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ ही चमत्कारपर्यवसायी होता है। प्रस्तुत उदाहरण में ग्रीष्मवर्णन चमत्कारकारक नहीं है अपितु महाकाल से उसकी सादृश्यकल्पना ही चमत्कृति में हेतु है। अतः यह उदाहरण शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का ही है; समासोक्ति का नहीं। दूसरे उदाहरण 'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः······चक्रेऽभिलाषिणम्' के विषय में महिमभट्ट ने लिखा है कि 'जिस प्रकार महाकाल शब्द का द्वितीय अर्थ समासोक्ति की ओर इङ्गित करता है वैसा कोई शब्द इस पद्य में विद्यमान नहीं है जिससे इसका दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता।' किन्तु 'पयोधरभरस्तन्व्याः' की वाक्यरचना सहसा द्वितीय अर्थ की ओर ध्यान खींच लेते हैं और प्राकरणिक वर्षा के अर्थ में द्वितीय अर्थ उपमान हो जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि यहांपर द्वितीय अर्थ का प्रत्यायन करानेवाला कोई शब्द ही नहीं। महिमभट्ट ने तृतीय उदाहरण 'दत्तानन्द········प्रीतिमुत्पादयन्तु' को लेकर बड़े बिस्तार से दिखलाने की चेष्टा की है कि यहांपर न तो विशेष्य ही दूसरे अर्थ का प्रत्यायक है न विशेषण ही और न दोनों मिलकर ही। यदि 'गो' शब्द 'गाय' के अर्थ का स्मारक है तो 'गो' शब्द के 'बज्र' इत्यादि अनेक और अर्थ होते हैं उनका प्रत्यायक क्यों नहीं, यदि उनका भी प्रत्यायन करावे तो यह प्रत्यायन अनभिमत होगा।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि काव्य में तर्कशास्त्रके समान प्रतिपादक नही होता। इसमें तो व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा सहृदयसंवेद्य ही होता है। यह बात विस्तारपूर्वक लोचन में 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इस उदाहरण की व्याख्या में दिखलाई जा चुकी है। गो शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु बुद्धि में सर्वप्रथम 'गाय' अर्थ ही उपारूढ होता है। 'गाय' अर्थ ही प्राकरणिक किरणों की अपेक्षा भी पहले बुद्धि में आता है। जबकि समस्त विशेषण भी गाय के अर्थ को पुष्ट करनेवाले मिल जाते हैं तब उस अर्थ का अपलाप नहीं हो सकता और यह प्राकरणिक

ध्वन्यालोकः

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः।

(अनु०) इन उदाहरणों में शब्दशक्ति से अप्राकरणिक अर्थान्तर के प्रकाशित हो जाने पर वाक्य का असम्बद्धार्थ प्रतिपादन कहीं प्रसक्त न हो जावे इसीलिये सामर्थ्य से अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेय भाव कल्पित कर लिया जाना चाहिये; इस प्रकार यह श्लेष अर्थ के द्वारा आक्षिप्त होता है शब्द के द्वारा उपारूढ़ नहीं होता। इस प्रकार अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष से सर्वदा भिन्न होता है।

लोचन

असम्बद्धार्थाभिधायित्वमिति। असम्वेद्यमानमेवेत्यर्थः। उपमानोपमेयभाव इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानम्, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम्। सामर्थ्यादिति। ध्वननव्यापारादित्यर्थः।

असम्बद्धार्थाभिधायित्व अर्थात् असम्वेद्यमात्र। उपमानोपमेयभाव इति। उस उपमारूप से व्यतिरिक्त करना, निह्नुति करना (छिपाना) इत्यादि व्यापारमात्र रूप ही आस्वादप्रतीति में प्रधान विश्रान्तिस्थान होते हैं उपमेय इत्यादि नहीं यह सर्वत्र अलङ्कार ध्वनि में समझा जाना चाहिये। सामर्थ्य से अर्थात् ध्वनन-व्यापार से।

तारावती

'किरण' अर्थ का उपमान बन जाता है। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक उपमा-ध्वनि के इन तीनों उदाहरणों का प्रत्याख्यान अशक्य है।

अब उक्त प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है कि इन उदाहरणों में शब्दशक्ति से जबकि दूसरा अप्राकरणिक अर्थ प्रकाशित हो जाता है तब कहीं यह दोष न आ जावे कि वाक्य असंबद्ध अर्थ का अभिधान करनेवाला है अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत अर्थ सर्वथा एक दूसरे से असंबद्ध हैं यह बात सहृदय संवेद्य नहीं है। सहृदयों को दोनों की असंबद्धता की प्रतीति कभी नहीं होती। इसी दोष को दूर करने के लिये तथा सहृदय-संवेद्यता का निर्वाह करने के लिये प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। जैसे—'सूर्य की किरणें गायों के समान हैं, इत्यादि। इस प्रकार यहां पर सामर्थ्य से अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के बल पर श्लेष का आक्षेप कर लिया जाता है। अतएव यहां पर श्लेष अर्थाक्षिप्त होता है वाच्यश्लेष के समान सर्वथा शब्द के ही आधीन नहीं होता। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष से सर्वथा पृथक् होता है। यहां पर

ध्वन्यालोकः

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य—

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदनाः मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः।'

(अनु०) अन्य अलङ्कार भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में सम्भव हैं। वह इस प्रकार—विरोध भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप देखा जाता है। जैसे स्थाण्वीश्वर नामक जनपद वर्णन में भट्टबाण का—

'जहाँ पर मातङ्गगामिनी और शीलवती, गौरी और विभवरत, श्यामा और पद्मरागिणी, धवलद्विज शुचिवदन और मदिरा से सुगन्धित श्वासवाली प्रमदायें थी।'

लोचन

मातङ्गेति। मातङ्गवद्गच्छन्ति तान् शवरांश्च गच्छन्तीति विरोधः। विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः। पद्मरागरत्नयुक्ताः पद्मसदृशलौहित्ययुक्ताश्च। धवलैर्द्विजैर्दन्तैः शुचि निर्मलं वदनं यासां धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्रवच्छुचिवदनं च यासाम्।

मातंगेति। मातङ्ग के समान चलती हैं उनको या शवरों के पास जाती हैं, यह विरोध है। विभवों में लगी हुई और शंकर रहित स्थान में प्रेम करनेवाली। पद्मरागयुक्त और पद्मसदृश लाली से युक्त। धवलद्विज अर्थात् दांतों से शुचि अर्थात् निर्मल बदन है जिनका। धवलद्विजवत् अर्थात् उत्कृष्ट ब्राह्मणवत् पवित्र मुख है जिनका।

तारावती

यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि ऐसे स्थानों पर सर्वत्र काव्य सौन्दर्य और रसास्वादन का पर्यवसान साम्यस्थापन की क्रिया में ही होता है और उसी में सौन्दर्य की विश्रान्ति होती है, उपमेय में सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं होती। इसी प्रकार व्यतिरेक में व्यतिरेचन अर्थात् वैषम्यप्रदर्शनात्मक व्यापार में और अपह्नुति अर्थात् छिपाने के व्यापार में ही सौन्दर्य का पर्यवसान होता है।

शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में ध्वनि में अन्य अलङ्कार भी सम्भव हैं। उदाहरण के लिये विरोधालङ्कार को ले लीजिये। वाणभट्ट ने स्थाण्वीश्वर नामक जनपद के वर्णन के अवसर पर कहा है—"जहां पर प्रमदायें मातङ्गगामिनी और सुशीलता से युक्त थीं, गौरी और विभवरत थीं, श्यामा और पद्मरागिणी थीं, धवल द्विज शुचिवदन थीं और उनके मुख से निकलनेवाली श्वासवायु मदिरा से सुगन्धित थी।" यहां पर विरोधालङ्कार की ध्वनि होती है। (१) जो प्रमदायें मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डालों के पास गमन करनेवाली हैं वे शीलवती किस प्रकार हो सकती हैं? यही विरोध है। मातङ्ग अर्थात् हाथियों के समान सुन्दर चालवाली हैं

ध्वन्यालोकः

• • अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्य प्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालंकारस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्।

(अनु०) यहां पर वाच्य विरोध या तच्छायानुग्राही श्लेष यह है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विरोध शब्द के द्वारा साक्षात् प्रकाशित नहीं किया गया है। जहां पर विरोधालङ्कार साक्षात् शब्द के द्वारा आवेदित हो वहां पर श्लिष्ट उक्ति में वाच्यालंकार विरोध या श्लेष का विषय होता है।

लोचन

यत्र हीति। यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषो वेति सङ्करस्तस्य विषयत्वम्। स विषयो भवतीत्यर्थः। कस्य? वाच्यालङ्कारस्य वाच्यालङ्कृतेः वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः।

यत्रहीति। जिसमें अर्थात् काव्यरूप श्लेषोक्ति में; उसमें जो विरोध या श्लेष का संकर उसका विषय होना। अर्थात् वह विषय होता है। किसका! वाच्यालंकार का, वाच्यालंकृति का अर्थात् वाच्यालंकृतित्व का।

तारावती

यह अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है। (२) 'विभवरत' शब्द का अर्थ है 'ऐसे स्थान से प्रेम करनेवाली जहां शङ्कर जी न हों।' जो गौरी अर्थात् पार्वती हैं वे ऐसे स्थान से प्रेम करनेवाली कैसे हो सकती हैं जहां शङ्कर जी न हों? यह विरोध है। विरोध का परिहार इस प्रकार हो जाता है—कि वे प्रमदायें गौर वर्ण की और सम्पत्ति में रत हैं। (३) जो श्यामा अर्थात् काली हैं वे पद्म (कमल) के समान लाल रंग की किस प्रकार हो सकती हैं? यह विरोध है। श्यामा अर्थात् षोडशी हैं और पद्मराग नामक रत्न, धारण किये हैं, इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाता है। (४) जो धवलद्विज अर्थात् उत्कृष्टकोटि के ब्राह्मण के समान पवित्र मुखवाली हैं उनकी निःश्वास में मदिरा की गन्ध कैसे आ सकती है? यह विरोध है। 'निर्मल द्विज अर्थात् दांतों के कारण पवित्र मुखवाली' यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। यहांपर विरोधालङ्कार ध्वनित होता है।

यहांपर न तो यहीं कहा जा सकता है कि विरोधाभास अलङ्कार ही वाच्य है और न यही कहा जा सकता है कि विरोधाभास अलंकार में चारुता का आधान करनेवाला श्लेष ही वाच्य है। क्योंकि यहांपर साक्षात् शब्द के द्वारा विरोधालंकार का प्रकाशन नहीं हुआ है। श्लेषानुगृहीत वाच्यविरोधाभास का विषय ऐसा काव्य होता है जहां श्लेषोक्ति के काव्यरूपता को धारण करने पर जो विरोध अथवा श्लेष अलंकार हो उसका निवेदन साक्षात् शब्द के द्वारा कर दिया जावे। 'विरोध अथवा श्लेष' में अथवा शब्द का अर्थ है चाहे उसे हम

ध्वन्यालोकः

यथा तत्रैव—

"समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि—सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः।" इत्यादौ।

(अनु०) जैसे वहाँ पर 'मानो उसके बालान्धकार के सन्निहित रहते हुये भी उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी।' इत्यादि में।

लोचन

तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वं सुवचमितियावत्। बालेषु केशेष्वन्धकारः कार्ष्ण्यम्, बालः प्रत्यग्रश्चान्धकारस्तमः।

उसी विरोध या श्लेष में वाच्यालंकृतित्व सरसता से कहा जा सकता है। बालों में अर्थात् केशों में अन्धकार अर्थात् कालापन और बाल अर्थात् ताजा अन्धकार।

तारावती

विरोधालंकार कहें चाहे श्लेष अर्थात् जहां पर इन दोनों अलंकारों का संकर अलंकार हो (ऐसा विषय किसका होता है ? वाच्यालंकृतित्व का। आशय यह है कि विरोध-श्लेष संकर की विषयता या प्रयोजकता ऐसे ही स्थान पर होती है जहां इन दोनों अलङ्कारों का निवेदन साक्षात् शब्द के द्वारा कर दिया गया हो। ऐसे ही स्थान पर विरोध या श्लेष में वाच्यालंकारता सुविधापूर्वक कही जा सकती है। जैसे भट्टबाण के ही हर्षचरितसार में एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—'वहांपर मानों विरोधी पदार्थों का समवाय था। वह इस प्रकार-बालान्धकार के सन्निहित रहते हुये भी उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी।' 'उसके अन्दर बाल अर्थात् ताजा अन्धकार अर्थात् तम विद्यमान था तथापि उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी' यह विरोध है। 'उसके बालों में अन्धकार अर्थात् कालिमा विद्यमान थी' यह अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है।

(यहांपर भट्टबाण के दो उद्धरण दिये गये हैं—'यत्र च......प्रमदा' यह उदाहरण विरोधाभास ध्वनि का है और 'समवाय इव......भास्वन्मूर्तिः' यह वाच्य विरोधाभास का है। महिम भट्ट ने ध्वनि के उदाहरण का यह कहकर खण्डन किया है कि वहांपर 'च' का प्रयोग ही अलंकार को वाच्य बना देता है। इसी खण्डन को सही मानकर लोचनकार ने इसी अरुचि के आधार पर दूसरे उदाहरण की योजना की सङ्गति लगाई है।) (प्रश्न) पूर्वोक्त उदाहरण में भी दो विरोधी धर्मों को 'और' के द्वारा जोड़ा गया है। 'मातङ्गगामिनी और सुशीलता से युक्त' 'गौरी और विभव-रत' 'श्यामा और पद्मरागिणी' इत्यादि। यह और के द्वारा जोड़ना ही विरोध को वाच्य बना देता है। यदि यहांपर 'और' का प्रयोग समुच्चयार्थक होता और यदि यहाँपर विरोध वाच्य न होता तो या तो और का प्रत्येक विशेषण के साथ अथवा एक बार अन्तिम विशेषण के पहले प्रयोग होता या कहीं पर भी प्रयोग न होता। इस प्रकार पूर्वोक्त

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते।

(अनु०) अथवा जैसे मेरा ही—

'सभी के एकमात्र शरण, अक्षय, अधीश, बुद्धि के स्वामी, हरि, कृष्ण, चतुर आत्मावाले, निष्क्रिय, अरिमथन चक्रधर को नमस्कार करो।'

यहां पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप विरोध स्पष्टरूप में ही प्रतीत हो रहा है।

लोचन

ननु मातङ्गेत्यादावपि धर्मद्वये यश्चकारः सः विरोधद्योतक एव। अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न क्वचिद्वा चकारः स्यात्, यदि समुच्चयार्थं, स्यादित्यभिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह-यथेति। शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम्। यो न धीशः स कथं धियामीशः। यो हरिः कपिलः सः कथं कृष्णः। चतुरः पराक्रमयुक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः। अरीणामरयुक्तानां च यो नाशयिता स कथं चक्रं बहुमानेन धारयति। विरोध इति। विरोधनमित्यर्थः। प्रतीयत इति। स्फुटं नोच्यते केनचिदिति भावः।

(प्रश्न) मातङ्ग इत्यादि दोनों धर्मों में ही जो चकार वह विरोध का द्योतक ही है। नहीं तो यदि समुच्चयार्थक होता तो प्रत्येक धर्म में या सब धर्मों के अन्त में (चकार होता) या कहीं न होता। इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा' इति। शरण अर्थात् गृह; वह अक्षयरूप अर्थात् अगृह कैसे ? जो धीश (धी + ईश) नहीं वह बुद्धियों का स्वामी कैसे ? जो हरि अर्थात् कपिल वह कृष्ण कैसे ? चतुर अर्थात् पराक्रमयुक्त जिसकी आत्मा वह निष्क्रिय कैसे ? अरियों का अर्थात् अरयुक्तों का नाश करनेवाला वह कैसे चक्र को बहुत आदर से धारण करता है ? विरोध इति। अर्थात् विरोध की क्रिया। 'प्रतीत होता है' अर्थात् किसी के द्वारा स्फुटरूप में नहीं कहा जाता।

तारावती

उदाहरण में भी किस प्रकार विरोध व्यङ्ग्य माना जा सकता है ? (उत्तर) यदि ऐसा है तो फिर आनन्दवर्धन का ही लिखा हुआ यह श्लोक भी उदाहरण के रूप में ले लीजिये—

'जो एकमात्र सभी को शरण देनेवाला है, जो अक्षय है, अधीश है, बुद्धि का स्वामी है, हरि है, कृष्ण है, चतुर आत्मावाला है, निष्क्रिय है, अरिमथन है, चक्रधर है, उसे नमस्कार करो।'

शरण और क्षय इन दोनों शब्दों का अर्थ है घर। जो स्वयं अक्षय है अर्थात् घररहित है, वह दूसरे को शरण अर्थात् घर कैसे दे सकता है ? यह विरोध है। अक्षय का अर्थ अविनाशी

ध्वन्यालोकः

एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते। यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलाऽनुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः। इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः।

(अनु०) इस प्रकार का व्यतिरेक भी देखा जाता है। जैसे मेरा ही पद्य—

'अन्धकार को नष्ट करनेवाले जो आकाश को अत्यन्त उज्ज्वल कर देते हैं या जो नखोद्भासी हैं; जो कमल की शोभा को भी पुष्ट करते हैं या जो कमल की कान्ति को तिरस्कृत करते हैं; जो पर्वतों के शिरों पर सुशोभित होते हैं या जो अमरों के शिरों को आक्रान्त करते हैं; दिनपति के दोनों प्रकार के पाद आप लोगों का कल्याण करनेवाले हों।'

इसी प्रकार और भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि के प्रकार हैं; उनका अनुसरण सहृदयों को स्वयं करना चाहिये। यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनका प्रपञ्च नहीं किया गया।

लोचन

नखैरुद्भासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्भासन्ते। उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गुलीपार्ष्ण्याद्यवयविरूपाश्चेत्यर्थः॥ २१॥

नखों से जो अवश्य उद्भासित होते हैं; ख अर्थात् आकाश में शोभित नहीं होते। दोनों ही रश्मि आत्मावाले और अङ्गुली एड़ी इत्यादि अवयवीरूप यह अर्थ है॥ २१॥

तारावती

और शरण का अर्थ त्राण कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता हैं। जो अधीश (अ+धी+ईश) अर्थात् बुद्धि का ईश नहीं है वह 'धियाम् ईशः' बुद्धि का स्वामी भी है यह विरोध है। अधीश का अर्थ अधिपति करलेने पर उसका परिहार हो जाता है। जो हरि (कपिश-वर्ण का) है वह कृष्ण (काला) कैसे हो सकता है? यही विरोध है। हरि और कृष्ण दोनों भगवान् के नाम हैं इस प्रकार इस विरोध का परिहार हो जाता है। जो चतुर (पराक्रम युक्त) आत्मावाला है वह निष्क्रिय अर्थात् क्रिया-शून्य कैसे हो सकता है? यही विरोध है। चतुर का बुद्धिमान् और निष्क्रिय का निर्लिप्त अर्थ कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है। 'अरि' (आरोंवाले रथ के चक्र) को मथन करनेवाला (तोड़नेवाला) चक्र (पहिया) धारण करनेवाला नहीं हो सकता। यह विरोध है। अरिमथन (शत्रुनाशक) और चक्र (शस्त्र) को धारण करनेवाला अर्थ कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है।

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः॥ २२॥

यथार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः। यथा—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

(अनु०) 'अर्थशक्त्युद्भव (एक) अन्य प्रकार है जिसमें वह अर्थ प्रकाशित होता है जो स्वतः तात्पर्य से बिना ही युक्ति के दूसरी वस्तु को व्यक्त कर देता है॥ २२॥

जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से ही शब्द व्यापार के बिना ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर देता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणनोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है। जैसे—

"देवर्षि के इस प्रकार कहते हुये (कहने के समय) पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचे को मुख किये हुये लीलाकमल पत्रों को गिनने लगी।"

तारावती

यहाँपर विरोध अर्थात् विरोधनक्रिया-मूलक अलङ्कार वाच्य नहीं हो सकता किन्तु शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप ध्वनि स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रही हैं क्योंकि यहाँपर कोई शब्द ऐसा नही है जो कि विरोध को साक्षात् वाच्य बना दे।

व्यतिरेकालंकार की भी इसी प्रकार की ध्वनि देखी जाती है। जैसे—

"दिनपति के दोनों प्रकार के पाद (किरणें तथा चरण) आप लोगों का कल्याण करनेवाले हों। दोनों ही तम का नाश करनेवाले हों। (किरण अन्धकार का नाश करती हैं और चरण अज्ञान का नाश करते हैं।) एक तो (किरणें) आकाश को अत्यन्त उज्ज्वल बना देती हैं और दूसरे (चरण) नखोद्भासी हैं। एक तो (किरणें) कमलों की कान्ति को पुष्ट करनेवाली हैं और दूसरे (चरण) कमलों की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले हैं। एक तो (किरणें) पर्वतों के मस्तकों पर शोभित होती हैं और दूसरे (चरण) प्रणामकाल में देवताओं के शिरों को आक्रान्त कर लेते हैं।"

यहाँपर व्यतिरेकालंकार की शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि है। क्योंकि चरणों और किरणों के महत्त्व का एक दूसरे से तारतम्य बतलाया गया है। किरणें आकाश को उज्ज्वल करती हैं और चरण (न+ख+उद्भासी) आकाश में अवश्य ही प्रकाशित न होनेवाले अथवा नखों से शोभित होनेवाले हैं। 'उभये' अर्थात् 'दोनों' का अर्थ हैं किरणात्मकपाद और अङ्गुली एड़ी इत्यादि अवयवीरूप पाद। यहाँ नखोद्भासी शब्द के द्व्यर्थक होने के कारण ध्वनि निकलती है इसीलिये यह शब्दशक्तिमूलक व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है। (महिमभट्ट ने इस

लोचन

एवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयति अर्थेति। अन्य इति। शब्दशक्त्युद्भवात्। स्वतस्तात्पर्यणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वननव्यापार-माह नतु तात्पर्यशक्तिम्। सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तम् प्राक्। अनेनैवाशयेन वृत्तौ व्याचष्टे—यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति। स्वत इति शब्दः स्वशब्देन व्याख्यातः। उक्ति विनेति व्याचष्टे—शब्दव्यापारं विनैवेति। उदाहरति यथा एवमिति।

इस प्रकार शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि को कहकर अर्थशक्त्युद्भव को दिखलाते है—अर्थेति। अन्य का अर्थ है शब्दशक्त्युद्भव से भिन्न 'स्वतः तात्पर्य से' यह अभिधा व्यापार निराकरणपरक ध्वनन व्यापार को कहता है तात्पर्य शक्ति को नहीं। यह वाक्यार्थप्रतीति में ही उपक्षीण हो चुकी यह पहले ही कह चुके हैं। इसी आशय से वृत्ति में व्याख्या की गई है—'जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से' इत्यादि। स्वतः इस शब्द की स्वशब्द से व्याख्या की गई है। 'उक्ति के बिना' इसकी व्याख्या करते हैं—'शब्द व्यापार के बिना ही'। उदाहरण देते हैं—जैसे 'एवम्.........' इत्यादि।

तारावती

उदाहरण को अनुमान में गतार्थ करने की चेष्टा की है। किन्तु अनुमान से व्यञ्जना गतार्थ नहीं होती इसका वर्णन विशेष रूप से प्रथम उद्योत में किया जा चुका है। वहीं देखना चाहिये।)

शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनियों के दूसरे भी प्रकार हैं। सहृदयों को चाहिये कि वे उनका स्वयं अनुशीलन करें। यहाँ पर उन सबकी अधिक व्याख्या इसलिये नहीं की जावेगी कि उससे ग्रन्थ के अधिक विस्तृत हो जाने का भय है।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

ऊपर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी। अब लेखक अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को दिखला रहा है—

'ध्वनि का एक दूसरा प्रकार है अर्थशक्तिमूलक ध्वनि। इसमें वाच्यार्थ ऐसा हुआ करता हैं जो स्वतः तात्पर्य के द्वारा एक ऐसे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता हैं जिसका अभिधान वाक्य में किसी शब्द के द्वारा नहीं किया गया होता हैं।'

'दूसरा ही' का अर्थ है—शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि से भिन्न। 'स्वयं ही तात्पर्य के द्वारा' कहना अभिधा व्यापार का निराकरण करनेवाला है। इसका आशय यह है कि दूसरा अर्थ ध्वननव्यापार के द्वारा निकलता हैं। यहाँ पर तात्पर्य शब्द का अर्थ तात्पर्यवृत्ति नहीं है। क्योंकि यह तो पहले ही (प्रथम उद्योत में ही) बतलाया जा चुका हैं कि तात्पर्यवृत्ति वाच्यार्थ-प्रतीति में ही उपक्षीण हो जाती हैं। इसी आशय से वृत्ति में व्याख्या की गई है कि 'जहाँ पर अर्थ स्वसामर्थ्य से बिना ही शब्दव्यापार से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है वह, अर्थ-शक्त्युद्भव नाम को अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है।' कारिका के 'स्वतः' शब्द की

ध्वन्यालोकः

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यः रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः। यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम्। इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः।

(अनु०) यहाँपर लीलाकमल-पत्र का गिनना अपने स्वरूप को उपसर्जन (गौण) बनाकर विना ही शब्दव्यापार के व्यभिचारी भावात्मक दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है। यह अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का ही विषय है यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जहाँपर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से रस इत्यादि की प्रतीति होती है केवल वही उसका मार्ग होता है। जैसे कुमारसम्भव में वसन्त-वर्णन के प्रसङ्ग में, वसन्त पुष्पाभरणों को धारण किये हुये देवी के आगमन इत्यादि का मनोभव-शरसन्धान पर्यन्त वर्णन तथा परिवृत्त धैर्यवाले भगवान् शिव की चेष्टा इत्यादि का वर्णन साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किया गया है। यहाँपर तो सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारियों के द्वारा रस की प्रतीति होती है। अतः यह ध्वनि का दूसरा ही प्रकार है।

लोचन

अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम्। साक्षादिति। व्यभिचारिणां यत्रालक्ष्यक्रमतया व्यवधिवन्ध्यैव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वम् विवक्षितमिति न पूर्वापरविरोधः। पूर्वं हि उक्तम्—व्यभिचारिणामपि भावत्वान्न स्वशब्दतः प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रास्त्वलक्ष्यक्रमः। यथा—

अर्थान्तर का अर्थ है लज्जात्मक। साक्षादिति। अलक्ष्यक्रम होने के कारण जहाँ व्यभिचारियों की अपने विभाव इत्यादि के बल पर व्यवधानशून्य ही प्रतिपत्ति होती है वहाँ साक्षात् शब्दनिवेदितत्व ही विवक्षित है इस प्रकार पूर्वापर विरोध नही होता। पहले विस्तारपूर्वक कहा गया है कि व्यभिचारियों की भाव होने के कारण स्वशब्द से प्रतिपत्ति नहीं होती। यह बात कही हुई है—यद्यपि रसभाव इत्यादि अर्थ ध्वन्यमान ही होता है कहीं भी वाच्य नहीं होता तथापि सब अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय नहीं होता। जहाँ निस्सन्देह स्थायीगत और व्यभिचारीगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से शीघ्र ही रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वह अलक्ष्यक्रम बना रहे। जैसे—

लोचन

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या॥

इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावतायोग्यस्वभाववर्णनम्।

प्रतिगृहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः।

'इसके बाद लगभग बुझे हुये इनके पराक्रम को शरीर के गुण से प्रदीप्त सा करती हुई वनदेवियों द्वारा पीछे जाई जाती हुई स्थावरराजकन्या दृष्टिगत हुई।'

इत्यादि में सम्पूर्ण आलम्बन और उद्दीपन विभावता के योग्य स्वभाव का वर्णन है।

'प्रणयीजनों के प्रेम होने के कारण त्रिलोचन (शङ्कर) ने उस पूजा को ग्रहण करना प्रारम्भ किया और पुष्प-धनुषधारी (कामदेव) ने सम्मोहन नाम के अमोघ वाण को धनुष पर रक्खा।'

इससे विभावता का उपयोग बतलाया गया।

तारावती

व्याख्या 'स्व' शब्द के द्वारा की गई है और कारिका के 'उक्ति विना' शब्द की व्याख्या 'शब्दव्यापार के बिना ही' इन शब्दों के द्वारा की गई है। उदाहरण देते हैं—

'जिस समय देवर्षि नारद इस प्रकार (पार्वती के विवाह के विषय में) बातचीत कर रहे थे, उस समय पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये हुये पार्वती लीला-कमलपत्रों को गिन रही थीं।'

यहाँ पर लीला-कमलपत्रों की गणना गौण होकर बिना ही किसी दूसरी शब्दवृत्ति की अपेक्षा किये हुये पार्वती के लज्जा-रूप एक दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यह लज्जा एक व्यभिचारी भाव है। (प्रश्न) यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ३३ प्रकार के व्यभिचारी भावों की ध्वनि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का ही विषय है। फिर यहाँ पर संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य के प्रकरण में यह उदाहरण देना कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है? (उत्तर) असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य वहाँ पर होता है जहाँ पर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदन किये हुये विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के बलपर रस इत्यादि की प्रतीति होती हो। (प्रश्न) पहले बतलाया जा चुका है कि व्यभिचारी भाव कभी स्वशब्दवाच्य नहीं होते। उससे विरोध पड़ता है? (उत्तर) साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किये हुये होने का आशय यह है कि जहाँ पर व्यभिचारियों की प्रतीति अपने विभाव इत्यादि के बलपर हो रही हो और न तो उन दोनों के मध्य में कोई क्रम लक्षित किया जा सके और न दोनों में कोई व्यवधान ही दृष्टिगत हो रहा हो तथा विभावादि से व्यभिचारियों की प्रतीति एकदम हो जावे वही असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का

लोचन

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

अत्र हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात्प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति । व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम् । इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयम्, अपि तु प्राग्वृत्ततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव । रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षया अलक्ष्यक्रमतैव । लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम् । अमुमेव भावमेवशब्दः केवलशब्दश्च सूचयति ।

'चन्द्रोदय के आरम्भ में अम्बुराशि के समान कुछ विचलित धैर्यवाले शङ्कर जी ने विम्बफल के समान अधरोष्ठवाले उमामुख पर विलोचनों को प्रेरित किया ।'

यहाँ पर निस्सन्देह भगवती के उनकी ओर झुके होने के कारण और इस समय उनकी ओर उन्मुख हो जाने से और प्रणयी लोगों के प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के गाढ़ हो जाने से अपने रत्यात्मक स्थायी भाव के और औत्सुक्य, आवेग, चापल्य, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी का साधारणीभूत अनुभाववर्ग प्रकाशित हुआ है । इस प्रकार विभाव और अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है । व्यभिचारियों की परतन्त्रता से ही माला-सूत्रवत् स्थायिचर्वणा में विश्रान्त होने से अलक्ष्यक्रमत्व (माना जाता है) । यहाँ कमलदल गणना और नीचे मुख करना कुमारियों का दूसरी प्रकार से भी सम्भावित किया जा सकता है । इस प्रकार शीघ्र ही हृदय को लज्जा में विश्रान्त नहीं कर देता । अपितु पहले सम्पन्न हुई तपश्चर्या इत्यादि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उसमें प्रतिपत्ति कर देता है । इस प्रकार क्रमव्यङ्ग्यता ही है । रस तो यहाँ पर भी दूर से ही व्यभिचारी के स्वरूप को पर्यालोचना करने पर शोभित होता है अतः उपेक्षा से अलक्ष्यक्रमता ही (मानी जावेगी) । लज्जा की अपेक्षा तो वहाँ पर लक्ष्यक्रमता ही (है) । रसविभाव को एवशब्द और केवल शब्द सूचित करते हैं ।

तारावती

विषय होता है और उसी का साक्षात् शब्दवाच्य कहा जाना अभिमत है । इस प्रकार पूर्वापर विरोध नहीं आता । यह विस्तारपूर्वक पहले ही दिखलाया जा चुका है कि व्यभिचारी भाव भी एक प्रकार के भाव ही होते हैं; अतः उनकी भी प्रतिपत्ति स्वशब्द से नहीं होती (जैसे स्थायी भावों और रसों की प्रतिपत्ति स्वशब्द के द्वारा नहीं हुआ करती है ।) इस प्रकरण को इस प्रकार समझिये—यद्यपि रस भाव इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि (व्यञ्जना) का ही विषय

तारावती

होता है; यह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता तथापि सभी रस भाव इत्यादि अर्थ असंलक्ष्यक्रम का ही विषय नहीं होते। जहाँ पर विभाव अनुभाव इत्यादि समस्त वाच्यार्थ पूर्णता को प्राप्त हो गये हों और या तो वे स्थायीभाव-प्रवण हों या व्यभिचारीभाव-प्रवण हों तथा उनसे शीघ्र ही (एकदम) रसाभिव्यक्ति हो जावे वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। उदाहरण के लिये कुमारसम्भव का वसन्त-वर्णनवाला वह प्रकरण लीजिये जिसमें वसन्त पुष्पों के आभूषण धारण किये हुये देवी पार्वती का शङ्कर जी के निकट आने का वर्णन किया गया है—

'इसके उपरान्त स्थावर (जड़-जगत्) के स्वामी हिमालय की पुत्री पार्वती दृष्टिगोचर हुईं जिनके पीछे वन-देवियाँ भी आ रही थीं और जो मानों अपने शरीर-सौन्दर्य के प्रभाव से लगभग बुझे हुये कामदेव के पराक्रम को प्रज्ज्वलित कर रही थीं।'

यहाँ पर पार्वती आलम्बन हैं; वसन्तपुष्पाभरण इत्यादि उद्दीपन हैं। इस प्रकार विभाव के सम्पूर्ण योग्य स्वभाव का इसमें वर्णन किया गया है।

"जैसे ही त्रिलोचन शङ्कर जी ने प्रणयीजनों के प्रेमी होने के कारण उस पूजा का प्रतिग्रह करना प्रारम्भ किया वैसे ही पुष्पधनुषधारी कामदेव ने धनुष पर सम्मोहन नाम के एक अमोघ बाण को रक्खा।"

यहां पर पूर्वोक्त विभाव (पार्वती इत्यादि की उपस्थिति) का उपयोग बतलाया गया है।

"जिस प्रकार चन्द्रोदय के प्रारम्भ में महासागर क्षुब्ध हो उठता है। उसी प्रकार भगवान् शङ्कर का धैर्य च्युत हो गया और उन्होंने अपने समस्त नेत्रों को बिम्बफल के समान रक्त अधरोष्ठवाले उमा के मुख पर (सतृष्णरूप में) डाला।"

भगवती उमा तो पहले से ही शङ्कर में अनुरक्त थीं और शङ्कर जी इस समय उमा की ओर उन्मुख हो गये हैं। दूसरी बात यह है कि शङ्कर जी प्रणयीजनों के प्रिय भी हैं। इन्हीं सब कारणों से उमा के प्रति शंकर जी का झुकाव सूचित होता है जोकि प्रगाढता को प्राप्त होनेवाली रति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वही रतिभाव स्थायीभाव बनकर श्रृङ्गार रस का रूप धारण कर रहा है। इसके अतिरिक्त औत्सुक्य, आवेग, चापल्य और हर्ष इत्यादि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति होती है। यहां पर वर्णन किया हुआ अनुभावों का समूह एक ओर स्थायीभाव रति से सम्बन्ध रखता है, दूसरी ओर व्यभिचारियों से भी सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार विभाव अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारीभावों की चर्वणामें परिणत हो जाती है और उसका व्यभिचारियों के आस्वादन में ही पर्यवसान हो जाता है। जिस प्रकार माला में फूल सर्वदा सूत के आधीन रहते हैं उसी प्रकार व्यभिचारीभाव सर्वदा स्थायीभाव के ही आधीन रहते हैं और व्यभिचारियों के परतन्त्र रहने से आस्वादन का विराम स्थायीभाव या रस में ही होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि देवी के आगमन के वर्णन से

ध्वन्यालोकः

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः। यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम्।

(अनु०) और जहाँ पर शब्दव्यापार सहायक अर्थ दूसरे अर्थ की व्यञ्जकता के रूप में गृहीत होता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता। जैसे—

'विट को सङ्केत-काल जानने की इच्छा करते युये जानकर चतुर नायिका ने हंसते हुये नेत्रों से अभिप्राय-सूचक सङ्केत देते हुये लीला-कमल को सिकोड़ दिया।'

यहाँ लीलाकमल-निमीलन की व्यञ्जकता उक्ति के द्वारा ही निवेदित कर दी है।

तारावती

लेकर कामदेव के शरसंधान और शंकर जी की धैर्यपरिवृत्ति तक जितना भी वर्णन किया है; उससे व्यक्त होनेवाले विभाव और अनुभाव के द्वारा व्यभिचारीभाव एकदम व्यक्त हो जाते हैं। इसीलिये इसे साक्षात् शब्द से अभिव्यक्त होनेवाला कहते हैं और इसीलिये इसे असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। अब उपर्युक्त 'जिस समय..........गिन रही थीं।' को लीजये। कुमारिकाओं का नीचे को मुँह कर लेना और लीलाकमल की पंखुडियों को गिनने लगना स्वाभाविक भी हो सकता है तथा अन्य भी किसी कारण से सम्भव है। अतएव इसका पर्यवसान एकदम लज्जा में नहीं होता। किन्तु जब पार्वती की तपश्चर्या इत्यादि समस्त प्राचीन वृत्तान्त का स्मरण आ जाता है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि पार्वती का अनुराग शंकर जी के प्रति पहले से ही विद्यमान है और नारद शंकर जी के विवाह के विषय में ही बात-चीत कर रहे हैं तब पार्वती जी के मुख नीचा करने और लीला-कमल पत्तों के गिनने का सम्बन्ध लज्जा नामक व्यभिचारीभाव से हो जाता है। इस प्रकार क्रम के लक्षित होने के कारण इसे संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ही कहते हैं। अतएव यह असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य से भिन्न ध्वनि का नया ही प्रकार है। यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि केवल व्यभिचारी भाव की प्रतीति विलम्ब में होती है। व्यभिचारीभाव की पर्यालोचना करने पर रस की प्रतीति शीघ्र हो जाती है। अतएव रस की दृष्टि से असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहेंगे और व्यभिचारीभाव की दृष्टि से संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। इसी आशय को लेकर 'असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का ही विषय है' और 'केवल असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय है' इन दोनों वाक्यों में 'ही' और 'केवल' इन दो शब्दों का प्रयोग वृत्तिकार ने प्रस्तुत कारिका की व्याख्या के अवसर पर किया है।

२२वीं कारिका में कहा गया है कि 'जहाँ पर वाच्यार्थ बिना ही उक्ति के दूसरे अर्थ को व्यक्त करे वहाँ पर अर्थशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है' यहाँ पर 'बिना ही

लोचन

'उक्तिं विने'ति यदुक्तं तद्व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमुपक्रमते यत्र चेति। चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे। अस्येति। अलक्ष्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः। उदाहरति—सङ्केतेति। व्यञ्जकत्वमिति। प्रदोषसमयं प्रतीतिशेषः। उक्त्यैवेति। आद्यपदत्रयेणेत्यर्थः। यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधाशक्तिः पदस्येति व्यञ्जकत्वं न विघटितम्, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जक इति। ततश्च ध्वनेर्यद्गोप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं तदपहस्तितम्। यथा कश्चिदाह—गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं कोऽपि वेद न सूचितम्। किञ्चिद्ब्रवीमि' इति। तेन गाम्भीर्यसूचनार्थः प्रत्युत आविष्कृत एव। अत एवाह व्यञ्जकत्वमिति उक्त्यैवेति च॥ २२॥

'उक्ति के बिना' जो यह कहा उसके व्यवच्छेद्य को दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—'यत्र च' इत्यादि। 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। 'अस्य' इति। भाव यह है कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उदाहरण देते हैं—'संकेत' इति। व्यञ्जकत्वमिति। यहाँ प्रदोष समय के प्रति यह शेष है। 'उक्ति से ही'। अर्थात् प्रथम तीन पादों के द्वारा। यद्यपि यहाँ पर दूसरे शब्द के सन्निधान में भी प्रदोष अर्थ के किसी पद की अभिधा शक्ति नहीं है, अतः व्यञ्जकत्व विघटित नहीं होता। तथापि शब्द के द्वारा कहा हुआ ही यह अर्थ दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है। इससे ध्वनि का जो गोप्यमानता के साथ प्रकट हुआ चारुत्वरूप प्राण वह समेट लिया गया। जैसे कोई कहता है—'मैं गम्भीर हूँ मेरे कार्य को कोई नहीं जानता और न सूचित को ही, अतः मैं कुछ कहता हूँ' यहाँ पर गाम्भीर्य सूचक अर्थ प्रत्युत आविष्कृत कर ही दिया गया। इसीलिये कहते हैं—'व्यञ्जकत्व' यह और 'उक्ति के द्वारा ही' यह॥ २२॥

तारावती

उक्ति के' कहने का आशय क्या है? यह दिखलाया जा रहा है। 'और जहाँ पर एक अर्थ शब्द के व्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ को व्यक्त करता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता।' इस वाक्य में 'और' का अर्थ है 'तो' अर्थात् उक्त संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रतिकूल जहाँ पर शब्दव्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ का बोध हो वहां पर ध्वनि नहीं होतो। 'इस ध्वनि का' कहने का आशय यह है कि ऐसा स्थान असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसध्वनि का तो विषय हो ही सकता है। उदाहरण—

'विदग्ध नायिका ने विट (उपनायक) को संकेतकाल की जिज्ञासा करते हुये जानकर विकसित नेत्रों के द्वारा अपने आशय को व्यक्त करते हुये लीला-कमल को सिकोड़ लिया।'

यहां पर लीलाकमल के निमीलन के द्वारा यह व्यञ्जना निकलती है कि मिलने का समय रजनीमुख है जब कि कमल सिकुड़ जाते हैं। लीलाकमलनिमीलन प्रदोष समय का व्यञ्जक है। प्रथम तीन पादों के द्वारा चौथे पाद की व्यञ्जकता अभिहित कर दी गई है। यद्यपि दूसरे शब्द के निकट होते हुये भी यहां पर कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे रजनीमुख का अर्थ

ध्वन्यालोकः

तथा च—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः॥ २३॥

शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

और इसी से—

'शब्दार्थशक्ति से आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ पुनः अपनी उक्ति के द्वारा ही आविष्कृत कर दिया जाता है वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही (वस्तु) अलङ्कार होता है॥ २३॥

शब्दशक्ति के द्वारा, अर्थशक्ति के द्वारा अथवा शब्दार्थशक्ति के द्वारा आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ फिर से अपनी उक्ति से प्रकाशित कर दिया जाता है वह इस अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि से और ही (वस्तु) अलङ्कार होता है। यदि सम्भव हो तो अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का वह वैसा अलंकार होता है।

तारावती

निकले। अतएव यहांपर व्यञ्जना विघटित नहीं होती अर्थात् दूसरा अर्थ व्यञ्जना से ही निकलता है इसमें किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं पोता। किन्तु फिर भी 'नायक सङ्केतकाल की जिज्ञासा रखता था, नायिका ने अपने अभिप्राय को व्यक्त किया इत्यादि वाक्यों के द्वारा यह कह ही दिया गया है कि लीला-कमल निमीलन में व्यञ्जना है। इस प्रकार एक अर्थ दूसरे ऐसे अर्थ को सूचित करता है जिसकी सूचना पृथक् रूप में उक्ति के द्वारा दे दी गई है। अतएव छिपाकर कहने से उद्भूतरमणीयता जो कि ध्वनि का प्राण है यहां पर गले में हाथ डालकर निकाल दी गई है। यह ऐसा ही है जैसे कोई कहे— 'मैं गम्भीर हूँ, न तो मेरे कार्यों को कोई जान पाता है और मेरे इङ्गित का ही किसी को ज्ञान हो पाता है। अतः मैं कुछ कह रहा हूँ।' वस्तुतः गम्भीरता कहने की वस्तु नहीं वह तो आकृति तथा व्यवहार से ही प्रकट होनी चाहिये, किन्तु इस व्यक्ति ने अपने मुख से ही कह दिया है कि 'मैं गम्भीर हूँ।' अतः इस गम्भीरता का महत्व ही जाता रहा। इसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भी 'विट सङ्केतकाल की जिज्ञासा कर रहा था और चतुर नायिका ने ऐसा किया' इन शब्दों को लिखकर कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को स्वयं ही वाच्य बना दिया। इसीलिये वृत्तिकार ने 'लीलाकमलनिमीलन व्यञ्जक है' तथा 'उक्ति के द्वारा ही निवेदित कर दिया।' ये शब्द लिखे हैं॥२२॥

तेईसवीं कारिका का अवतरण वृत्तिकार ने 'तथा च' शब्द के द्वारा किया है। 'तथा च'

लोचन

प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्–तथा चेति। तेन चोक्तप्रकारद्वयेनायमपि तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः। शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः। सान्यैवेति। न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः।

प्रक्रान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तृतीय प्रकार का सूचन एक ही यत्न से करूँ इस आशय से वृत्तिकार साधारण अवतरणपद का प्रक्षेप कर रहा है—तथा च इति। उन दोनों उक्त प्रकारों से यह भी तृतीय प्रकार माना जाना चाहिये यह अर्थ है। शब्द और अर्थ और शब्दार्थ इनका एकशेष है। 'सान्यैव'। अर्थात् वह ध्वनि नहीं है अपितु श्लेष इत्यादि अलङ्कार ही है।

तारावती

शब्द का अर्थ हैं 'पिछली बातें तथा कुछ और' इस प्रकार 'तथा च' शब्द से वृत्तिकार का मन्तव्य यह है कि जिन दो प्रकारों (शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक) का प्रकरण चल रहा है उनका उपसंहार भी इसी कारिका में हो जावेगा और नये प्रकार (शब्दार्थशक्तिमूलक) की सूचना भी इसी कारिका के द्वारा मिल जावेगी। इस प्रकार एक ही यत्न से तीनों कार्य हो जावेंगे इसी मन्तव्य से वृत्तिकार ने 'तथा च' इस सर्वसाधारण अवतरण पद का उपक्षेप किया है। इसका आशय यह है कि उक्त दोनों प्रकारों के द्वारा इस तृतीय प्रकार को भी समझ लेना चाहिये। शब्दार्थ शब्द में एकशेष द्वन्द्व है इसका विग्रह इस प्रकार होगा—शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। 'ध्वनेः सा अन्या अलंकृतिः' कारिका के इन शब्दों में 'ध्वनेः' यह रूप पञ्चमी और षष्ठी इन दो विभक्तियों में बनेगा। यदि यहां पर पञ्चमी विभक्ति मानी जावे तो इसका अर्थ होगा—'वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलङ्कार होता है।' अर्थात् वह ध्वनि नहीं होती अपितु श्लेष इत्यादि अलङ्कार होता है। यदि षष्ठी मानी जावे तो उसका अर्थ होगा—'वहां पर अलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि अलङ्कार्य के रूप में स्थित होती है और उसका अलङ्कार वह द्व्यर्थक शब्दों के बल पर आनेवाला व्यङ्ग्यार्थ होता है। वह व्यङ्ग्यार्थ यद्यपि अलङ्कार होता हैं तथापि वाच्यालङ्कारों की अपेक्षा वह भिन्न ही होता हैं क्योंकि उसमें लोकोत्तर चमत्कार का आधिक्य होता है। इसी भांति दो रूपों में व्याख्या वृत्ति में आगे चलकर की जावेगी।

अब शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार को लीजिये—समुद्र-मन्थन के अवसर पर जब लक्ष्मी जी प्रोद्भूत हुईं तब वे अत्यन्त त्रस्त थीं और यह निश्चय नहीं कर पा रहीं थीं कि किधर जावें किधर न जावें। उस समय समुद्र ने इन शब्दों के द्वारा लक्ष्मी को विष्णु की ओर प्रेरित कर दिया। समुद्र प्रकट रूप में तो कह नहीं सकता था कि तुम विष्णु के पास जाओ क्योंकि इससे अन्य देवताओं के रुष्ट हो जाने का भय था। अतः उसने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिससे

ध्वन्यालोकः

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं संत्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामितिभयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥

(अनु०) उनमें शब्दशक्ति का उदाहरण जैसे—

'हे पुत्री तुम विषाद को मत प्राप्त हो, तीव्र वेगवाले ऊपर को उठनेवाले श्वास का लेना छोड़ दो। यह क्या विचित्र बहुत बड़ा कम्पन तुम्हारे अन्दर हो रहा है। बल को नष्ट करनेवाले अङ्ग तोड़ने को आवश्यकता नहीं है। इधर जाओ। इस प्रकार समुद्र ने भयशमन के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर जिन्हें लक्ष्मी प्रदान की वे भगवान् आप लोगों के पाप का जला डालें।

समुद्र के कथन का देवताओं के प्रत्याख्यान का अर्थ—

'हे देवी तुम शङ्कर के पास मत जाओ। अग्नि और वायु को छोड़ दो। वरुण और ब्रह्मा जी तो तुम्हारे गुरु ही हैं। अभिमानी इन्द्र की आवश्यकता नही है। इधर (विष्णु की ओर) आओ।

लोचन

अथवा ध्वनिशब्देनालक्ष्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्रालङ्कारापेक्षया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः। एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याख्यास्यति। विषमत्तीति विषादः। ऊर्ध्वप्रवृत्तमग्निर्नामित्यत्र चार्थो मन्तव्यः। कम्पोऽपां पतिः को ब्रह्मा वा तव गुरुः। बलभिदा इन्द्रेण जृम्भितेन ऐश्वर्यमदमत्तेनेत्यर्थः। जृम्भितं च गात्रसंमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात्।

अथवा ध्वनि शब्द से अलक्ष्यक्रम (लिया जाता है।) उस अङ्गी अलङ्कार्य का वह दूसरा अर्थात् वाच्यालङ्कार की अपेक्षा अन्य व्यङ्ग्य और लोकोत्तर अलङ्कार होता है। इसी प्रकार वृत्ति में दो प्रकार की व्याख्या करेंगे। विष को जो खाता है वह विषाद (कहलाता है) 'ऊर्ध्वप्रवृत्त' यहाँपर अग्नि यह और अर्थ माना जाना चाहिये। 'कम्प' अर्थात् जल के पति और 'कः' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हारे गुरु हैं। जृम्भित अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त बलभिद् अर्थात् इन्द्र से क्या। जृम्भित अर्थात् गात्रसम्मर्दनात्मक (चेष्टा) आयासकारी होने के कारण बल को नष्ट कर देती है।

तारावती

प्रकट रूप में तो यह प्रतीत हो रहा था कि मानों समुद्र लक्ष्मी जी के त्रास का अपनोदन करना चाहता है किन्तु अप्रकट रूप में उसका अर्थ देवताओं की ओर से पृथक् करना था। समुद्रने

लोचन

प्रत्याख्यानमिति वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम्। सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृदये निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति। स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलितजलधितरङ्गभङ्गपर्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयता तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र याहीति चाभिनयविशेषेण सकलगुणादरदर्शकेन कृतम्। अत एव मन्थमूढामित्याह। इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं लक्ष्मीं कारयित्वा पयोधिर्यस्यै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं दहत्विति सम्बन्धः।

'प्रत्याख्यान करवाकर' इन वचनों से ही दूसरा अर्थ कहा जाता है यह निवेदन कर दिया। वह लक्ष्मी निस्सन्देह पुण्डरीकाक्ष को ही हृदय में धारण कर उठी थी इस प्रकार स्वयं ही दूसरे देवताओं का प्रत्याख्यान कर देती। स्वभावसुकुमार होनेके कारण मन्दराचल के आन्दोलन से (उठी हुई) समुद्र की तरङ्गों के भङ्ग से व्याकुल की हुई (लक्ष्मी) को प्रतिबोधित करनेवाले समुद्र ने उसके समर्थन का आचरण अन्यत्र दोषोद्घाटन और 'इधर आओ' इस विशेष प्रकार के अभिनय के द्वारा समस्त गुणों का आदर दिखलाते हुये कर दिया। इसीलिये मन्थन के कारण मूढ यह कहा। इस प्रकार उक्तप्रकार से भय निवारण के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान मन्थन के कारण मूढ लक्ष्मी को करवाकर समुद्र ने जिसको वह लक्ष्मी प्रदान कर दी वह आप सबके पापों को जला डाले यह सम्बन्ध है।

तारावती

कहा—'हे बेटी तुम विषाद को मत प्राप्त होओ।' इसका दूसरा अर्थ है 'तुम विष-पान करनेवाले शङ्कर जी का वरण मत करो क्योंकि जो विषपान करनेवाला है उसकी पत्नी बनकर तुम्हें सुख नहीं मिल सकेगा।' 'तुम ऊपर को प्रवृत्त होनेवाले अत्यन्त वेगशाली श्वसन (श्वास-प्रश्वास की किया) को छोड़ दो।' इसका दूसरा अर्थ है 'तुम्हें ऊर्ध्वप्रवृत्तिवाले अग्निदेव और अत्यन्त वेवगामी वायुदेव का परित्याग कर देना चाहिये। क्योंकि अग्निदेव सर्वदा ऊपर को ही जाते हैं जो नीचे देखता ही नहीं वह तुम्हारे सौन्दर्य को क्या समझ सकेगा और जो निरन्तर तीव्रगति से भागता ही रहता है उससे भी तुम्हें एक अच्छे पति प्राप्त होने की आशा नहीं रखनी चाहिये।' 'तुम्हारे अन्दर यह गुरु कम्पन कैसा हो रहा है? (कः कम्पः ते गुरुः) 'कः' का दूसरा अर्थ है ब्रह्मा और 'कम्प' का अर्थ है 'जल के देवता' अर्थात् वरुण। ये दोनों तो तुम्हारे गुरु ही हैं, ब्रह्मा जी तो पितामह कहे ही जाते हैं और लक्ष्मी जी का जन्म ही जल देवता (वरुण) से हुआ है अतः ये देवता तो लक्ष्मी के लिये पिता ही हैं; अतः इनसे विवाह की बात चलाना भी अधार्मिक है तथा अनुचित है। 'बल को भेदनेवाले अर्थात् आयास उत्पन्न करनेवाले 'जृम्भित' अर्थात् अंगों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। दूसरा अर्थ है 'जृम्भित' अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त 'बलभिद्' अर्थात् इन्द्र को वरण करने की आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकार भय के प्रशमन के बहाने से देवताओं का प्रत्याख्यान करवाकर समुद्र ने मन्थन

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निश्शेषागारकर्मश्रमशिथिलतनः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्॥

(अनु०) अर्थशक्ति से जैसे—

'यहाँ वृद्धा माँ सोती है; परिणत आयुवालों में अग्रणी पिता जी यहाँ सोते हैं; समस्त गृहकर्म के श्रम से शिथिल शरीरवाली कुम्भदासी यहाँ रहती हैं; मैं अभागिनी इसमें रहती हूँ, जिसके प्राणनाथ कुछ ही दिनों से बाहर चले गये हैं।' इस प्रकार तरुणी ने पथिक से अवसर कथन के बहाने के साथ सब बातें कही।

लोचन

अम्बेति। अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृदयैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः।

'अम्बा' इति। यहाँपर एक-एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा स्वयं कल्पित किया जाना चाहिये अतः स्वकण्ठ से नहीं कहा। व्याजशब्द का प्रयोग अपनी उक्ति है।

तारावती

के कारण मूढ लक्ष्मी जिन भगवान् को प्रदान कर दी वे भगवान् तुम्हारे पापों को जला डालें।' 'देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर' इन शब्दों के 'कराकर' में ण्यन्त प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। ण्यन्त का अर्थ यह होता हैं जहाँ एक व्यक्ति कोई एक कार्य स्वतः करे और उस कार्य के करने में प्रेरणा कोई दूसरा दे; इस अवस्था में जो प्रेरक कर्ता होता है उसी अर्थ में ण्यन्त प्रत्यय हो जाता है। यहां पर ण्यन्त प्रत्यय से व्यञ्जना निकलती है कि वह कमला पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु को ही हृदय में रखकर समुद्र से निकली थी और स्वयं भगवान् का ही वरण करना चाहती थी। वह तो स्वयं ही भगवान् का वरणकर अन्य देवों का प्रत्याख्यान कर देती। किन्तु एक तो वह स्वयं सुकुमार स्वभाव की थी उधर मन्दराचल ने समुद्र के जल को भलीभाँति आलोडित-विलोडित कर डाला था। इससे समुद्र में भयानक लहरें उठीं और टूट टूट कर पुनः पुनः आने लगीं जिससे लक्ष्मी जी अत्यन्त व्याकुल हो गई। अतः वे सरलतापूर्वक अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकतीं थीं। इसीलिये समुद्र ने उसको प्रतिबोधित कर शिव इत्यादि में दोष दिखलाकर लक्ष्मीजी के अभीष्ट का समर्थन कर दिया। 'इधर को जाओ' इन शब्दों के विशेषप्रकार के अभिनय के द्वारा उसने भगवान् विष्णु की ओर सङ्केत किया जो कि समस्त गुणों के प्रति आदर दर्शक अभिनय था। इस अभिनय के द्वारा यही व्यक्त होता था कि इनमें कोई दोष नहीं है प्रत्युत गुण भरे हुये हैं। और तुम्हारे योग्य वर यही हो सकते हैं। इसीलिये लक्ष्मी जी का विशेषण दिया है 'मन्थमूढां'। यहां पर शब्दों

तारावती

की सम्बन्ध-योजना इस प्रकार होगी—'इस भांति अर्थात् उक्त प्रकार ये भय निवारण के बहाने से देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर मन्थन के कारण मूढ़ लक्ष्मी को समुद्र ने जिन भगवान् को प्रदान कर दिया वे भगवान् आप लोगों के समस्त पापों को जला डालें।' यह कहकर कवि ने शब्दशक्ति के बलपर आई हुई व्यञ्जना को स्वयं अभिहित कर दिया। अतएव यहां पर अलङ्कार ही है ध्वनि नहीं।

अब अर्थशक्ति के बल पर अधिगत व्यङ्ग्यार्थ के अलङ्कार होने का एक उदाहरण लीजिये—कोई पथिक रात्रि में निवासस्थान प्राप्त करने की आशंका प्रगट कर रहा है। उसका उत्तर देते हुये स्वयंदूतिका नायिका कह रही हैं—

'यहां पर मेरी मां सोती है जोकि बिल्कुल वृद्धा है, यहां पर पिता जी सोते हैं जो इतने वृद्ध हैं कि वृद्ध लोगों में उनका नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। यहां पर मेरी दासी सोती है जो घर का समस्त कार्य करते-करते थक जाती है और जिसका शरीर पूर्णतया शिथिल पड़ जाता है। इस (कमरे) में पापिनी मैं अकेली ही सोती हूँ क्योंकि मेरे प्राणनाथ कुछ ही दिन से परदेश गये हुये हैं। इस प्रकार तरुणी ने अवसर की उक्ति के बहाने से अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया।'

यहां पर प्रत्येक पद की व्यञ्जकता स्पष्ट है और सहृदयों के द्वारा सरलतापूर्वक उनकी कल्पना की जा सकती है, अतः स्वकण्ठ से उनका कथन नहीं किया जा रहा है। [यहां पर शब्दों की व्यञ्जकता इस प्रकार होगी—'मेरी मां और मेरे पिता जी' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'ये मेरे माता पिता हैं, मैं इनको प्यारी पुत्री हूँ, यदि ये लोग मेरा अपराध जान भी लेंगे तो भी मुझ से प्रेमवश कुछ नहीं कहेंगे अतः तुम्हें इनसे भय करने की आवश्यकता नहीं है।' 'वृद्ध और वृद्धों में अग्रणी' कहने का व्यङ्ग्यार्थ यह है-'एक तो ये ऐसे सोते हैं कि इनको होश ही नहीं रहता दूसरे यदि इन्हें कुछ आहट मालुम भी पड़े तब भी ये सरलता से देख-सुन नहीं सकते और उठ तो ये तभी सकते हैं जब कोई दूसरा इन्हें उठावे।' 'घर का समस्त काम करने में थकी हुई शिथिल' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि वह बेचारी तो इतनी थक जाती है कि जब से सोती है तब से उसे होश ही नहीं रहता कि कहां है और बाहर क्या होरहा है।' तथा का व्यङ्ग्यार्थ यह है यही तीन व्यक्ति मेरे घर में हैं और इनसे डरने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं।' 'इस में' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि मैं इस कमरे में अकेली रहती हूँ जहां किसी को पता भी नहीं चल सकता कि क्या हो रहा है। 'पापिनी' या अभागिनी कहने का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'मैं इतनी मन्दभागिनी हूँ कि मुझे अब तक मन भरकर सुरत करने का अवसर नहीं मिला आज तुम्हें देख कर मैं कामदेव के बाणों से अत्यन्त पीडित हो गई हूँ।' 'मैं अकेली' कहने का व्यङ्ग्य यह है कि यहां कोई और नहीं आता।' 'प्राणनाथ' का व्यङ्ग्य यह है कि मैं उनको अपना स्वामी ही मानती हूँ, वस्तुतः मेरा उनसे प्रेम नहीं है।' 'कुछ दिनों से

ध्वन्यालोकः

उभयशक्त्या यथा—'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतये'त्यादौ।

(अनु०) उभय शक्ति से जैसे 'दृष्ट्या केशव गोपराग' इत्यादि पद्य के उदाहरण में।

लोचन

एवमुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह—उभयेति। शब्दशक्तिस्तावद् गोपरागादिशब्दश्लेषवशात्। अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात्। यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः॥ २३॥

इस प्रकार उपसंहार के बहाने दोनो प्रकारों को उदाहरण के बहाने निरूपित कर के तृतीय प्रकार को कहते हैं—उभयेति। शब्दशक्ति तो गोपराग इत्यादि शब्दश्लेष के कारण है। अर्थशक्ति तो प्रकरणवश है क्योंकि जबतक राधारमण का समस्त तरुणीजनविषयक प्रच्छन्न अनुराग विदित न हो तबतक दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। 'सलेश' शब्द अपनी उक्ति है॥ २३॥

तारावती

परदेश गये हैं' कहने से व्यक्त होता है कि वे अभी हाल में ही बाहर गये हैं, उनके शीघ्र लौटने की आशा नहीं है।' यहां पर वक्तृ-वैशिष्ट्य से व्यक्त होता है कि हम लोगों के विस्रम्भ-विहार को यहां कोई नहीं जान सकेगा। मैं तुम्हें देखकर काम पीड़ित हो गई हूँ। अत एव मुझे रमण के द्वारा आनन्द दो।] यहां पर 'अवसर दिखलाने के बहाने से' इसमें बहाने शब्द के द्वारा कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया है (यहां पर कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसके बदलने से व्यञ्जना जाती रहे। अतः यह शब्दशक्तिमूलक न होकर अर्थशक्तिमूलक कही जावेगी।) इस प्रकार उपसंहार के बहाने दो प्रकारों (शब्द-शक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक) का निरूपण उदाहरणों के साथ कर दिया अब तृतीय प्रकार बतला रहे हैं—उभयशक्तिमूलक का उदाहरण जैसे 'दृष्ट्या केशव गोप रागहृयता·········गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्' वाला पहले दिया हुआ उदाहरण। यहां पर गोप राग इत्यादि शब्दों का शब्दश्लेष इसे शब्दशक्तिमूलक बना देता है और अर्थशक्तिमूलकता प्रकरणवश आ जाती है। क्योंकि जबतक राधारमण भगवान् कृष्ण का अखिल तरुणीजनविषयक प्रच्छन्न अनुराग का गौरवास्पद होना विदित न हो तब तक अर्थान्तर की प्रतीति हो ही नहीं सकती। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ को कवि ने 'सलेशम्' यह क्रियाविशेषण देकर वाच्यकल्प बना दिया है जिसका विस्तृत विवेचन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। (यहां पर अभिनवगुप्त ने अर्थशक्तिमूलकता का प्रयोजक तत्व प्रकरण का ज्ञान माना है। किन्तु प्रकरण का ज्ञान तो सामान्यतया सभी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का प्रयोजक होता है। अतः यहां पर उभयशक्तित्व की सम्पादकता इसी तथ्य पर आधारित मानी जानी चाहिये कि इस पद्य में दृष्टन् इत्यादि कतिपय द्व्यर्थक शब्द ऐसे हैं जो

ध्वन्यालोकः

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थं उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ—कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः—प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः।

(अनु०) 'अन्य वस्तु का व्यञ्जक अर्थ भी दो प्रकार का समझा जाना चाहिये—एक तो जिसका कलेवर केवल कविप्रौढोक्ति से ही निष्पन्न हुआ हो दूसरे जो स्वतः सम्भव हो ॥२४॥

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा गया है उसके भी दो प्रकार होते हैं—एक तो कवि या कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति के द्वारा ही जिसके कलेवर की रचना हुई हो और दूसरा जो स्वतः सम्भव हो ।

लोचन

एवमर्थशक्त्युद्भवस्य सामान्यलक्षणं कृतम्। श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः। अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति—प्रौढोक्तीत्यादिना। योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जक उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दार्थः। प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह—कवेरिति। तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति। प्रकर्षेण ऊढः सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढः। उक्तिरपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव का सामान्य लक्षण कर दिया। श्लेष इत्यादि अलङ्कारों से इसका विभक्त विषय बतला दिया। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं—प्रौढोक्ति इत्यादि के द्वारा। जो अर्थान्तर का व्यञ्जक दूसरा अर्थ बतलाया गया है वह भी दो प्रकार का होता है। केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता, उसका जो दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जकार्थ की द्विविधता के द्वारा दो प्रकार का होता है यह अपि शब्द का अर्थ है। प्रौढोक्ति का भी अवान्तर भेद वतलाते हैं—'कवेः इति' इससे ये तीन भेद हो जाते हैं। प्रकर्ष के द्वारा रूढ अर्थात् सम्पादनीय वस्तु के द्वारा प्राप्त उसमें कुशल प्रौढ (कहलाता है) समर्पणीय वस्तु के अर्पण के योग्य उक्ति भी प्रौढा कही जाती है ।

तारावती

कि पर्याय में बदले जा सकते हैं और इस परिवर्तन से व्यञ्जकता में कोई कमी नहीं आती। इसके प्रतिकूल 'गोपराग' इत्यादि द्व्यर्थक शब्दों के पर्याय में बदल देने से व्यङ्ग्यार्थ का अवगमन व्याहत हो जाता है। प्रथम प्रकार के शब्दों के कारण इसे हम अर्थशक्तिमूलक कह सकते हैं और दूसरे प्रकार के कारण शब्दशक्तिमूलक : अत एव यह उभयशक्तिमूलक ध्वनि है।) ॥ २३ ॥

तारावती

उपर अर्थशक्तिमूलक का सामान्य लक्षण बता दिया गया और यह भी दिखला दिया गया कि श्लेष इत्यादि अलङ्कारों से इसका विषय-विभाजन किस प्रकार होता है। अब इसके उपभेदों का निरूपण चौबीसवीं कारिका के द्वारा किया जा रहा हैं। कारिका में 'अर्थोऽपि' इस में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है इसका आशय यह है कि अर्थान्तर का दीपक अर्थात् व्यञ्जक जो कि अर्थ (वाच्यार्थ) बतलाया गया हैं वह भी दो प्रकार का होता है केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता उसका जो अवान्तर अर्थशक्तिमूलक नामवाला दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जकार्थ की द्विविधता के बल पर दो प्रकार का हो जाता हैं। (एक तो वह होता है जिसका कलेवर कविप्रौढोक्ति के द्वारा ही निष्पन्न हुआ हो और दूसरा भेद वह होता है जोकि लोक में भी स्वतः सम्भव हो।) कविप्रौढोक्ति निष्पन्न शरीर-वाले दूसरे प्रभेद के भी अबान्तर भेद होते हैं। एक तो कविप्रौप्रोक्तिसिद्ध और दूसरा कवि-निबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध। इस प्रकार इसके तीन भेद हो जाते हैं (१) कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध (२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध और (३) स्वतः सम्भव। प्रौढ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'प्र+ऊढ' ऊढ शब्द 'वह' धातु का 'क्त' प्रत्ययान्त रूप है। अतः इसका अर्थ होता हैं प्राप्त किया हुआ अर्थात् ऐसी वस्तु के द्वारा प्राप्त किया हुआ जिसका सम्पादन करना कवि को अभीष्ट हो। 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष के साथ सम्पादनीय वस्तु के द्वारा जिसकी प्राप्ति हुई हो। अत एव सम्पादनीय वस्तु में जो कुशल हो उसे प्रौढ़ कहते है। जब इस 'प्रौढ़' शब्द का उक्ति शब्द के साथ समास होकर 'प्रौढोक्ति' शब्द बन जाता है तब इसका अर्थ हो जाता है ऐसी उक्ति जो कि प्रतिपादनीय वस्तु के समर्थण में उचित हो।

(प्रस्तुत कारिका में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेद व्यञ्जक अर्थ के आधार पर किये गये हैं। यहाँ पर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। सर्वप्रथम मतभेद तो ध्वनिकार आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में ही प्रतीत होता हैं। ध्वनिकार व्यञ्जक अर्थ के स्पष्ट रूप में दो भेद मानते हैं— प्रौढ़ोक्ति सिद्ध और स्वतः सम्भव। ध्वनिकार के 'द्विविध' शब्द से ही इस आशङ्का का उन्मूलन हो जाता है कि ध्वनिकार के मत में एक तीसरा भेद भी सम्भव हैं। आनन्दवर्धन ने 'कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है—'कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्ति के द्वारा सिद्ध एक भेद है और दूसरा है स्वत सम्भव। आनन्दवर्धन का स्पष्ट आशय यही है कि चाहे अर्थ कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो अथवा कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो, हम दोनों को एक ही भेद के अन्तर्गत रखकर एक ही नाम से पुकार सकते हैं और वह है प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ। यद्यपि आनन्दवर्धन ने कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध दोनों प्रकार के पृथक-पृथक् उदाहरण दिये हैं तथापि यहाँ पर 'एक' तथा 'वा' शब्द के प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन भी ध्वनिकार के समान दो ही भेदों को मानने के पक्षपाती हैं। इसके प्रतिकूल लोचनकार ने कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध भेदों

तारावती

को पृथक-पृथक् मानकर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के तीन भेद कर दिये हैं। हेमचन्द्र को यह भेदोपभेद सङ्गत प्रतीत नहीं होता। उनका कहना है कि यह भेदोपभेद कल्पना न्याय्य नहीं है क्योंकि सभी भेदों का समाहार 'कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु' में ही हो जाता है। यदि स्वतः सम्भवी अर्थ में भी कवि प्रौढ़ोक्ति का समावेश नहीं होगा तो स्वतः सम्भवी वस्तु न तो काव्यत्व की प्रयोजक हो सकेगी और न व्यङ्ग्यार्थ का ही अभिव्यञ्जन कर सकेगी। इसी प्रकार कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति भी कविप्रौढ़ोक्ति में ही सन्निविष्ट हो जाती है। अतः इन दोनों को पृथक् न मानकर कविप्रौढ़ोक्ति को ही व्यन्जकता का प्रधान तत्त्व मानना चाहिये। माणिक्यचन्द्र ने भी हेमचन्द्र का ही पदानुसरण कर इस भेदोपभेद कल्पना का प्रत्याख्यान किया हैं। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट अभिनव गुप्त से पूर्णतया सहमत हैं; उन्होंने व्यञ्जक अर्थ को तीन भेदों में विभाजित कर उसके औचित्य की परीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। रसगङ्गाधरकार ने ध्वनिका अनुसरण करते हुये केवल दो भेद माने हैं प्रौढ़ोक्तिसिद्धि और स्वतः सम्भव। उनका कहना है कि कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध दोनों प्रकार की वस्तुओं का निर्माण प्रतिभा के द्वारा ही होता है, अतः दोनों को एक ही मानना चाहिये। यदि इनके पृथक्त्व को माना जावे तो कविनिबद्धवक्तृ-निबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु को भी व्यञ्जना का एक भेद मानना पड़ेगा। यदि उसे भी कविनिबद्धवक्तृ की उक्ति के अन्दर ही लाना हैं तो कविनिबद्धवक्ता की उक्ति भी तो कवि के लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्व से ही प्रादुर्भूत हुई है अतः वह भी कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु ही मानी जा सकती हैं; अतएव उसे पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिये। इसपर नागेश भट्ट का कहना है कि जिस प्रकार वृद्धोक्ति के विषय की अपेक्षा शिशूक्ति के विषय में कुछ नवीनता होती है उसी प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु को अपेक्षा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु में विलक्षणता होती ही है। अतः इन दोनों भेदों को पृथक्-पृथक् मानना ही चाहिये। इसके बाद वक्तृनिबद्धवक्ता की उक्ति भी प्रतिनिधित्व के रूप में ही प्रतीति उत्पन्न करती है। अतः उसमें चमत्कार का स्थगन हो जाता है। अतएव उसे पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये।

वस्तुतः अभिनवगुप्त और आचार्य मम्मट की भेदोपभेद-कल्पना ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। कवि कुछ तो ऐसे अर्थों का उपादान करता है जो लोक में भी विधमान होते हैं और कुछ अपनी कल्पना से उद्भूत कर लेता है। यद्यपि प्रथम प्रकार में भी कवित्व का चमत्कार विद्यमान रहता है तथापि दोनों प्रकारों में चमत्कार का तारतम्य अवश्य रहता है। चमत्कार की नवीनता ही भेद की प्रयोजिका होती है। इसीप्रकार कवि की कही हुई बात में और कवि द्वारा किसी वक्ता के माध्यम से कहलाई हुई बात में भी चमत्कार की नवीनता होती ही है। तुलसी भी रावण की गर्हणा करते हैं; किन्तु अङ्गद के द्वारा की हुई

ध्वन्यालोकः

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे ।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स शरे ॥

(अनु०) कविप्रौढोक्ति-मात्र-निष्पन्न शरीरवाली वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण—

'वसन्तमास अभिनव सहकार इत्यादि नवीन पल्लव और पत्तों को देनेवाले तथा युवतीजनों को लक्ष्यकारक मुखोंवाले कामदेव के बाणों को तैय्यार ही कर रहा है उसे दे नहीं रहा है।'

लोचन

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान् ।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान् ॥

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखा सज्जयति केवलं न तावदर्पयतीत्येवंविधया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्‌भेदिनी वसन्तदशा यत उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति। अन्यथा वसन्ते सपल्लवसहकारोद्‌गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं स्यात्। एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा।

'सुरभिमास, युवतीजन ही हैं जिनके लक्ष्य इस प्रकार के मुख हैं जिनके इस प्रकार के अभिनव सहकार इत्यादि नवीन पल्लव पत्रों को ग्रहण करनेवाले काम बाणों को तैय्यार करता है किन्तु प्रदान नहीं करता।

यहाँपर क्योंकि काम का मित्र चेतन वसन्त केवल तैय्यार करता है किन्तु अर्पित नहीं करता इस प्रकार की समर्पणीय वस्तु के अर्पण में कुशल उक्ति के द्वारा सहकार की उद्भेदिनी वसन्त की दशा कही गई है अतः ध्वनित होनेवाले तथा क्रमशः अधिक गाढ होनेवाले कामोत्पीडन को व्यक्त करता है। अन्यथा वसन्त में पल्लव सहित सहकार का उद्‌गम होता है यह वस्तुमात्र व्यञ्जक न होती। यह कवि की प्रौढ उक्ति है।

तारावती

गर्हणा में चमत्कार का वैचित्र्य होता ही है। अतः इन दोनों का भेद माना ही जाना चाहिये। अब अङ्गद कविनिवद्धवक्ता हैं और राम भी कविनिबद्ध दूसरे वक्ता हैं। अङ्गद राम के द्वारा नियुक्त हों या स्वयं बोल रहे हों इससे चमत्कार-विधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि यदि कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु को व्यञ्जक माना जावेगा तो कविनिबद्धवक्तृनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु को भी व्यञ्जक कोटि में लाना पड़ेगा। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यञ्जक अर्थ तीन ही प्रकार का होता है।]

ध्वन्यालोकः

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव—'शिखरिणि' इत्यादि।

(अनु०) कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर वस्तु से व्यञ्जना जैसे पहले दिया हुआ उदाहरण—'शिखरिणि क नु नाम……' इत्यादि।

लोचन

शिखरिणीति। अत्र लोहितं विम्बफलं शुको दशतीति न व्यञ्जकता काचित्। यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।

शिखरिणि इति। यहाँ पर लाल विम्बफल का दशन शुक करता है इसमें कोई व्यञ्जकता नहीं आती। जबकि कविनिबद्ध साभिलाष तरुणवक्ता की यह प्रौढोक्ति है तब व्यञ्जकता (आती है)।

तारावती

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के ऐसे व्यञ्जक का उदाहरण जिसका कलेवर लोक में सम्भव न हो केवल कवि द्वारा कल्पित कर लिया गया हो:—

'वसन्तमास कामदेव के बाणों को तैय्यार तो कर रहा है परन्तु उसे अर्पित नहीं कर रहा। इन बाणों के अग्रभागों का लक्ष्य युवतियों का समूह है। बाण अभिनव आम्रमञ्जरी प्रभृति अनेक प्रकार के हैं और ये नबीन पल्लवों तथा पत्रों या नवपल्लवरूपी पत्रों को प्रदान करनेवाले हैं।'

यहां पर कविकल्पना के द्वारा ही अचेतन वसन्त को चेतन माना गया है, उसे कामदेव का मित्र कहा गया है, वह कामदेव के वाणों को तैय्यार करता है किन्तु उसे प्रदान नहीं करता, यह भी कवि-कल्पना ही है। (सहकार के नवपल्लवों पर बाण के पत्रों का आरोप भी कविकल्पनाप्रसूत ही है। इस उक्ति में एक कुशलता है जो कि अर्पण करने योग्य वस्तु के वर्णन में कवि को सहायता प्रदान करती है। इस उक्ति से वसन्त की उस प्रारम्भिक अवस्था का प्रकथन किया गया है जिसमें सहकार का उद्भेद प्रारम्भ हो जाता हैं। इससे व्यञ्जना निकलती है कि कामदेव का उन्मथन अभी प्रारम्भ ही हुआ है, यह धीरे-धीरे प्रगाढ होता जावेगा और आगे चलकर कामदेव अत्यन्त प्रवृद्ध हो जावेगा। यहां हृदय को विशेष आह्लाद देने के कारण व्यङ्ग्यार्थ ही प्रधान है अतः यह अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है। यह ध्वनि कबि-कल्पना-प्रसूत वाच्यार्थ से ही निकलती है; अतएव कवि की उक्ति ही प्रौढ है। अन्यथा यहां पर लोकसम्भव अर्थ इतना ही हैं कि वसन्त में पल्लवों के साथ आम्रमञ्जरियों का उद्गम प्रारम्भ हो जाता है। इतनी वस्तु उक्त अर्थ की व्यञ्जना कर ही कैसे सकती है ? यह केवल कवि की प्रौढोक्ति है।

अब ऐसी ध्वनि (अर्थशक्तिमूलक ध्वनि) का उदाहरण लीजिये जिसमें व्यञ्जक (वाच्यार्थ) के कलेवर का निर्माण कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति से ही हो और वह व्यङ्ग्यार्थ

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम्।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम्॥

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः। यथोदाहृतम्—'एवंवादिनि' इत्यादि।

(अनु०) अथवा दूसरा उदाहरण—

'आदर पूर्वक दिये हुये यौवन के हाथ के अवलम्ब को लेकर उठे हुये तुम्हारे स्तनों ने मानों मन्मथ को अभ्युत्थान प्रदान किया।'

स्वतःसम्भवी का अर्थ है औचित्य के साथ जिसकी सद्भावना (सत्ता) की संभावना बाहर भी की जा सके और जिसका कलेवर केवल कवि की उक्ति के बलपर ही निष्पन्न न हुआ हो। जैसा कि पहले 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य के रूप में उदाहरण दिया जा चुका है।

लोचन

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुन्नमद्भ्याम्।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम्॥

स्तनौ तावदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनोपचर्यते। यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवं विधेनोक्तिवैचित्र्येण त्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्ग्या स्वाभिप्रायध्वननं कृतम्। तव तारुण्येनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। न केवलमिति। उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

'आदरपूर्वक दिये हुये यौवन के हाथ के सहारे को लेकर उठे हुए तुम्हारे स्तनों ने कामदेव को मानों अभ्युत्थान प्रदान कर दिया।' यहाँ पर प्रधानभूत स्तन हैं, उससे भी गौरव से युक्त है कामदेव (अतः) उन (स्तनों) के द्वारा उठकर उसका स्वागत किया जाता है। यौवन इन दोनों के परिचारकभाव के साथ स्थित है। इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य के द्वारा तुम्हारे स्तनों के अवलोकन से प्रवृद्ध मदनावस्थावाला कौन नहीं हो जाता, इस भङ्गिमा के साथ अपने अभिप्राय का ध्वनन किया गया है। तुम्हारे तारुण्य से स्तन उन्नत हैं इस वचन में व्यञ्जकता नहीं होती। न केवलमिति। उक्तिवैचित्र्य तो सर्वथा उपयोगी होता है यह भाव है।

तारावती

की प्रतीति में कारण हो। इसका उदाहरण जैसा कि पहले ही 'शिखरिणि क्व नु नाम.......... शुक शावकः' इस पद्य के रूप में दिया जा चुका है। यहां पर कामुक की संभोगेच्छा व्यक्त होती है। लोकसम्भव अर्थ केवल इतना ही है कि शुक लाल विम्ब-फल का दर्शन कर रहा है।

तारावती

उसकी पूर्वजन्म की तपस्या इत्यादि की कल्पना प्रौढोक्तिमात्र है। किन्तु यदि यह प्रौढोक्ति कवि की ही मानी जावे और कविकल्पना को ही व्यञ्जक कहा जावे तो सम्भोगेच्छा प्रकाशन का व्यङ्ग्यार्थ कभी न निकलेगा। उसकी विश्रान्ति तो कविकल्पना में ही हो जावेगी। जब कि कवि-निबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की यह प्रौढोक्ति मानी जाती है तभी वह सम्भोगेच्छा की व्यञ्जिका होती है।

अथवा दूसरा उदाहरण लीजिये—

'यौवन ने आदरपूर्वक हाथ का सहारा देकर तुम्हारे स्तनों को उठाया और उठकर तुम्हारे स्तनों ने मानों कामदेव का अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया।'

जब कभी किसी बड़े अदमी के यहां कोई दूसरा उससे भी बड़ा प्रधान पुरुष आ जाता हैं तब वह बड़ा आदमी हड़बड़ाकर उसके स्वागत के लिये उठ नहीं पाता और उसका कोई सेवक उसे चटपट हाथ पकड़कर उठा देता है तब वह अभ्यागत का अभिनन्दन करता है। यहाँ पर कामदेव का आगमन हुआ है नायिका के स्तन अभ्युत्थान के द्वारा उसका स्वागत करना चाहते हैं और यौवन उन्हें उठ खड़े होने में सहायता देता है। (इस प्रकार यहां पर समासोक्ति और उत्पेक्षा का सङ्कर है।) आशय यह है कि स्तन तो प्रधान हैं और उनसे भी प्रधानभूत है कामदेव। स्तन अभ्युत्थान के द्वारा कामदेव का उपचार करते हैं। यौवन इन दोनों के परिचारक के रूप में स्थित है। यह है उक्तिवैचित्र्य या प्रौढोक्ति। क्योंकि लोक में न तो स्तन अधिकारी ही हैं न कामदेव के आने पर वे उठना ही चाहते हैं और न यौवन उन्हें सहारा देकर उठाता ही है। यह सब प्रौढोक्ति मात्र है। यदि यह केवल कवि की प्रौढोक्ति मानी जावे तो इस प्रौढोक्ति में ही चमत्कार का पर्यवसान हो जावेगा और उससे कोई व्यञ्जना न निकल सकेगी। जब कि यह प्रौढोक्ति किसी विदग्ध रसिक की मानी जाती है तब उससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारे स्तनों को देखकर किसका कामदेव अत्यन्त मात्रा में बढ़ नहीं जाता? मैं भी अत्यन्त कामपीडित हो गया हूँ और मैं तुम्हारा सहवास चाहता हूँ।' यह अभिप्राय की व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायी होने के कारण ध्वनिरूपता को प्राप्त हो गई हैं। यदि यहाँ पर केवल लोकसम्भव वस्तु कही जाती कि जवानी से तुम्हारे स्तन बढ गये हैं तो व्यञ्जना होती ही क्या?

स्वतःसम्भवी का अर्थ है जिसकी सत्ता की संभावना बाहर भी अर्थात् लोक में भी की जा सके और जिसका शरीर केवल उक्ति के कारण ही अभिनिष्पन्न न हुआ हो। केवल का अर्थ यह है कि उक्ति वैचित्र्य तो सर्वत्र उपयोगी होता ही है। (किन्तु उक्तिवैचित्र्य के साथ जहाँ वस्तु लोकसम्भव भी हो वहाँ पर जो व्यञ्जना होती है उसका व्यञ्जक लोकसम्भव वस्तु को ही माना जाता है।) पहले आया हुआ उदाहरण 'एवंवादिनि देवर्षौ......' इत्यादि पद्य इसका भी उदाहरण हो सकता है।

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

सिहिपिच्छकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणम् ॥

(अनु०) अथवा दूसरा उदाहरण—

मयूर पिच्छ को कर्णपूर के रूप में धारण किये हुये गर्व से भरी हुई व्याध की पत्नी मुक्ताफलों से अपने प्रसाधनों को विशेष रूप से सजाई हुई सपत्नियों के बीच में घूम रही है।

लोचन

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥

शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम्। अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम्। रचितानि विविधभङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यग्रिमाभावात्तद्विरचनशिल्पकौशलमेव परमिति दौर्भाग्यातिशय इदानीमिति प्रकाशितम्। गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भवतीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्यः। एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, बहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति ॥ २४ ॥

'मयूरपिच्छ को कर्णपूर बनाये हुये व्याध की स्त्री मुक्ताफलों से रचित प्रसाधनोंवाली अपनी सौतों के मध्यमें गर्व के साथ घूम रही है।'

उसमें आसक्त का कृत्य मयूरमारण मात्र है, अन्यों में आसक्त ने तो हाथियों को भी मारा, इस प्रकार इस वचन से उत्तम सौभाग्य कहा गया। विविध भङ्गिमाओं से प्रसाधन रचे गये इस प्रकार उनकी सम्भोगव्यग्रता के अभाव से उनके विरचन का शिल्प-कौशल ही सर्वाधिक है इस प्रकार इस समय दौर्भाग्य की अधिकता प्रकाशित की गई। गर्व तो बाल्य और अविवेक इत्यादि से भी हो सकता है अतः यहाँ पर 'स्वोक्ति' के होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये। और यह अर्थ जैसे-जैसे वर्णन किया जाता है अथवा वर्णन को जाने दीजिये बाहर भी प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा यदि अवलोकन किया जाता है वैसे-वैसे व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता को व्यक्त करता है ॥ २४ ॥

तारावती

इसका दूसरा उदाहरण—

'व्याध की बहू केवल मयूरपिच्छ को ही कर्णपूर के रूप में धारण किये हुये है; उसके पास और आभूषण नहीं हैं। किन्तु उसकी सपत्नियाँ गजमुक्ताओं से अपने शरीर को भलीभाँति सजाये हुये हैं। तथापि व्याधवधू अपनी सपत्नियों के बीच में गर्व के साथ घूम रही है।'

यह वस्तु लोकसम्भव है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि व्याधवधू में आसक्त व्याध

तारावती

रातदिन कामोन्मत्त रहता है और सुरतव्यापार में लगा रहता है, न उसे शिकार में जाने की इच्छा ही होती है और अधिक सम्भोग करने के कारण वह इतना अशक्त भी हो गया है कि बलवान् सिंहों और हाथियों का शिकार कर ही नहीं सकता। यदि कहीं निकट कोई मयूर आ जाता है तो अपनी प्रियतमा के विनोद के लिये वह उस मयूर को ही मार लेता है और व्याधवधू मयूरपिच्छ का कर्णपूर धारण करके ही सन्तोष करती है। प्रतिकूल दूसरी सपत्नियों में जब प्रियतम पहले आसक्त था तब वह सुरतव्यापार में इतना आसक्त नहीं हो जाता था कि शिकार खेलने न जा सकता। वह शिकार खेलने जाता था और मदोन्मत्त हाथियों का शिकार करने में सारा दिन लगा देता था तथा हाथियों को मारकर गजमुक्ता लाकर अपनी प्रियतमाओं (नायिका की सौतों) को देता था। इस प्रकार नायिका का उत्तम सौभाग्य व्यक्त होता है। जिन सौतों ने अनेक भङ्गिमाओं के साथ अपने प्रसाधनों को सजाया है वे वस्तुतः सम्भोग में व्यग्र रहती ही नहीं। उनका सबसे बड़ा कार्य यही है कि वे अपने प्रसाधनों के रचनाशिल्प का कौशल दिखलाती रहें। इस प्रकार इस समय पर उनके दौर्भाग्य की अधिकता ही अभिव्यक्त होती है। यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि नायिका के गर्व की बात कहकर कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया है। क्योंकि गर्व तो अल्हड़पन के कारण भी हो सकता है (महिम भट्ट ने गर्व को हेतु मानकर नायिका के सौभाज्य की साध्यसिद्धि मानी है और इस उदाहरण को अनुमान में अन्तर्भूत करने की चेष्टा की है। किन्तु गर्व बाल्य के कारण या अविवेक के कारण अथवा सन्तोषशील होने के कारण भी हो सकता है। अतः यहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास है और इसका समावेश अनुमान में नहीं किया जा सकता।) इस अर्थ का जितना जितना वर्णन किया जाता है, या वर्णन की बात जाने दीजिये, बाह्यरूप में यदि प्रत्यक्ष इत्यादि के रूप में ही इसका अवलोकन किया जाता है, उतनी ही उतनी व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता अभिव्यक्त होती है॥ २४॥

ऊपर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के व्यञ्जक की दृष्टि से दो भेद किये गये थे। (प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न व्यञ्जकार्थ और स्वतःसम्भवी व्यञ्जकार्थ।) प्रथम प्रकार के दो भेद कर इस उपभेद गणना की संख्या तीन करदी गई थी।) इन तीनों भेदों में यदि केवल वस्तु की व्यञ्जना करनी हो तो उसे अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि कहते हैं। इस वस्तुध्वनि का निरूपण (तथा उदाहरणों में उनका संयोजन) विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। अब प्रस्तुत कारिका में यह दिखला रहे हैं कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के क्षेत्र में केवल वस्तु ही व्यञ्जनीय नहीं होती अपितु उसमें व्यञ्जनीय तत्त्व अलङ्कार भी होता है। ऐसी दशा में उसे अर्थशक्तिमूलक अलङ्कारध्वनि भी कहते हैं। यही बात इस कारिका में कही गई है कि 'और जहाँ पर अर्थशक्ति से एक दूसरा (वाच्यालङ्कार से भिन्न अलंकार यत्र शब्द भी प्रतीति गोचर होता है वह अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य अर्थशक्ति मूलकध्वनि का एक दूसरा प्रकार होता है।' यहां पर 'यत्राप्यन्यः' में 'अपि' शब्द के साथ आया है, किन्तु उसकी योजना भिन्नक्रम से 'अर्थशक्तेः' तथा 'अलङ्कारः' के

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥ २५ ॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ।

(अनु०) 'जहाँ पर अर्थशक्ति से अन्य अलङ्कार भी प्रतीत होता है वह ध्वनि का अनुरणन रूप व्यङ्ग्य का दूसरा प्रकार होता है ॥ २५ ॥

वाच्य अलङ्कार से भिन्न जहाँ दूसरा अलङ्कार अर्थसामर्थ्य से प्रतीत होता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य दूसरी ध्वनि होती है ।

लोचन

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः । इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीत्याह—अर्थेत्यादि न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि । यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अन्यशब्दं व्याचष्टे- वाच्येति ॥ २५ ॥

इस प्रकार दो भेदोंवाला अर्थशक्त्युद्भव वस्तुमात्र के व्यञ्जनीय होने पर वस्तुध्वनि के रूप में निरूपित कर दिया गया । इस समय उसी के अलङ्काररूप व्यञ्जनीय होने पर अलङ्कार-ध्वनित्व भी होता है यह कहते हैं—अर्थेत्यादि । केवल शब्दशक्ति से ही अलङ्कार की प्रतीति नहीं होती पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी (होती है) अथवा जहाँ केवल वस्तु की प्रतीति नहीं होती अपितु अलङ्कार की भी प्रतीति होती है यह अपि शब्द का अर्थ है । अन्य शब्द की व्याख्या करते हैं 'वाच्य' इत्यादि ॥ २५ ॥

तारावती

साथ होती है । 'अर्थशक्तेः' के साथ 'अपि' शब्द के रखने का आशय यह है कि केवल शब्द शक्ति से ही पहले बतलाये हुये रूपमें अलङ्कार की प्रतीति नहीं होती अपितु अर्थशक्ति से भी अलङ्कार की प्रतीति होती है । अथवा 'अपि' शब्द को 'अलङ्कारः' के साथ रक्खा जा सकता है, तब उसका अर्थ होगा—'अर्थशक्ति से केवल वस्तु ही प्रतीत नहीं होती किन्तु अलङ्कार भी प्रतीत होता है ।' कारिका में अन्यः शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी का अर्थ वतलानेके लिये वृत्तिकारने लिखा है—'जहां अर्थसामर्थ्य से वाच्यालङ्कार से अतिरिक्त एक दूसरा अलङ्कार अवभासित होता है वह अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरा पकार है ।

[यहाँ पर अर्थशक्तिमूलकध्वनि के भेदोपभेदों के निरूपण में ग्रन्थकार ने सङ्केतमात्र दिया है, विस्तार के साथ विवेचन नहीं किया । अर्थशक्तिमूलकध्वनि की भेदोपभेदकल्पना इस प्रकार होगी—उपभेदों की कल्पना के दो आधार हो सकते हैं व्यञ्जक तथा व्यङ्ग्य । दोनों के दो-दो

ध्वन्यालोकः

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः॥ २६॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम्।

(अनु०) उसके विषय के अत्यन्त बिरल होने की आशंकाकर यह कहा जा रहा है—

'रूपक इत्यादि जो अलंकारवर्ग वाच्यता के आश्रित होता है वह समस्त (अलंकारवर्ग) प्रतीयमानत्व को धारण करते हुये पर्याप्त मात्रा में दिखलाया गया है।' ॥ २६ ॥

दूसरे स्थानों पर वाच्यता के रूप में प्रसिद्ध जो कि रूपक इत्यादि अलंकारवर्ग हैं वह दूसरे स्थानों पर प्रतीयमानता के रूप में पूज्य आचार्य भट्टोद्भट इत्यादि ने बहुलता के साथ दिखला दिया है। वह इस प्रकार कि ससन्देह इत्यादि में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति इत्यादि का प्रतीयमान होना दिखलाया है इस प्रकार दूसरे अलंकार का दूसरे अलंकार में प्रतीयमान होना सिद्ध करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा।

तारावती

प्रकार होते हैं वस्तु तथा अलङ्कार। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलकध्वनि के चार भेद हो गये। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—स्वतः संभव व्यञ्जक, कविकल्पित व्यञ्जक और कविनिबद्धवक्तृकल्पित व्यञ्जक। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के १२ भेद हो गये—(१) स्वतःसम्भव वस्तु से वस्तुध्वनि, (२) कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, (३) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, (४) स्वत सम्भव अलङ्कार से वस्तुध्वनि (५) कविकल्पित अलङ्कार से वस्तुध्वनि, (६) कविनिनिबद्धवक्तृकल्पित अलङ्कार से वस्तुध्वनि। ये वस्तुध्वनि के ६ भेद हैं। इसी प्रकार अलङ्कारध्वनि के भी ६ भेद हो जाते हैं—(७) स्वतः सम्भव वस्तु से अलङ्कारध्वनि, (८) कविकल्पित वस्तु से अलङ्कारध्वनि, (९) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से अप्रङ्कारध्वनि (१०) स्वतः सम्भव अलंकार से अलंकारध्वनि, (११) कविकल्पित अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि और (१२) कविनिबद्धबक्तृकल्पित अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि। इन बारह भेदों में प्रथम तीन का निरूपण ग्रन्थकार के स्वयं कर दिया। शेष भेद भी अप्रत्यक्ष रूप में यत्र-तत्र पाये जाते हैं। किन्तु इनका विशद रूप में निरूपण काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में हुआ है। वहीं देखना चाहिये। ग्रन्थ-विस्तार भय से यहां उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है]॥ २५॥

अब यहां पर एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि इसकी तो सम्भावना की जा सकती है कि शब्दशक्ति के बलपर श्लेष इत्यादि अलङ्कारों की ध्वनि हो किन्तु अर्थशक्ति से भी अलङ्कारों

लोचन

आशङ्क्येति । शब्दशक्त्या श्लेषाद्यलङ्कारो भासत इति संभाव्यमेतत् । अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्काबीजम् । सर्वं इति प्रदर्शित इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह ।

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः ।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ॥ इति ।
'तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्रांगुलिः पल्लवः ।'

इत्यादावुपमा रूपकं वा ध्वन्यते । अतिशयोक्तेश्च प्रायशः सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम् । अलङ्कारान्तरस्येति । यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदमसंभाव्यमिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी, न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः, अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वास्तववालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्य इत्येतावतः प्रकृतत्वात् ।

'आशङ्क्य' इति । शब्द-शक्ति से श्लेष इत्यादि अलंकार भासित होता है इसकी सम्भावना की जासकती है । अर्थ-शक्ति से तो कौन अलंकार शोभित होता है यह शङ्का का बीज है ।' 'सर्व' शब्द और 'प्रदर्शित' शब्द इस पद से असम्भावना यहाँ पर मिथ्या ही है यह कहते हैं ।

'प्रशंसा के लिये उपमान से भेद और अभेद को कहते हुये सन्देहपूर्ण वचन को विद्वान् लोग ससन्देह अलंकार कहते हैं ।'

जैसे—'क्या यह उसका हाथ है, अथवा मारुत से हिलाये हुये पत्ररूपी अंगुलियोंवाला पल्लव है ।'

यहां पर उपमा और रूपक ध्वनित होते हैं । अतिशयोक्ति का तो प्रायः सभी अलंकारों में ध्वनन होता है । 'अलंकारन्तरस्य इति' जहां अलंकार भी दूसरे अलंकार को ध्वनित करता है वहां वस्तुमात्र से अलंकार ध्वनित होता है यह कितना असम्भव है ? इस अभिप्राय से वृत्तिकार ने अलंकारान्तर शब्द का प्रयोग किया है, वह प्रकृत में उपयोगी नहीं है । अलंकार ध्वनित होता है यह प्रकृत नहीं है । क्योंकि प्रकृत इतना ही है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वस्तु के समान अलंकार भी ध्वनित होता है ।

तारावती

की ध्वनि हो सकती है यह किस प्रकार सम्भव है और यह हो ही कैसे सकता है ? यदि किसी प्रकार यह सम्भव भी मान लिया जावे तो भी इस प्रकार की ध्वनि का विषय बहुत ही स्वल्प रहेगा, इसके विषय को व्यापक और विस्तृत बनाने के लिये आप क्या करेंगे ? यहां पर शङ्का का बीज यही है कि अर्थशक्ति से अलङ्कारध्वनि सम्भव किस प्रकार है ? इसी प्रश्न का उत्तर २६ वीं कारिका में दिया गया है । कारिका का अर्थ यह है—'रूपक इत्यादि अलङ्कारों

तारावती

का जो समूह वाच्य वृत्ति का सहारा लेनेवाला बतलाया गया है वह अधिकतर गम्यमानता को धारण करनेवाला दिखलाया गया है।'

रूपक इत्यादि अलङ्कार वाच्य तो होते ही हैं इसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य भी हो सकते हैं। भट्ट उद्भट इत्यादि आचार्यों ने एक स्थान पर इनको वाच्य लिखा है और दूसरे स्थान पर व्यङ्ग्य के रूप में प्रदर्शित किया है। कारिकागत 'सभी' तथा 'दिखलाये हैं' इन शब्दों का आशय यह है कि अर्थशक्ति से अलङ्कार व्यङ्ग्य नहीं हो सकते यह आशङ्का मिथ्या ही है। (एक अलंकार में दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य होता है। उदाहरण के लिये सादृश्यमूलक समस्त अलंकारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है। अप्पय दीक्षित ने लिखा है—'उपमा एक नटीं के समान होती है जो कि विचित्र प्रकार की भूमिकाओं (रूपकादिकों) के भेदों को प्राप्तकर काव्यरूपी रङ्गमच पर नाचती हुई रसज्ञों के चित्तों को अनुरञ्जित करती है।' इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का बीज मानकर सभी अलंकारों में वक्रोक्ति की व्यङ्ग्यता स्वीकार की है। दण्डी ने सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति को व्यङ्ग्य माना है।) भट्टोद्भट इत्यादि का आशय यह है कि जहां एक अलंकार वाच्य होता है वहां दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य होता है। उदाहरण के लिये ससन्देहालंकार जहां पर वाच्य होता है वहां पर उपमारूपक, और अतिशयोक्ति व्यङ्ग्य बतलाई गई हैं। उद्भट ने ससन्देह अलंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—'जहां पर वर्णन करनेवाले व्यक्ति के वचन प्रशंसापरक होने के कारण सन्देह से युक्त हों और उपमान के साथ भेद भी हो और अभेद भी, उसे ससन्देह अलंकार कहते हैं।' जैसे 'यह उसका हाथ है या कि पल्लव-जिसमें मानों वायु के कारण पत्ररूपी उँगलियां नाच रही हैं।' यहां पर ससन्देहालंकार वाच्य है और 'हाथ पल्लव के समान है' यह उपमा तथा 'हाथ पल्लव ही है' यह रूपक में दोनों अलंकार व्यङ्ग्य हैं। अतिशयोक्ति तो प्रायः सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य होती है यह बात आगे चलकर तृतीय उद्योत में सिद्ध की जावेगी। अतएव इस बात के सिद्ध करने में अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा कि दूसरा अलंकार दूसरे अलंकार में व्यङ्ग्य होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थशक्ति से व्यक्त होनेवाले अलंकारों का क्षेत्र या तो बहुत कम है या बिलकुल नहीं है।

यहां पर एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि अलंकार-व्यञ्जना दो रूपों में होती है—वस्तु से अलंकार व्यञ्जना और अलंकार से अलंकार-व्यञ्जना। आलोककारने एक अलंकार से दूसरे अलंकार की व्यञ्जना की जो बात कही है उसका आशय यह नहीं है कि अलंकार का व्यञ्जक केवल अलंकार ही होता है। उसका आशय यही है कि जब एक अलंकार भी दूसरे अलंकार को व्यक्त कर सकता है तो वस्तु से अलंकारध्वनि को कोई भी असम्भव नहीं मान सकता। वस्तु से अलंकारध्वनि तो एक साधारण सी बात रह जाती है। यहां पर यह बात सर्वथा ध्यान रखनी चाहिये कि प्रकरण यहाँ पर अलंकार के व्यङ्ग्य होने का ही है व्यञ्जक

लोचन

तथा चोपसंहारग्रन्थे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत् 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां' इत्युपक्रम्य 'तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वक्ष्यति। अन्तरशब्दो वोभयत्रापि विशेषपर्यायः। वैषयिकी सप्तमी न तु प्राग्व्याख्यायामियं निमित्तसप्तमी। तदयमर्थः—वाच्यालङ्कारविशेषविषये व्यङ्ग्यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्भटादिभिरुक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव। केवलं तेऽलङ्कारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालङ्कारविशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः ॥२६॥

अतएव उपसंहार ग्रन्थ में 'वे अलङ्कार ध्वनि की अङ्गता को प्राप्त होकर परा छाया को प्राप्त होते हैं' इस कारिका पर वृत्तिकार 'ध्वन्यङ्गता दोनों प्रकारों से होती है' यह उपक्रम करके उसमें इस प्रकरण में 'व्यङ्ग्यत्व के रूप में यह समझना चाहिये।' यह कहेंगे। अथवा अन्तर शब्द उभय विशेष का पर्यायवाचक है; विषय में सप्तमी का अर्थ होता है—वाच्यालंकार विशेष के विषय में व्यङ्ग्य अलंकार विशेष शोभित होता है। यह उद्भट इत्यादि ने कहा ही है। इस प्रकार अर्थशक्ति से अलंकार से अलंकार व्यक्त होता है यह उन्होंने स्वीकृत ही कर लिया। केवल वे अलंकारलक्षणकार होने के कारण वाच्यालंकार विशेष के विषय में ही कहते हैं यह भाव है ॥ २६ ॥

तारावती

होने का नहीं। यहाँ पर ग्रन्थकार को केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि वस्तु के समान अलंकार भी व्यङ्ग्य हो जाते हैं। (ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के इस प्रतिपादन को देखकर कि एक अलंकार दूसरे का व्यञ्जक होता है कोई भी व्यक्ति इस भ्रम में पड़ सकता है कि ये आचार्य वस्तु से अलंकार-ध्वनि नहीं मानते अपितु अलंकार से ही अलंकार-ध्वनि मानते हैं। इसी भ्रम का निवारण करने के मन्तव्य से लोचनकार ने लिखा हैं कि प्रस्तुत प्रकरण का मन्तव्य अलंकार की व्यञ्जकता का निरूपण करना नहीं है अपितु उसकी व्यङ्ग्यता का निरूपण करना हैं।) इसी अभिप्राय से अलंकार शब्द का प्रयोग वृत्तिकार ने किया है। प्रकृत में इसका उपयोग नहीं अर्थात् यह नहीं समझा जाना चाहिये कि अलंकार ही अलंकार के व्यञ्जक होते हैं। यह बात प्राकरणिक नहीं है कि एक अलंकार दूसरे अलंकार के द्वारा ध्वनित किया जाता है। क्योंकि यहाँ पर प्रकृत अर्थ इतना ही है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में वस्तु के समान अलंकार भी व्यङ्ग्य होते हैं। इसमें प्रमाण यही है कि उपसंहार ग्रन्थ में जहाँ पर यह प्रकरण आवेगा कि 'वे अलंकार ध्वनि का अङ्ग बनकर एक बहुत बड़ी छाया को धारण करते हैं' इस श्लोक की व्याख्या करने के अवसर पर उपक्रम में लिखेंगे कि 'दोनों प्रकारों से अलंकार ध्वनि का अङ्ग बनते हैं। व्यञ्जक होकर भी और व्यंग्य होकर भी।' यह लिखकर फिर लिखा है 'यहाँ पर अलंकारों की ध्वन्यङ्गता व्यङ्ग्य के रूप में ही मानी जानी चाहिये क्योंकि यहांपर प्रकरण व्यङ्ग्य का ही है।' इससे सिद्ध होता है कि यहां पर अलंकार को

ध्वन्यालोकः

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्य-प्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः।

(अनु०) इतना तो मुझे कहना है—

अलंकारान्तर की प्रतीति में भी जहाँ पर वाच्यार्थ उस व्यङ्ग्य अलंकार परक अवभासित नहीं होता वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता ॥ २७ ॥

यदि दूसरे अलंकारों में अनुरणन रूप अलंकार की प्रतीति हो भी रही हो फिर भी जहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्य प्रतिपादन की ओर उन्मुख होकर चारुता को प्रकाशित न करे वह ध्वनि का मार्ग नहीं होता। जैसा कि दीपक इत्यादि अलंकारों में उपमा के प्रतीयमान होते हुये भी चारुता की व्यवस्था उपमापरक नहीं होती अतः उसे ध्वनि नहीं कहते।

लोचन

ननु पूर्वैरेव यदीदमुक्तं किमर्थं तव यत्न इत्याशङ्क्याह—इयदिति। अस्माभिरितिवाक्यशेषः। पुनः शब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः।

यहाँ पर यह शङ्का करके कि 'जब पहले के लोगों ने ही यह कह दिया तब तुम्हारा यह यत्न किस लिये है ?' कहते हैं—'इतना' यह। इसमें 'हमलोगों के द्वारा' यह वाक्य का शेष है। पुनः शब्द उस कहे हुये से विशेषता को बतलानेवाला है।

तारावती

व्यञ्जकता मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु अलंकार व्यङ्ग्य हो सकते हैं इस बात को सिद्ध करने के लिये यह दिखला दिया हैं कि एक अलंकार से दूसरा अलंकार व्यङ्ग्य होता है। अथवा इस बात को हम दूसरी भांति भी सिद्ध कर सकते हैं—अलंकारान्तरस्य अलंकारान्तरे व्यङ्ग्यम्' इस वाक्य का अर्थ करने में 'अलंकारान्तरे' इस शब्द के अन्तर शब्द का अर्थ किया गया था 'दूसरा' और सप्तमी का अर्थ किया गया था 'निमित्त'। इस प्रकार यह अर्थ हो गया था कि अन्य अलंकार की व्यञ्जना में दूसरा अलंकार निमित्त होता है। अब 'अंतर' शब्द का दोनों स्थानों पर 'विशेष' अर्थ कर लिया जावे और सप्तमी को पहले के समान निमित्त सप्तमी न मानकर विषय सप्तमी मान लिया जावे। अब इसका अर्थ हो जावेगा एक विशेष वाच्यालंकार के विषय में एक विशेष प्रकार का व्यङ्ग्यालंकार शोभित हुआ करता है यह उद्भट इत्यादि ने कहा हैं, अतएव उन्होंने यह स्वीकार ही कर लिया कि अर्थशक्ति से अलंकार उपगत होता है (अर्थशक्ति में वस्तु तथा अलंकार दोनों आ जाते हैं।) किन्तु

ध्वन्यालोकः

यथा—

चन्दमयूएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हंसेहिं सरअसोहा कव्वकहा सज्जनहिं करइ गरुई॥
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियत गुर्वी॥ इति छाया।)

इत्यादिषूपमागर्भत्वे सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः।

(अनु०) जैसे—

'चन्द्र किरणों से निशा, कमलों से नलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्कालीन शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गुरु बनाई जाती है।'

इत्यादि उदाहरणों में उपमागर्भित होने पर भी वाच्यालंकार के द्वारा ही चारुता व्यवस्थित होती है व्यङ्ग्यालंकार के तात्पर्य से नहीं। अतएव वहाँ पर वाच्यालंकार के द्वारा काव्य का नामकरण न्याय्य है।

लोचन

चन्दमऊ इति। चन्द्रमयूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः। सज्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता। चन्द्रमयूखैश्च निशायाः गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यत्क्रियते, कमलैर्नलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि, कुसुमगुच्छैर्लतायाः अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वं काव्यकथायाः सज्जनैरित्येतावानयमर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकबलाच्चकास्ति। कथाशब्द इदमाह—आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूक्ष्मा विशेषाः, सज्जनैर्विना काव्यमित्येष शब्दोऽपि न ध्वंसते। तेषु तु सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्दव्यपदेशभागपि शब्दसन्दर्भमात्रम्। तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्येनोपमायाः।

'चन्दमऊ' इति। चन्द्रमयूख इत्यादि का निशा इत्यादि के बिना कोई भी परम सौभाग्य प्राप्त नहीं होता सज्जनों की भी काव्यकथा के विना कैसी सज्जनता? भास्वरत्व और सेव्यत्व इत्यादि जो किया जाता है उससे चन्द्रकिरणों से निशा का गुरुत्वसम्पादन, कमलों से नलिनी की शोभा परिमललक्ष्मी इत्यादि। पुष्पगुच्छों से लता का अभिगम्यत्व मनोहरत्व इत्यादि हंसों से शरत्काल की शोभा का श्रुतिसुखकरत्व और मनोहरत्व इत्यादि वह सब काव्यकथा से सज्जनों के द्वारा गुरु किया जाता हैं इतना यह अर्थ दीपक के बलपर प्रकाशित होता है। कथा शब्द यह बतलाता है—काव्य की कुछ सूक्ष्म विशेषतायें बनी रहें, सज्जनों के विना तो 'काव्य' यह शब्द ही ध्वस्त हो जाता है। उनके होते हुये तो काव्य शब्द का नाम धारण करनेवाला शब्दसन्दर्भ मात्र भी सुभग बन जाता है। उनके द्वारा ऐसा किया जाता है जिससे आदरणीयता को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार दीपक का ही प्राधान्य है उपमा का नहीं।

तारावती

उद्भट इत्यादि केवल अलंकारों का लक्षण करनेवाले थे अतः उन्होंने वाच्यालंकार विशेष के विषय में व्यङ्ग्यालंकारों का प्रतिपादन किया। यही अर्थ करना ठीक है।

(प्रश्न) जब पुराने आचार्यों ने इस बात को स्वीकार ही कर लिया फिर आप व्यर्थ में पिष्टपेषण क्यों कर रहे हैं ? (उत्तर) इस विषय में मुझे फिर इतना और कहना है—फिर का अर्थ है जितना कहा चुका है उसके अतिरिक्त–'जहाँ, पर वाच्यालंकार से भिन्न व्यङ्ग्य अलंकार की प्रतीति तो हो रही हो किन्तु वहां पर वाच्यालंकार व्यङ्ग्यालंकारपरक न हो वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता।'

ध्वनि वहीं पर होती है जहां व्यङ्ग्य की प्रधानता हो और वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य के सौंदर्य-पोषक के रूप में ही अवस्थित हो। वह ध्वनि का मार्ग नहीं हो सकता जहां पर दूसरे अलंकारों के होने पर किसी एक अलंकार की अनुरणनात्मक व्यञ्जना तो हो किन्तु वाच्यालंकार की सुन्दरता व्यङ्ग्य का प्रतिपादन करने के ही कारण न प्रतीत हो रही हो। उदाहरण के लिये दीपक इत्यादि अलंकारों में उपमा की व्यञ्जना तो अवश्य होती है किन्तु काव्यसौन्दर्य की व्यवस्था उस उपमा के ही कारण नहीं। अतएव वहाँ पर उपमा की ध्वनि नहीं कही जा सकती। जैसे—'चन्द्र किरणों से निशा, कमलों से कमलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गौरवमय बनाई जाती है।'

यहाँ पर कर्ता के रूप में चन्द्रमयूख इत्यादि अप्रस्तुतों और प्रस्तुत सज्जनों तथा कर्म के रूप में अप्रस्तुत निशा इत्यादिकों और प्रस्तुत काव्यकथा का 'गौरवशाली बनाना' रूप एक धर्म में अभिसम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार वाच्य है और उससे 'सज्जन चन्द्रमयूख इत्यादि के समान हैं और काव्यकथा निशा इत्यादि के समान है' इस उपमा की व्यञ्जना होती है। यहाँ काव्यसौन्दर्य की व्यवस्था वाच्यालंकार दीपक के ही कारण होती है व्यङ्ग्यालंकार उपमा के कारण नहीं। इसको इस प्रकार समझिये—चन्द्रकिरणों के द्वारा तो निशा की शोभा होती है, चन्द्रकिरणों को भी बिना रात्रि के कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात कमल और कमलिनी इत्यादि के विषय में कहीं जा सकती है। यह तो हुई उपमान अंश की बात। उपमेय अंश के विषय में भी यही कहा जा सकता है। सज्जनों से काव्यकथा की शोभा बढ़ती है। किन्तु सज्जन भी बिना काव्यकथा के सज्जन कैसे हो सकते हैं ? अतएव उपमापरक यहाँ पर वाच्य नहीं है और न उपमा के द्वारा काव्य-सौन्दर्य व्यवस्थित ही होता है। अब दीपक को ले लीजिये जो कि वाच्यालंकार है—चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि में गुरुता उत्पन्न की जाती है क्योंकि चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि को प्रकाशमान तथा सेवन करने योग्य बनाया जाता है। इसी प्रकार शोभा और सुगन्धि प्रदान करने के कारण कमलिनी को गौरव प्रदान करते हैं, पुष्पगुच्छों से लताओं का गौरव बढ़ जाता है क्योंकि उनसे लताओं में मनोहरता आ जाती है और वे निकट जाने का आकर्षण उत्पन्न करनेवाली बन जाती हैं। हंस शरत्काल

ध्वन्यालोकः

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। यथा—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

(अनु०) किन्तु जहाँ पर वाक्य की अवस्थिति व्यङ्ग्यपरक के रूप में ही होती है वहां पर व्यङ्ग्य के द्वारा ही नामकरण उचित होता हैं। जैसे—

"इनको तो लक्ष्मी प्राप्त हो गई है फिर क्यों ये पुनः मन्थन का कष्ट उठावेंगे ? आलस्य रहित मनवाले इनको पूर्व परिचित निद्रा की भी मैं सम्भावना नहीं करता हूँ। समस्त द्वीपों के स्वामियों के द्वारा अनुगमन किये हुये ये पुनः सेतु क्यों बाँधेंगे ?, तुम्हारे निकट आने पर समुद्र का कम्पन इन विकल्पों को करता हुआ सा प्रतीत होता है।"

लोचन

एवं तु कारिकार्थमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्य एव कारिकाया व्यवच्छेद्यबलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं स ध्वनेर्मार्ग इत्येवं रूपस्तं व्याचष्टे—यत्र त्विति। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद्व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोगमुदाहरणेषु योज्यम्। उदाहरति-प्राप्तेति। कस्मिंश्चिदनन्तबलसमुदायवति नरपतौ समुद्रपरिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोदयतदीयबलावगाहनादिना निमित्तेन पयोधेस्तावत्कम्पो जातः। सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेक्ष्यते इति स सन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः। तेन च वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते। यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात्

इस प्रकार उदाहरण के द्वारा कारिका के अर्थ को दिखलाकर इसी कारिका के व्यवच्छेद्य के बलपर जो अर्थ अभिमत है 'जहाँ तत्परत्व हो वह ध्वनि का मार्ग होता है' इस रूपवाला, उसकी व्याख्या की जा रही है—'जहाँ तो' इत्यादि। वहाँ पर कभी वाच्यालङ्कार से व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर, अथवा वाच्यालङ्कार की सत्तामात्र व्यञ्जना नहीं अथवा वाच्यालङ्कार का अभाव ही ये तीन प्रकार के विकल्प हैं। यह तो यथायोग उदाहरणों में मिला लेना चाहिये। उदाहरण देते है—'प्राप्त' इति। किसी अनन्तबलसमुदायवाले राजा के समुद्र परिसर के निकटवर्ती होने पर पूर्णचन्द्रोदय तथा उसकी सेना के अवगाहन इत्यादि के द्वारा समुद्र का कम्पन उत्पन्न हो गया। उसकी इस सन्देह के द्वारा उत्प्रेक्षा की गई है इस प्रकार सन्देह और उत्प्रेक्षा के संकर से संकरालंकार वाच्य है। उससे उस राजा की वासुदेवरूपता ध्वनित होती है। यद्यपि यहाँ पर व्यतिरेकालंकार शोभित होता है तथापि वह पहले के वासुदेवस्वरूप से है

लोचन

नाद्यतनात्। अद्यतनत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्तमानत्वात्।

आजकल के नहीं। क्योंकि आजकल के तो वासुदेव के भी लक्ष्मी को प्राप्त किये हुये होने के कारण- आलस्यरहित होने से तथा समस्तद्वीपाधिपतियों के रूप में वर्तमान होने से (व्यतिरेक नहीं हो सकता)।

तारावती

की शोभा बढ़ाते हैं क्योंकि उनके स्वर से कानों को तृप्ति प्राप्त होती है और मनोहरता बढ़ जाती है। ये समस्त गुण सज्जन की उपस्थिति से काव्यकथा में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त गुणों का समन्वय दीपक के द्वारा ही प्रकट होता है उपमाद्वारा नहीं। सज्जनों से केवल काव्य की शोभा नहीं बढ़ती किन्तु कथा की शोभा बढ़ती है। कथा का अर्थ है 'कथन करना'। कथा शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि सज्जनों की अनुपस्थिति में काव्य का कथन करना (नामलेना) भी ध्वस्त हो जाता है। भले ही किसी काव्य में ध्वनि इत्यादि महत्त्वपूर्ण गुण बने हैं किन्तु सज्जनों के अभाव में उन्हें कोई नहीं पूछता। सज्जनों की उपस्थिति में समस्त काव्य सन्दर्भ-कथन (काव्य का नाम) प्राप्त कर लेता है। सज्जन काव्य को ऐसा बना देते हैं जिससे वह आदर का पात्र बन जाता है। इस प्रकार यहाँ पर वाच्यालंकार दीपक की ही प्रधानता है अतएव उसी के द्वारा काव्यसंज्ञा प्रदान करना उचित है। ऐसे स्थानों पर व्यङ्ग्य अलंकारों के होते हुये भी ध्वनि काव्य नहीं कहा जाता।

प्रस्तुत कारिका का अर्थ यह है कि जहां पर व्यङ्ग्यालंकार की प्रधानता नहीं होती वहाँ ध्वनि काव्य नहीं होता। इस प्रकार ध्वनि-निरूपण के प्रकरण में यह कारिका ध्वनि के अभाव का निर्देश करती है। यहाँ तक कारिका के अभावपूरक अर्थ की उदाहरण के द्वारा व्याख्या की जा चुकी। इस कारिका में जो ध्वनि सिद्धान्त का व्यवच्छेद दिखलाया गया है उसके बलपर ध्वनि के लिये जो अभिमत विषय होता है उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ पर वाच्यालंकार व्यङ्ग्यालंकार के आधीन हो वहाँ पर ध्वनि काव्य कहा जाता है। अब इसी सिद्धान्त की उदाहरणों के द्वारा व्याख्या की जावेगी। व्यङ्ग्यालंकार की प्रधानता होने पर वाच्यालंकार की स्थिति के विषय में तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) वाच्यालंकार के द्वारा कभी-कभी दूसरा व्यङ्ग्य अलंकार प्रतीतिगोचर होता है, (२) अथवा वाच्यालंकार की केवल सत्ता तो होती है किन्तु वह अभिव्यञ्जना की क्रिया में सहायक नहीं होता, अथवा (३) वहाँ पर वाच्यालंकार होता ही नहीं। इन तीनों विकल्पों की यथास्थान उदाहरण में योजना कर लेनी चाहिये। अब उदाहरण के लिये रूपक ध्वनि को लीजिये—

कोई चारण कह रहा है—'हे राजन् आपके निकट आने पर जो कि समुद्र काँपने लगता है उससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों वह संकल्प-विकल्प करने लगता है कि

तारावती

इन्हें तो लक्ष्मी प्राप्त हो गई है फिर ये मथने का कष्ट क्यों करेंगे ? अब इनके मन में आलस्य भी नहीं है अतः मैं इनकी पहलेवाली निद्रा की भी सम्भावना नहीं कर सकता। जब समस्त द्वीपों के स्वामी इनके पीछे चलते हैं तब ये दुबारा सेतु क्यों बाँधेंगे?' मानों यही संकल्प-विकल्प समुद्र के मन में उठते हैं।'

सेना के एक विशाल समुदाय को लेकर जब राजा समुद्र तट पर आया उस समय पूर्ण चन्द्रोदय के प्रभाव से अथवा सैनिकों के समुद्रजलावगाहन के कारण समुद्र में ज्वार भाटे आने लगे। उनको देखकर कोई कवि कल्पना कर रहा है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों समुद्र यह समझकर भयभीत हो जाता है और काँपने लगता है कि क्या यह लक्ष्मी के निमित्त मुझे मथन के लिये आये हैं? किन्तु लक्ष्मी तो इन्हें पहले ही प्राप्त हो चुकी, फिर से मथने का कष्ट ये क्यों उठावेंगे ? न इन्हें आलस्य ही मालूम पड़ रहा है जो ये सोने के लिये आये हों। न इनका कोई शत्रु ही है जो कि उस पर आक्रमण करने के लिये इन्हें सेतुबन्धन की आवश्यकता पड़ी हो। यह सन्देह वाच्य है क्योंकि कवि ने स्वयं कहा है कि समुद्र संकल्प-विकल्प में पड़ जाता है। 'मानों वह संकल्प-विकल्प में पड़ जाता है' यह उत्प्रेक्षा है जो कि पूर्वोक्त सन्देह के द्वारा पुष्ट हो जाती है। इस प्रकार सन्देह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसंकर वाच्य है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि 'प्रस्तुत राजा विष्णुरूप है।' यही वास्तव में कवि का प्रतिपाद्य है और उसके लिये वह उपर्युक्त सन्देह और उत्प्रेक्षा का अभिधान करता है। वाच्यालंकार व्यङ्ग्यपरक है, इसलिये यहां पर रूपकध्वनि है।

(प्रश्न) यहाँ व्यतिरेक की भी तो अभिव्यक्ति होती है, विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई थीं प्रस्तुत राजा को प्राप्त हो गई हैं। विष्णु को आलस्य था प्रस्तुत राजा को नहीं है, विष्णु का शत्रु रावण लङ्का में रहता था, प्रस्तुत राजा का कोई शत्रु नहीं है प्रत्युत सभी द्वीपाधिपति इनके पीछे चलते हैं। अतएव विष्णु की अपेक्षा ये अधिक महान् हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के अभिव्यक्त होने के कारण व्यतिरेकध्वनि ही होनी चाहिये रूपक ध्वनि किस प्रकार हो सकती है ? (कुन्तक ने तृतीय उन्मेष में इसे प्रतीयमान व्यतिरेक माना है। संभवतः यह प्रश्न कुन्तक की मान्यता को पूर्वपक्ष बनाने के लिये ही हो।) (उत्तर) यद्यपि यहाँ पर व्यतिरेक प्रतीत होता है तथापि वह पुराने विष्णु के स्वरूप से ही व्यतिरेक कहा जा सकता है वर्तमान विष्णु के स्वरूप से नहीं। अब तो विष्णु को भी लक्ष्मी प्राप्त हो चुकी है, आलस्य भी दूर हो चुका है और रावण इत्यादि द्वीपाधिपतियों पर विजय भी प्राप्त हो चुकी है। अतः वर्तमान विष्णु के साथ तो प्रस्तुत राजा का अभेद ही हो सकता है। अतएव इसे रूपक ध्वनि मानना ही उचित है।

(प्रश्न) यहाँ पर रूपक सन्देह और उत्प्रेक्षा का पोषक अथवा साधकमात्र है। अतएव रूपक की प्रधानता नहीं हो सकती। जबतक राजा पर विष्णु के अभेद का आरोप न कर

लोचन

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिबलाद्रूपकस्याक्षेपः, येन वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वं व्यङ्ग्यस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलक्ष्मीको निर्व्याजविजिगीषाक्रान्तः स मां मथनीयादित्याद्यर्थसम्भावनात्। न च पुनरपीति पूर्वामिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोऽर्थस्य च कर्तृभेदेऽपि समुद्रैक्यमात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वं कार्तवीर्येण जिता पुनरपि जामदग्न्येनेति। पूर्वा निद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकध्वनिरेवायमिति। शब्दव्यापारं विनैवार्थसौन्दर्यबलाद्रूपणाप्रतिपत्तेः।

यथा च—

ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्॥
एकोऽवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो
मत्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम्॥

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तदसत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेन वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात्।

सन्देह और उत्प्रेक्षा की अनुपपत्ति के बल पर रूपक का आक्षेप नहीं होता जिससे व्यङ्ग्य का वाच्यालंकारोपस्कारकत्व हो। क्योंकि (यहाँपर) इस अर्थ की सम्भावना की जा सकती है कि जो जो लक्ष्मी को प्राप्त किये हुये नही होता अथवा बिना बहाने विजय की इच्छा से आक्रान्त होता है वह मुझे मथ सकता है। यह भी नही (कहा जा सकता है) कि 'पुनरपि' 'पूर्वाम्' और 'भूयः' इन शब्दों से यह अर्थ आकृष्ट कर लिया जाता है। क्योंकि कर्ता के भेद में भी 'पुनः' अर्थ की और 'भूयः' अर्थ की समुद्र की एकतामात्र से ही उत्पत्ति हो जाती है जैसे पृथ्वी पहले कार्तवीर्य के द्वारा जीती गई फिर जमदग्निपुत्र परशुराम के द्वारा। और पहले की निद्रा राजपुत्र इत्यादि अवस्था में भी हो सकती है अतः सिद्ध हो जाता है कि यह रूपकध्वनि ही है क्योंकि शब्दसौन्दर्य के बिना ही अर्थसौन्दर्य के बलपर ही आरोप की प्रतिपत्ति नहीं होती।

और जैसे—

'ज्योत्स्ना-पूरके प्रवाह से धवल सरयू के इस तटपर किन्हीं दो सिद्ध युवकों का बड़ी देर तक विवादरूपी द्यूत होता रहा—एक केशी को प्रथम मारा हुआ कहता था दूसरा कंस को, तत्त्व को समझकर बतलाइये कि आपने किसको पहले मारा?'

इसको कुछ लोग यहाँ पर उदाहरण के रूप में पढ़ते हैं, वह ठीक नहीं है। 'आप के द्वारा' इस शब्द के बलपर यहाँ पर तुम वासुदेव हो यह अर्थ स्फुट कर दिया गया है।

तारावती

दिया जावे तब तक न समुद्र के विकल्प ही सङ्गत हो सकते हैं जो कि सन्देहालङ्कार में बीज

तारावती

हैं और न समुद्र के कम्पन के हेतु की कल्पना ही ठीक हो सकती है जिससे उत्प्रेक्षा सिद्ध हो सके। इस प्रकार रूपक जब कि वाच्यालङ्कारों का उपस्कारक मात्र है तब रूपकध्वनि किस प्रकार कही जा सकती है ? (उत्तर) 'यह विष्णु हैं' यही जानकर समुद्र में वितर्क और कम्पन की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु यह जान करके भी हो सकती है कि जिस किसी को लक्ष्मी की कामना होगी वही मुझे मथेगा, जिस किसी को आलस्य का अनुभव होता है वह मुझे शय्या बनाने की चेष्टा करता हैं, जिसको शत्रुओं पर बिना किसी बहाने विजय प्राप्त करने की कामना होती है वही सेतु बांधना चाहता हैं, विष्णु भगवान् को भी इन चीजों की आवश्यकता थी अतः वे भी मेरे निकट आये थे और ज्ञात होता है इन महाराज को भी उन्हीं वस्तुओं की कामना है अतः ये भी मेरे निकट आ रहे हैं। इस कल्पना से भी वितर्क और भय उत्पन्न हो सकते हैं। अतः 'ये विष्णु हैं' यह बात सर्वथा व्यङ्ग्य ही है जो कि समुद्र के वितर्क और भय से पुष्ट होती हैं। अतएव यहाँ पर रूपक की ध्वनि ही कही जावेगी वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत नहीं। (प्रश्न) ये पुनः मथने का कष्ट क्यों करेंगे ? में 'पुनः' शब्द यह प्रकट करता है कि ये विष्णु हैं जो एक बार तो मथ चुके थे अब दूसरी बार फिर मथना चाहते हैं। यही बात 'पहलेवाली' निद्रा और 'दुबारा सेतुबन्धन क्यों करेंगे ?' में पहलेवाली और दुबारा शब्द से भी सिद्ध होती है। इस प्रकार विष्णुरूपता वाच्य हैं व्यङ्ग्य नहीं हो सकती फिर यहाँ पर रूपकध्वनि किस प्रकार कही जा सकती है ? (उत्तर) मथनेवाले, सोनेवाले और सेतु बाँधनेवाले में भेद होने पर भी समुद्र तो एक ही है, वह यह सोच सकता है कि पहले मैं विष्णु के द्वारा मथा गया था अब की बार पुनः इन राजा के द्वारा मथा जाऊँगा। पहले मुझे विष्णु ने शय्या बनाया था अब की बार इनके द्वारा बनाया जाऊँगा, पहले मुझे विष्णु ने बाँधा था अब की बार इनके द्वारा बाँधा जाऊँगा। भेद में भी 'पुनः' 'भूयः' इत्यादि शब्द देखे जाते हैं जैसे पहले पृथ्वी कार्तवीर्य के द्वारा जीती गई पुनः परशुराम के द्वारा। राजपुत्र इत्यादि की अवस्था में भी नीद का पुरानापन सिद्ध हो सकता हैं। अर्थात् जब ये महाराज राजपुत्र की अवस्था मे थे तब बड़े आराम से सोते थे इन्हें कोई चिन्ता ही नहीं थी। अब जब से ये महाराज पद पर प्रतिष्ठित हो गये हैं तब से इनका आलस्य जाता रहा। अतएव यहाँ पर बिना ही शब्दव्यापार के केवल अर्थ के बलपर राजा पर विष्णु के अभेद का आरोप हो जाता है। अतः यह रूपकध्वनि ही है। (पण्डितराज ने यहाँ पर भ्रान्तिमान् की ध्वनि मानी है। उनका कहना है कि समुद्र को भय या वितर्क तभी उत्पन्न हो सकता है जब कि समुद्र राजा को विष्णु ही समझ जावे। यदि आरोपमात्र माना जावेगा तो समुद्र को भय उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह भ्रान्तिमान् ध्वनि ही है रूपकध्वनि नहीं। किन्तु रूपक में भेद का सर्वथा स्थगन न हो जाता हो ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि भ्रान्ति समुद्र को हो सकती है किन्तु चारण को भ्रान्ति नहीं है, यहाँ पर राजा और विष्णु में भेद का स्थगन चारण ने ही किया

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनिरितिव्यपदेशो न्याय्यः।

(अनु०) अथवा मेरा ही पद्य—

'हे तरल और आयत नेत्रोंवाली ? तुम्हारे इस मुख के लावण्य और कान्ति से दिशाओं के मुख को भर देने पर तथा मुस्कुराहट के होने पर इस समय जो कि यह समुद्र कुछ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हो रहा है अतः मैं समझता हूँ कि यह स्पष्ट ही जलराशि है।'

(अनु०) इस प्रकार के विषय में अनुरणन रूप रूपक का आश्रय लेने से ही काव्य के चारुत्व की व्यवस्था होती है। अतः इसको रूपक-ध्वनि कहना ही ठीक है।

लोचन

लावण्यं संस्थानमुग्धिमा, कान्तिः प्रभा ताभ्यां परिपूरितानि संविभक्तानि हृद्यानि सम्पादितानि दिङ्मुखानि येन। अधुना कोपकालुष्यादनन्तरं प्रसादौन्मुख्येन। स्मेरे ईषद्विहसनशीले तरलायते प्रसादान्दोलनविकाससुन्दरे अक्षिणी यस्यास्तस्याः आमन्त्रणम्। अयं चाधुना न एति, वृत्ते तु क्षणान्तरे क्षोभमगमत्। कोपकषायपाटलं स्मेरं च तव मुखं सन्ध्यारुणपूर्णशशधरमण्डलमेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य। न चैति तत्सुव्यक्तमन्वर्थतायां जलराशिर्जाड्यसञ्चयः। जलादयः शब्दा भावार्थप्रधाना इत्युक्तं प्राक् अत्र च क्षोभो मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखावलोकनेन भवतीत्य-

लावण्य अर्थात् संस्थान या बनावट की मुग्धता अर्थात् सौन्दर्य, कान्ति अर्थात् प्रभा उन दोनों से संविभक्त अर्थात् हृद्य कर दिये गये हैं दिशाओं के मुख जिसके द्वारा। इस समय पर अर्थात् कोप-कालुष्य के बाद प्रसन्नता की ओर उन्मुख होने से। स्मेर अर्थात् कुछ विहसनशील तरल और आयत अर्थात् प्रसन्नता से आन्दोलन और विकास के कारण सुन्दर हैं दोनों नेत्र जिसके (स्त्री) उसका सम्बोधन का (यह) रूप है। और भी इस समय पर प्राप्त नहीं होता, बीते हुये दूसरे क्षण में तो क्षोभ को प्राप्त हो गया था। कोप के कारण कषाय और पाटल तुम्हारा मुख सन्ध्या अरुण पूर्ण शशधर-मण्डल ही है अतः सहृदय के चलचित्त होने के कारण क्षोभ होना ही चाहिये। प्राप्त नहीं होता है अतः सुव्यक्त रूप में अन्वर्थ रूप में ही यह जलराशि अर्थात् जाड्यसञ्चयवाला है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जल इत्यादि शब्द भावार्थ-प्रधान है और यहाँ पर 'तुम्हारे मुख के अवलोकन से सहृदय के अन्दर काम-

लोचन

मिधाया विश्रान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव । वाच्यालङ्कारश्चात्र श्लेषः, स च न व्यञ्जकः। अनुरणनरूपं यद्रूपकमर्थशक्तिव्यङ्गयं तदाश्रयेणेह काव्यस्य चारुत्वं व्यवतिष्ठते। ततस्तेनैव व्यपदेश इति सम्बन्धः।

तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्युदाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम्।

विकारात्मक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, इतने में ही अभिधा के विश्रान्त होने के कारण रूपक ध्वन्यमान ही है; और यहाँ पर श्लेष वाच्यालंकार है, वह व्यञ्जक नहीं है। जो अनुरणनरूप रूपक अर्थशक्ति द्वारा व्यङ्गय (है) उसके आश्रय से यहाँ पर काव्य में चारुता व्यवस्थित होती है। अतः उसी से नामकरण होता है, यह सम्बन्ध है।

तुल्ययोजना के कारण उपमाध्वनि के दोनों उदाहरणों के लक्षण अपने कण्ठ से नहीं कहे हैं।

तारावती

है। वही वक्ता है। अतः यहां पर रूपकध्वनि मानना ही ठीक है। यहां पर वाच्यालङ्कार सन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्कर व्यङ्गय अलङ्कार रूपक की प्रतीति में सहायक हो रहा है।)

कुछ पुस्तकों में रूपकध्वनि के रूप में निम्नलिखित एक उदाहरण और पाया जाता है—'चन्द्रिका-प्रवाह के विस्तार के कारण श्वेतिमा को प्राप्त हुये समुद्र के इस तट पर किन्हीं दो सिद्ध युवकों में बड़ी देरतक विवाद होता रहा। उनमें एक कहता था कि केशी पहले मारा गया और दूसरा कहता था कि पहले कंस मारा गया। आप समझकर तत्त्व की बात बतलाइये कि आपने पहले किसको मारा?'

यह उदाहरण प्रक्षिप्त हैं। यह ध्वनि का उदाहरण हो ही नहीं सकता। क्योंकि 'आपने पहले किसको मारा' इस वाक्य से यह बात उक्त हो जाती है कि आप विष्णु हैं। अतः यह रूपक वाच्य ही है व्यङ्गय नहीं।

रूपकध्वनि का दूसरा उदाहरण जैसे आनन्दवर्धन का पद्य 'हे तरल और आयत (प्रसन्नता के कारण चञ्चल और विशाल) नेत्रोंवाली? इस समय जबकि कोप-कालुष्य के शान्त हो जाने के उपरान्त तुम प्रसन्नता की ओर उन्मुख हो रही हो तुम्हारे कुछ मुस्कुराहट से युक्त मुख के अपने लावण्य (अवयव संस्थान का सौन्दर्य) और कान्ति (प्रभा) के द्वारा दिङ्मण्डल के परिपूर्ण हो जाने पर भी जोकि समुद्र संक्षोभ को प्राप्त नहीं हो रहा है इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि यह समुद्र जलराशि (जड़) है।'

लावण्यका अर्थ है संस्थान की मुग्धता और कान्ति का अर्थ है प्रभा; उनसे दिङ्मण्डल परिपूरित कर दिये गये हैं। कहने का आशय यह है कि नायिका के सौन्दर्य के कारण दिङ्मण्डल हृद्य बना दिये गये हैं। 'अधुना' (इस समय) का अर्थ है कोप-कालुष्य के शान्त हो जाने के बाद जब कि तुम्हारा मुख प्रसन्नता की ओर उन्मुख हो रहा है। स्मेर का अर्थ है

तारावती

कुछ विहसनशील। नायिका के नेत्र तरल और आयत हैं। तरल का अर्थ हैं प्रसन्नता के कारण आन्दोलित होनेवाले और आयत का अर्थ है विकास के कारण सुन्दर। 'इस समय पर समुद्र क्षुब्ध नहीं हो रहा हैं' का आशय है कि अभी कुछ देर पहले जब तुम क्रोध से भरी हुई थी उस समय समुद्र क्षुब्ध हो गया था। इससे यह व्यक्त होता है कि कोप के कारण अरुण तथा मुस्कुराहट से परिपूर्ण मुख सन्ध्याकी अरुणिमा से युक्त पूर्ण चन्द्रमण्डल ही है। सहृदयों का चित्त चञ्चल हुआ करता हैं अतएव जो सहृदय होगा उसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न हो ही जावेगा। इस समुद्र का चित्त क्षोभ को प्राप्त नहीं हो रहा है अतः इसका जलराशि नाम अन्वर्थ है। जलराशि का अर्थ हैं जाड्य का सञ्चय। यदि यह जाड्य का सञ्चय ही न होता तो मुख को देखकर क्यों क्षुब्ध न हो जाता ? र और ल का अभेद माना जाता है। अतः जलराशि का अर्थ जड़राशि होना चाहिये। किन्तु जल इत्यादि शब्द भावप्रधानार्थक होते हैं यह पहले ही बतलाया जा चुका है। अतएव जलराशि का अर्थ जाड्यराशि होगा जड़राशि नहीं। यदि नायिका के मुख पर चन्द्र का आरोप न भी किया जावे तब भी वाच्यार्थ अपूर्ण नहीं रहता। तब इसका अर्थ यह हो जाता है कि सहृदय व्यक्ति के अन्तःकरण में नायिका के मुख को देखकर संक्षोभ (कामविकार) अवश्य उत्पन्न हो जाता है। समुद्र में नहीं हो रहा हैं इससे ज्ञात होता है कि वह सहृदय नहीं है किन्तु जड़ता का समूह है। इस वाच्यार्थ की विश्रान्ति यहीं पर हो जाती है। रूपक इससे अधिक है, इससे वह व्यङ्ग्य है। यहाँ पर जल शब्द का श्लेष वाच्यालङ्कार है किन्तु यह श्लेष व्यञ्जक नहीं है अपितु अर्थशक्ति ही व्यञ्जक है। नायिका के मुख को देखकर समुद्र क्षुब्ध नहीं होता। (यदि यहाँ पर श्लेष को व्यञ्जक मान लिया जावे तो यह अर्थशक्तिमूलकध्वनि न होकर शब्दशक्तिमूलकध्वनि हो जावेगी। यदि जलराशि शब्द का प्रयोग न किया जावे केवल इतना ही कहा जावे कि समुद्र नायिका के मुख को देखकर जो कि क्षुब्ध नहीं होता, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि समुद्र सहृदय नहीं है तो भी नायिका के मुख पर चन्द्र के आरोप की ध्वनि निकल आवेगी। अतः जलराशि शब्द का श्लेष व्यञ्जक नहीं है। पहले व्यञ्जक अलङ्कार की तीन अवस्थायें बतलाई गई थीं। प्रथम अवस्था में अलङ्कार स्वयं दूसरे अलङ्कार का व्यञ्जक होता है। इसका उदाहरण पहला पद्य है जिससे सन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्कर रूपकका व्यञ्जक हो गया है। दूसरी अवस्था के अनुसार अलङ्कार बना तो रहता है किन्तु वह व्यञ्जक नहीं होता। उसका यह उदाहरण है।) यहाँ पर जो अर्थशक्ति के द्वारा व्यक्त होनेवाला अनुरणरूप रूपक है उसी के द्वारा किया जाना चाहिये यही मूल की योजना है।

(२) अब इसके बाद उपमाध्वनि के दो उदाहरण दिये जावेंगे आनन्दवर्धन ने उदाहरण तो दे दिये हैं किन्तु उनकी योजना लक्षण के साथ नहीं की है। इसका कारण यह है कि इनकी योजना रूपक के समान ही की जा सकती है।

ध्वन्यालोकः

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिणरूणम्मि ण तदा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे ॥

उपमाध्वनि का उदाहरण जैसे—

'केसर से अरुण प्रियतमा के स्तनोत्सङ्ग में वीरों की दृष्टि उतनी नहीं रमती जितनी कि शत्रु के हाथियों के घने सिन्दूरवाले कुम्भस्थलों में रमती है।'

लोचन

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः। तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्वशेन रतिमाददानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशयचमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम् ।

'वीरों की दृष्टि केसर से अरुण प्रियास्तनों के उत्संग में उतनी नहीं रमती जितनी घने सेंदुरवाले शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थल पर रमती है।'

शृङ्गार को हुई प्रियतमा की आश्वासनपरता और शीघ्र ही होनेवाले युद्ध के विषय में मन में त्वरा होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होते हुये भी युद्ध में त्वरा की अतिशयता है इस प्रकार व्यतिरेक वाच्यालंकार है। उसमें तो जो यह प्रियतमा के कुच-कलियों से ध्वन्यमान उपमा है वह सभी जनों के अन्दर त्रास उत्पन्न करनेवाले भी मर्दन में उद्यत शत्रुओं के गजकुम्भस्थलों में उपमा के कारण रति को ग्रहण करनेवालों के समान बहुत आदर है, इस प्रकार वह (उपमा) ही वीरता के अतिशय के चमत्कार को उत्पन्न करती हैं अतः उपमा का ही प्राधान्य है।

तारावती

(अ) उपमाध्वनि का प्रथम उदाहरण—

वीरों की दृष्टि केसर के रंग से लालिमा को प्राप्त होनेवाले अपनी प्रियतमा के स्तनमण्डल पर पड़कर उतने आनन्द को प्राप्त नहीं होती जितनी घने सिन्दूर से रंगे हुये शत्रु के हाथियों के मस्तक पर पड़कर आनन्दित होती है।

एक ओर तो प्रियतमा शृङ्गार किये हुये बैठी है, उसके शृङ्गार का सन्तोष करना है। दूसरी ओर मन में युद्ध के लिये त्वरा उत्पन्न हो रही हैं, किन्तु फिर भी युद्ध के लिये उत्कण्ठा की अधिकता है। अतएव व्यतिरेक अलङ्कार वाच्य है। इससे इस उपमालङ्कार की व्यञ्जना

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव विषमवाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—

तं ताण सिरिसहोअर रअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमवाणेन ॥
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाणेन ॥) इति छाया

(अनु०) अथवा जैसे मेरा ही विषमवाणलीला में असुर-पराक्रम के अवसर पर कामदेव के विषय में कहा हुआ पद्य—

'श्री-सहोदर रत्नों के हरण में एकरसवाला उनका वह हृदय, कुसुमवाण के द्वारा प्रियतमाओं के विम्बाधरों में निविष्ट कर दिया गया ।'

तारावती

होती है कि हाथियों के सिन्दूर से रंगे हुये मस्तक प्रियतमा के सिन्दूर लिप्त स्तनों की कलियों के समान हैं । यहाँ पर काव्य के सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा में ही होता है । यद्यपि शत्रुओं के हाथियों का समूह समस्त व्यक्तियों में त्रास उत्पन्न कर रहा है और वह समस्त जनसमूह का भेदन करने के लिये उद्यत हो रहा हैं किन्तु फिर भी वीरों को उन हाथियों के मस्तकों का मर्दन करने में इतना अधिक आनन्द आता है जितना किसी साधारण व्यक्ति को अपनी प्रियतमा के कुचकुम्भों के मर्दन में आया करता है । इस प्रकार उपमा के द्वारा वीरों की युद्ध-विषयक रति अभिव्यक्त होती है जो कि वीरता की अधिकता को द्योतित करते हुये चमत्कार उत्पन्न करती है । अतएव उपमा की प्रधानता होने के कारण यह काव्य उपयाध्वनि की ही सीमा में आता है । आशय यह है कि व्यतिरेक में उपमा तो व्यङ्ग्य होती ही है, जहाँ पर व्यतिरेक की अपेक्षा उपमा में चमत्कार की अधिकता होती है वहाँ पर उपमाध्वनि कही जाती है । यहाँ पर हाथियों के लिये प्रियतमाओं के कुचकुम्भों से उपमा व्यक्त होती है जोकि नायक में युद्ध-विषयक रतिभाव को व्यक्त करते हुये उसकी वीरता की अधिकता को ध्वनित करती है । अतएव यहाँ पर उपमाध्वनि है वीरों को प्रियतमाओं के सम्पर्क की अपेक्षा युद्ध में अधिक आनन्द आता है यह वाच्य व्यतिरेक एक सीधी सी बात है वीर रस का परिपोष व्यतिरेक के कारण नहीं किन्तु युद्ध के हाथियों के लिये प्रियतमा के कुच-कुम्भों की उपमा के द्वारा ही होता है । अतएव यहाँ पर उपमाध्वनि ही है ।

(आ) उपमाध्वनि का दूसरा उदाहरण—जैसे आनन्दवर्धन की लिखी हुई विषमवाण-लीला में कामदेव के असुरों पर पराक्रम दिखलाने के अवसर पर एक पद्य आया है—वहाँ पर कामदेव के त्रैलोक्यविजय का वर्णन किया गया है । पद्य का अर्थ यह है—

'कामदेव ने अपने पुष्प-बाण के द्वारा उनके उस हृदय को जोकि लक्ष्मीजी के सहोदर

लोचन

असुरपराक्रमेण इति। त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते। तेषामसुराणां पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद्धृदयमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽतिदुष्करेभ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच्च। श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामित्यर्थः। तेषां रत्नानामासमन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद् हृदयं तत्कुसुमवाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण प्रियाणां बिम्बाधरे निवेशितम्, तदवलोकनपरिचुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम्। तेषां हृदयं यदत्यन्तं विजिगीषाज्वलनजाज्वल्यमानमभूदिति यावत्। अत्रातिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः। प्रतीयमाना चोपमा। सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव। अत एव न रूपकध्वनिः। रूपकस्यारोप्यमाणत्वेनावास्तवत्वात्। तेषामसुराणां वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरति तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन।

'असुरों के पराक्रम करने में' यह। वहां पर इनके (कामदेव के) त्रैलोक्य विजय का वर्णन किया गया है। उन पातालवासी असुरों का जिन्होंने बार-बार इन्द्रपुरी का अवमर्दन इत्यादि क्या-क्या कार्य नहीं किया, उनके उनके उस हृदय को जोकि भिन्न-भिन्न अत्यन्त दुष्कर कार्यों से भी अकम्पनीय व्यवसायवाला है वह। श्रीसहोदर अर्थात् इसीलिये अनिर्वाच्य उत्कर्षवाले उन रत्नों के सभी ओर से हरण करने में एकरस तत्परक जो हृदय उसको कुसुमबाण ने सुकुमारतर उपकरणों के सम्भार से प्रियतमाओं के विम्बाधर में निविष्ट कर दिया, उस कामदेव ने उनके अवलोकन परिचुम्बन और दर्शनमात्र से कृतकृत्यता के अभिमान से युक्त बना दिया। आशय यह है कि जो उसका हृदय विजय की इच्छारूपी अग्नि से अत्यन्त जाज्वल्यमान था। यहाँ पर अतिशयोक्ति वाच्यालङ्कार है। उपमा प्रतीयमान है। समस्त रत्नों के सार के तुल्य विम्बाधर यह उनका बहुमान वास्तविक ही है; इसीलिये रूपकध्वनि नहीं होती क्योंकि आरोप्यमाण होने के कारण रूपक वास्तविक नहीं है। वस्तुवृत्ति से ही उन असुरों का सादृश्य स्फुरित होता है। वही सादृश्य प्रधानरूप से चमत्कार में हेतु है।

तारावती

रत्नों के आहरण करने में पूर्णरूप से आनन्द से भरा हुआ था उनकी प्रियतमाओं के बिम्बाधरों में ही निविष्ट कर दिया।'

'उनके कहने का आशय यह है कि उन असुरों का पराक्रमण प्रसिद्ध है। जिन असुरों ने पातालपुर में रहते भी इन्द्रपुर का मर्दन इत्यादि न जाने क्या-क्या नहीं करडाला उनको कौन नहीं जानता होगा। 'उस हृदय को' कहने का आशय यह है कि उन समस्त दुष्कर कर्मों के करने के अवसर पर भी कभी कम्पित नहीं हुआ उससे बढ़कर साहस और शौर्य किस में हो सकता है? 'लक्ष्मीजी के सहोदर रत्नों के कहने का आशय यह है कि वे रत्न अत्यन्त उत्कृष्ट थे। उनके उत्कर्ष का इससे बढ़कर परिचय और क्या दिया जा सकता है कि वे रत्न लक्ष्मीजी

ध्वन्यालोकः

आक्षेपध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम्।

(अनु०) आक्षेपध्वनि का उदाहरण जैसे—

'हयग्रीव के आश्रित समस्त गुणों को कहने में वह समर्थ हो सकता है जो कि जल के घड़ों से महासागर का परिमाण जानने में समर्थ हो सकता है।'

यहाँ पर अतिशयोक्ति के द्वारा हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता के प्रतिपादनरूप उनकी असाधारण विशेषताओं के प्रकाशनपरक आक्षेप की व्यञ्जना होती है।

लोचन

अतिशयोक्त्येति। वाच्यालङ्काररूपयेत्यर्थः। अवर्णनीयता प्रतिपादनमेवाक्षेपस्य रूपमिष्टप्रतिषेधात्मकत्वात्। तस्य प्राधान्यं तद्विशेषणद्वारेणाह—असाधारणेति।

'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह। अर्थात् वाच्यालङ्काररूपिणी। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का रूप है क्योंकि उसकी आत्मा है इष्टप्रतिषेध। उसकी प्रधानता उसके विशेषणों के द्वारा कहते हैं—'असाधारण इति।'

तारावती

के सहोदर थे? 'आहरण' कहने का आशय यह है कि वे असुर थोड़े बहुत रत्नों से ही सन्तोष करनेवाले नहीं थे, किन्तु पूर्णरूप से चारों ओर से वे उन रत्नों पर अपना सर्वतोभावेन अधिकार चाहते थे। 'पुष्पवाण के द्वारा' कहने का आशय यह है कि कामदेव को अपने कठोर अस्त्रों के सन्धान की आवश्यकता ही न पड़ी, उसने फूल के केवल एक बाण से जो कि उसका एक अत्यन्त सुकुमार उपकरण है असुरों पर विजय प्राप्त करली। यदि कहीं कठोर अस्त्रों का प्रयोग किया होता तो न जाने क्या हो जाता? 'बिम्बाधरों में निविष्ट कर दिया' कहने का आशय यह है कि उन राक्षसों के हृदयों को ऐसा बना दिया कि वे अपनी प्रियतमाओं के बिम्बाधरों के अवलोकन चुम्बन दर्शन इत्यादि में ही अपने को कृतकृत्य समझने लगे। आशय यह है कि उनका जो हृदय विजय की कामनारूप अग्निसे जाज्वल्यमान हो रहा था वही प्रियतमाओं के बिम्बाधरों तक ही सीमित हो कर रह गया।

यहाँ पर वस्तुतः रत्नों के आहरण करने की मनोवृत्ति और है तथा अपनी प्रियतमाओं के बिम्बाधर-दर्शन की मनोवृत्ति दूसरी। इस प्रकार दोनों में भेद है। किन्तु 'उसी हृदय को निविष्ट कर दिया' कहकर अभेद का आरोप किया गया है।

अतएव यहाँ पर अभेदातिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य है। अथवा हृदय का अधरों पर निविष्ट

तारावती

करने का सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु सन्बन्ध का आरोप किया गया है। अतएव यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि उन ललनाओं का बिम्बाधर समस्त रत्नों के सार के समान है। उन लोगों की दृष्टि में बिम्बाधर का समस्त रत्नों के सार के समान होने का बहुत बड़ा मान वास्तविक है। अतएव यहाँ पर रूपकध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि रूपक मे आरोप होता है अतः उसमें वास्तविकता नहीं होती। यह व्यङ्ग्यार्थ असुरों की वस्तुवृत्ति से ही स्फुरित होता है—'जो असुर सिन्धु-सारभूत रत्नों के ग्रहण करने में आनन्द लेते थे वे प्रियतमाओं के बिम्बाधरों से ही सन्तुष्ट हो गये' इस वस्तुवृत्ति से 'बिम्बाधर रत्नों के सार के समान हैं' यह उपमा व्यक्त होती है और चमत्कार का पर्यवसान प्रधानतया इसी अभिव्यक्ति में होता है अतः यहाँ पर उपमाध्वनि है।

(३) आक्षेपध्वनि का उदाहरण—

'हयग्रीव में रहनेवाले समस्त गुणों को कहने में वह व्यक्ति समर्थ है जो महासागर के परिमाण को जल के घड़ों के द्वारा जान सकता है।'

घड़ों के द्वारा समुद्र के परिमाण को जानने का सम्बन्ध न होते हुये भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतः यहाँ पर सम्भावनामूलक सम्बन्धातिशयोक्ति वाच्य है। उससे यह ध्वनि निकलती है कि 'हयग्रीव के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता। गुणों का वर्णन करना इष्ट है जिसका प्रतिषेध व्यङ्ग्य है। इष्टप्रतिषेध होने के कारण आक्षेपालंकार व्यङ्ग्य है। यहाँ पर आक्षेप की ही प्रधानता है क्योंकि इसी से यह व्यक्त होता है कि हयग्रीव के गुण असाधारण हैं और क्योंकि इसी से हयग्रीव के गुणों की विशेषता भी प्रकाशित होती हैं। अतएव यहाँ पर आक्षेपालंकार की ध्वनि हैं। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का रूप है क्योंकि आक्षेप इष्टप्रतिषेधात्मक ही होता है। 'असाधारण विशेष गुणों का प्रकाशन होता है' इस विशेषण के द्वारा लेखक ने आक्षेप की प्रधानता सिद्ध की है।

(रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में इस उदाहरण का प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि आक्षेप अलङ्कार वहीं पर होता है जहां पर निषेधाभास हो वास्तविक निषेध नहीं। यहाँ पर हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता तो वास्तविक निषेध है निषेधाभास नहीं। अतः यहाँ पर आक्षेपध्वनि नहीं हो सकती। रुय्यक के इस कथन का पण्डितराज ने बड़े ही मनोरञ्जक शब्दों में खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है—'इस पद्य में आक्षेपध्वनि का अभाव अलङ्कार-सर्वस्वकार ने इसीलिये बतलाया है कि जैसा आक्षेप अलङ्कारसर्वस्वकार मानते हैं वैसा आक्षेप यहाँ पर नहीं है। यह कोई वेद की आज्ञा नहीं है कि आक्षेप अलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ निषेध साभासरूप हो। पुराने आचार्यों ने भी आक्षेप का यह लक्षण नहीं बनाया है। ऐसी कोई युक्ति भी नहीं है जिससे ध्वनिकार की उक्ति की उपेक्षा कर हम तुम्हारी बात पर श्रद्धा करने लगें। इसके प्रतिकूल इससे विपरीत बात अधिक उचित होगी कि हम तुम्हारी बात

ध्वन्यालोकः

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूप-व्यङ्ग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्—

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिओ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणं अण्णाणं ण सरिच्छा॥

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः।

(अनु०) अर्थान्तरन्यासध्वनि शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य और अर्थशक्तिमूलानुरणन-रूप व्यङ्ग्य (दो प्रकार की) सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण—

'फल के दैवायत्त होने के कारण क्या किया जावे, फिर भी इतना हम कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के समान नहीं हैं।'

यह ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित होती है, अतः यदि वाक्य का दूसरे अर्थ में भी तात्पर्य हो तो भी विरोध नहीं है।

लोचन

सम्भवतीत्यनेन प्रसङ्गाच्छब्दशक्तिमूलस्यात्र विचार इति दर्शयति।

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः॥

'सम्भव है' इससे प्रसङ्गवश यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक का बिचार किया गया है यह दिखलाया है।

'दैवायत्त फल के विषय में क्या किया जावे, फिर इतना तो हम कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के सदृश नहीं हैं।'

तारावती

छोड़कर ध्वनिकार की बात मानें। ध्वनिकार ने अलङ्कार-शास्त्र की सरणि का व्यवस्थापन किया है। प्राचीन आचार्यों के वचनों को छोड़कर इस शास्त्र में आक्षेप इत्यादि शब्दों के संकेत का ग्राहक और कोई प्रमाण है ही नहीं। यदि ध्वनिकार जैसे मान्य आचार्यों की बात को इस प्रकार टाला जाने लगेगा तो सभी कुछ अस्त-व्यस्त हो जावेगा और कोई व्यवस्था तो रहेगी ही नहीं।' वस्तुतः भामह इत्यादि आचार्यों ने भी कथन के लिये अभीष्ट वस्तु के निषेध को ही आक्षेप माना है जिसका मन्तव्य विशेषता के साथ कथन करना हो। 'निषेधो वक्तु-मिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।' यहाँ पर हयग्रीव के गुणों का वर्णन करना अभीष्ट है उसका निषेध किया गया है जिससे हयग्रीव के गुणों का विशेषता के साथ कथन हो जाता है। अतः ध्वनिकार का बतलाया हुआ आक्षेप अलङ्कार ठीक ही है।)

(४) अर्थान्तरन्यासध्वनि दो प्रकार की सम्भव है (अ) शब्दशक्तिमूलक अनुरणरूप व्यङ्ग्य और (आ) अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य। सम्भव है कहने का आशय यह है

लोचन

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति किं क्रियतां पल्लवास्त्वतीव हृद्या इतीयताभिधा समाप्तैव। तत्र फलशब्दस्य शक्तिवशात् समर्थकमस्य वस्तुनः पूर्वमेव प्रतीयते। लोकोत्तरजिगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हि फलं सम्पल्लक्षणं दैवायत्तं कदाचिन्न भवेदपीत्येवं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुतप्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता? द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्यायोगादित्याशङ्क्याह—पदप्रकाशेति। सर्वो हि ध्वनिप्रपञ्चः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाशश्चेति वक्ष्यते। तत्र फलपदेऽर्थान्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन। वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसामर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनिरेवायमिति भावः।

अशोक का फल आम्र इत्यादि के समान नहीं है, क्या किया जावे? पल्लव तो अत्यन्त हृद्य हैं, इतने से ही अभिधा समाप्त हो जाती है। यहाँपर फल शब्द की शक्ति के कारण इस वस्तु का समर्थन पहले ही प्रतीत होता है। 'लोकोत्तर को विजय करने की इच्छा और उसके उपाय में प्रवृत्त का भी सम्पत्तिरूप फल दैवायत्त (है) कभी न भी हो' इस प्रकार का सामान्यरूप है। 'इस पूरे वाक्य की अप्रस्तुतप्रशंसा प्रधानतया व्यङ्ग्य है तो अर्थान्तरन्यास की व्यङ्ग्यता कैसे? क्योंकि दोनों का एक साथ प्राधान्य हो ही नहीं सकता।' यह शङ्का करके कहते हैं—पदप्रकाशेति। यह कहेंगे कि समस्त ध्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होता है। उसमें फल शब्द में अर्थान्तरन्यासध्वनि प्रधानरूप में है। वाक्य में तो अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। उसमें भी फिर 'फल' शब्द के द्वारा उपात्त सामर्थ्य के समर्थक भाव की प्रधानता से ही शोभित होती है, इस प्रकार यह अर्थान्तरन्यास की ध्वनि ही है, यह भाव हैं।

तारावती

कि यद्यपि यहाँ पर प्रकरण अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का ही है किन्तु सम्भव शब्दशक्तिमूलक भी है। अतएव उसका भी उदाहरण यहां पर दिया जा रहा है—

'फल दैव के आधीन होता है उसके लिये किया ही क्या जावे? हां इतना हम कहते हैं कि रक्त अशोक के पल्लव अन्य पल्लवों जैसे नहीं होते।'

'अशोक के पल्लव हृदय को सर्वाधिक प्रिय होते हैं। किन्तु आम इत्यादि के समान उसमें फल नहीं होते उसके लिये किया ही क्या जा सकता है?' बस अभिधेयार्थ इतने में ही समाप्त हो जाता है। यहां पर फल शब्द की शक्ति से एक दूसरे अर्थ की ओर संकेत होता है—'जिसके अन्दर सबसे अधिक विजय की इच्छा हो और जो उपाय में भी लगा हुआ हो उसके लिये सम्पत्तिरूपी फल तो भाग्य के अधीन ही होता है। वह कभी नहीं भी हो सकता है।' यह अर्थ पहले ही अर्थात् फल शब्द के सुनते ही प्रतीत होने लगता हैं। यह अर्थ सामान्यात्मक है; इससे पूर्वोक्त वाच्यार्थ (अशोकपल्लवपरक अर्थ) का समर्थन होता है। अतः सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण यहां पर अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअ मण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहु जाणअ रोसिउं सक्कम् ॥
(हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥) इति छाया ।

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराद्धस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते ।

(अनु०) द्वितीय का उदाहरण जैसे—

'हृदय में स्थापित क्रोधवाली तथा रोषरहित मुखवाली मुझको प्रसन्न करते हुये हे बहुज्ञ ! अपराध से युक्त भी तुम पर क्रोध करना शक्य नहीं है ।'

यहाँ पर वाच्यविशेष के द्वारा सापराध भी बहुज्ञ पर कोप करना असम्भव है यह समर्थक वाच्यसम्बद्ध (किन्तु) वाच्य से भिन्न अर्थ तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित होता है ।

लोचन

हृदये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया । अत एवाप्रदर्शितरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं शक्यम् । अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः । अनन्तरं तु तदर्थपर्यालोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारि । सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यसूयां दर्शयन्तीत्थमाह । यः कश्चिद्बहुज्ञो धूर्तः स एवं सापराधोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छादयतीति मा त्वमात्मनि बहुमानं मिथ्या ग्रहीरिति । अन्वितमिति । विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः ।

हृदय में स्थापित कर लिया है किन्तु बाहर प्रकट नहीं किया जा रहा है मन्यु जिसके द्वारा । अतएव मुख को रोष से युक्त न दर्शित करनेवाली भी मुझे प्रसन्न करते हुये हे बहुज्ञ ! अपराधी भी तुम्हारे प्रति रोष करना शक्य नहीं है । यहाँ पर बहुज्ञ यह आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित होता है । । बाद में तो उसके अर्थ की पर्यालोचना के कारण जो समर्थक सामान्य रूप प्रतीत होता है वही चमत्कारकारक है । वह खण्डिता होती हुई वैदग्ध्य से मनाई जाकर उसके प्रति असूया दिखलाती हुई यह कहती है । 'जो कोई बहुज्ञ धूर्त (होता है) वही इस प्रकार सापराध होते हुये भी अपने अपराध के अवकाश को छिपाता है इस प्रकार तुम अपने प्रति मिथ्या बहुमान को मत ग्रहण करो ।' यह । 'अन्वित' यह । भाव यह है कि विशेष में सामान्य के सम्बद्ध होने के कारण ।

तारावती

(प्रश्न) इस उक्ति के द्वारा किसी ऐसे निराशा से भरे हुए निर्वेदपूर्ण व्यक्ति की

तारावती

प्रशंसा की जा रही है जो यद्यपि उपाय में लगा हुआ है किन्तु उसे फल प्राप्त नहीं हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार की ध्वनि होती है। प्रथम उद्योत में बतलाया जा चुका है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत अर्थ सर्वदा व्यङ्गय होता है और वह कहीं-कहीं पर प्रधान भी होता है। इस प्रकार यहां पर सम्पूर्ण वाक्य के द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसालंकार की ध्वनि होती है। वाक्यगम्य होने के कारण वहीं प्रधान है। दो ध्वनियां एक साथ प्रधान नहीं हो सकती। अतएव यहां पर अर्थान्तरन्यासध्वनि कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है? (उत्तर) यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी कि जितना ध्वनिकाव्य का विस्तार है वह पद के द्वारा भी प्रकाशित होता है और वाक्य के द्वारा भी। अर्थान्तरन्यासध्वनि 'फल' पद के द्वारा प्रकाशित हो रही है और अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि वाक्य के द्वारा प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार प्रकाशक के भेद होने के कारण दोनों ध्वनियों की प्रधानता में कोई विरोध नहीं आता। दूसरी बात यह है कि फल पद के सहकार से दोनों अर्थों के समर्थक-समर्थ्य भाव की प्रधानता सहृदयों को प्रतीत होती है। अतएव इसे अर्थान्तरन्यासध्वनि कहना ही ठीक होगा।

(आ) अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्गय अर्थान्तरन्यास ध्वनि का उदाहरण—

किसी नायक ने अपराध किया है। नायिका उसके अपराध को जान गई है किन्तु उसने ऊपर से अपना रोष नहीं प्रकट होने दिया है प्रियतम फिर भी उससे अनुनय विनय कर रहा है। इसपर नायिका कहती है—

'मैंने मन्यु को अपने हृदय में ही रख लिया है। मेरे मुख पर रोष का किसी प्रकार का कोई चिह्न प्रकट नहीं हो रहा है, फिर भी तुम मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहे हो। हे बहुज्ञ! यद्यपि तुम अपराधी हो फिर भी तुम्हारे ऊपर रोष नहीं किया जा सकता।'

यहाँ पर 'बहुज्ञ' इस सम्बोधन के वाच्य अर्थ का पर्यवसान विशेष में होता है अर्थात् नायिका नायक को बहुज्ञ कहती है, उसका आशय यही है कि मैंने अपना रोष अभी प्रकट तो किया नहीं, फिर भी तुम जान गये कि मेरे हृदय में रोष विद्यमान है; इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि तुम अपराधी हो और अपने अपराध को समझ करके ही मुझे मनाने की चेष्टा कर रहे हो। यही विशेषपरक (नायक-परक) अर्थ है। यहीं पर वाच्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बाद में जब इस विशेष अर्थ की पर्यालोचना की जाती है और इस परिस्थिति की मीमांसा की जाती है कि यह नायिका खण्डिता है और इसको वैदग्ध्य के साथ मनाया जा रहा है तब वह ये शब्द कह रही हैं, तब उससे एक सामान्य अर्थ और निकलता है—'जो कोई बहुत वाचाल और धूर्त होता है वह चाहे अपराधी ही क्यों न हो अपने अपराध को छिपाने में समर्थ हो जाता है। इस सामान्य का विशेष में अन्वय हो जाता है क्योंकि सामान्य सर्वदा विशेष से ही सम्बद्ध होता है। इस प्रकार सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्था-

ध्वन्यालोकः

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयतः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शितमेव। द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्देशे खुज्ज व्विअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ता एक्करसो दरिद्दो अ॥
(जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च॥ इति छाया।)

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि पादपात्तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति।

(अनु०) व्यतिरेक ध्वनि भी दोनों रूपों में सम्भव है। उसमें प्रथम का उदाहरण पहले दिखला दिया गया है। द्वितीय का उदाहरण जैसे—

'वन के प्रदेश में गलित पत्तोंवाला कुबड़ा वृक्ष मैं बन जाऊँ। किन्तु मानव लोक में त्याग में ही एकमात्र आनन्द लेनेवाला दरिद्र बनकर जन्म न लूँ।'

यहाँपर त्याग में ही एकमात्र आनन्द लेनेवाले दरिद्र के जन्म का अभिनन्दन न करना और टूटे हुये पत्तोंवाले कुब्ज वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन करना साक्षात् शब्द वाच्य है। इस प्रकार के वृक्ष की अपेक्षा भी उस प्रकार के पुरुष की उपमानोपमेय भाव की प्रतीति के साथ अधिक शोचनीयता तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित होती है।

तारावती

न्तरन्यास की व्यञ्जना होती है। यह अर्थान्तरन्यास ही प्रधान है क्योंकि इसी से इस अर्थ की परिसमाप्ति होती है कि मैं तुम्हारे अपराध को खूब समझती हूँ। तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि तुम मुझे धोखा देने में सफल हो गये हो और न तुम्हें अपने ऊपर अभिमान करना चाहिये। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि है। 'अन्वित' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि विशेष से समान्य सम्बन्धित रहता ही है।

(५) व्यतिरेकध्वनि—व्यतिरेकध्वनि भी दो प्रकार की संभव है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। 'भी' का अर्थ है जिस प्रकार अर्थान्तरन्यासध्वनि के दो भेद होते हैं उसी प्रकार व्यतिरेकध्वनि के भी दो भेद सम्भव हैं। प्रथम भेद के उदाहरण पहले ही दिखलाये जा चुके हैं—वे ये हैं—खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति ·····सन्तु वः' और 'रक्तस्त्वम्·······धात्रा सशोकः कृतः।' अब अर्थशक्तिमूलक व्यरिरेक ध्वनि का उदाहरण लीजिये—

'मैं वन के एक प्रदेश में नष्टपत्तोंवाला कुबड़ा वृक्ष बन जाऊँ किन्तु मनुष्यसंसार में एकमात्र त्याग में ही आनन्द लेनेवाला दरिद्र व्यक्ति कभी न बनूँ।'

'वन के प्रदेश में जन्म लूँ' कहने का आशय यह है कि जहाँ पर सैकड़ों समृद्ध वृक्षों की

लोचन

व्यतिरेकध्वनिरपीति। अपिशब्देनार्थान्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह। प्रागिति। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति' इति। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' इति। 'जायेय' वनोद्देश एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित्। कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। गलितपत्र इति। छायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगीभवेदुलूकादीनां वा निवासायेति भावः। मानुष इति। सुलभार्थिजन इति भावः। लोक इति। यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन चार्थिजनो न च किञ्चिच्छक्यते कर्तुं तन्महद्वैशसमिति भावः। अत्र वाच्यालङ्कारो न कश्चित्। उपमानेत्यनेन व्यतिरेकस्य मार्गपरिशुद्धिं करोति। आधिक्यमिति। व्यतिरेकमित्यर्थः

'व्यतिरेक ध्वनि भी'। 'भी' शब्द से अर्थान्तरन्यासके समान ही दो प्रकार का होना कहते हैं। 'पहले' यह। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति—' यह। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' यह। उत्पन्न होऊँ वन के उद्देश में ही वन के गहन एकान्त में जहाँ अधिक स्पष्ट बहुत से वृक्षों की सम्पत्ति से कोई देखता भी नहीं। कुब्ज यह। अर्थात् (किसी) रूप की सङ्घटना में अनुपयोगी। गलितपत्र इति। जो छाया भी नहीं करता उसके पुष्पफलशाली होने की क्या सम्भावना ? यह अभिप्राय है। भाव यह है कि कदाचित् उस प्रकार का भी कोला बनानेवाले का उपयोगी होवे या उलूक इत्यादि के निवास के लिये हो। मानुष इति। अर्थात् जिसको याचक लोग सुलभ हैं। लोके इति। भाव यह है कि जहाँ वह प्रार्थियों के द्वारा देखा जाता है और उसके द्वारा प्रार्थी लोग देखे जाते हैं तथा कुछ किया नहीं जा सकता। यह बहुत बड़ी मार डालनेवाली बात (कष्ट कारक बात) है। यहाँ कोई वाच्यालङ्कार नहीं है। उपमान इत्यादि (शब्दों) से व्यतिरेक की मार्गपरिशुद्धि की जाती है। 'आधिक्य' अर्थात् व्यतिरेक।

तारावती

सम्पत्ति स्फुट रूप में प्रतीत हो रही हो वहाँ एक कुबड़े वृक्ष की ओर कोई दृष्टि भी न डालेगा। 'कुबड़ा' कहने का आशय यह है कि जिससे लकड़ी के उपयोग की कोई आकृति भी न बनाई जा सके। 'नष्ट पत्तोंवाला' कहने का आशय यह है कि मैं वृक्ष के रूप में छाया भी न दे सकूं फल और पुष्पों की तो बात ही क्या ? ऐसा वृक्ष भी कभी या तो कोला बनानेवाले के काम में आ जाता है या उलूक इत्यादि के निवास के लिये भी कदाचित् उसका उपयोग हो ही जाता है। 'मनुष्य-लोक में' मनुष्य का आशय यह है कि जहां याचक लोग सुलभ हों। लोक शब्द 'लोकृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। अतः लोक शब्द का आशय यह है कि जहां पर अर्थी लोगों के द्वारा मैं देखा जाऊँ और मैं अर्थियों को देखूँ। याचक सहायता की प्रार्थना भी करें और उनकी सहायता की कामना भी हृदय में विद्यमान हो, किन्तु दरिद्रता के कारण कुछ किया न जा सके तो इससे बढकर दुःखदायक बात और क्या होगी ?

ध्वन्यालोकः

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिश्श्वासानिलमूर्छितः।
मूर्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः॥

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव। तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिश्श्वासानिलमूर्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते। न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात्।

(अनु०) उत्प्रेक्षा ध्वनि का उदाहरण जैसे—

'चन्दन में लिपटे हुये भुजङ्गों की निःश्वास वायु से मूर्छित हुआ यह मलयपवन वसन्त में पथिकों को मूर्छित करता है।'

यहाँपर वसन्त में मलय-पवन का पथिकों को मूर्छाकारक होना कामदेव सम्बन्धी उन्मथन प्रदान करनेके द्वारा ही है: और उसकी चन्दन में लिपटे हुये भुजङ्गों के निःश्वास वायु के द्वारा मूर्छित होने के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। इस प्रकार साक्षात् न कही हुई भी उत्प्रेक्षा वाक्यार्थ सामर्थ्य से अनुरणन रूप में प्रतीत होती है। यहाँपर यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के विषय में 'इव' इत्यादि शब्द के प्रयोग के बिना असंबद्धता ही रहती है। प्रमाण की सत्ता होनेपर अन्यत्र भी उसके प्रयोग न होनेपर उसके अर्थ का अवगमन देखा जाता है।

लोचन

उत्प्रेक्षितमिति। विषवातेन हि मूर्छितो वृंहित उपचितो मोहं करोति। एकश्च मूर्छितः पथिकमध्येऽन्येषामपि धैर्यच्युतिं विदधन्मूर्छां करोतीत्युभयथोत्प्रेक्षा।

नन्वत्र विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छते। ततः किम्? न हि हेतुता परमार्थतः। तथापि तु हेतुता उत्प्रेक्ष्यत इति यत्किञ्चिदेतत्। तदिति। तस्येवादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेर्दर्शनात्।

उत्प्रेक्षितमिति। विषवात से मूर्छित अर्थात् बढ़ाया हुआ अर्थात् उपचय को प्राप्त मोह को उत्पन्न कर देता है। पथिकों के मध्य में एक मूर्छित दूसरों का भी धैर्यच्युत करते हुये मूर्च्छा उत्पन्न कर देता है इस प्रकार उभयथा उत्प्रेक्षा है।

(प्रश्न) यहाँ पर विशेषण अधिक होते हुये हेतुता के रूप में ही सङ्गत होता है? (उत्तर) उस से क्या? वास्तव में तो हेतुता नहीं है। तथापि हेतुता की उत्प्रेक्षा की जाती है बहुत कुछ छोटी बात है। तत् इति। क्योंकि उस 'इव' इत्यादि शब्द के प्रयोग न होने में भी उस उत्प्रेक्षारूप अर्थावगति की प्रतीति के दर्शन होते हैं।

तारावती

यहां पर केवल दान में ही आनन्द लेनेवाले दरिद्रव्यक्ति के जन्म की निन्दा की गई है और नष्ट पत्तोंवाले कुबड़े वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन किया गया है। यहां पर कोई वाच्यालङ्कार नहीं है। पहले तो 'दान में आनन्द लेनेवाला दरिद्र व्यक्ति टूटे हुये पत्तोंवाले कुबड़े वृक्ष के समान होता है' यह उपमा व्यक्त होती है। यह उपमा व्यतिरेक की मार्गपरिशोधिका है। फिर तात्पर्य के द्वारा अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से यह प्रकट होता है कि एक ठूँठ कुबड़े वृक्ष की अपेक्षा एक दान के प्रेमी दरिद्र व्यक्ति का जन्म अधिक घृणास्पद है और उसको शोक भी अधिक होता है।' आधिक्य का अर्थ है व्यतिरेक। अर्थ का पर्यवसान इसी में होता है अतएव यह व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है।

(६) उत्प्रेक्षाध्वनि जैसे—

'वसन्त काल में मलयपवन चन्दन में लपटे हुये सर्पों के निःश्वास वायु से मूछित हो गया है तथा पथिकों को मूछित कर रहा है।'

मूछित शब्द के दो अर्थ हैं—बढा हुआ और मूर्छा को प्राप्त। सर्पों के निःश्वास में विष का सम्पर्क रहता है। अतएव विष-वायु से जो बढा हुआ है वह दूसरों पर अपना विष का प्रभाव अवश्य जमावेगा। इसीलिये मलय-पवन विष-वायु से वृद्धि को प्राप्त होकर दूसरों को मूछित कर रहा है। अथवा मलय-पवन मानों एक पथिक है जो कि विषवायु से मूछित हो गया है। पथिकों में यदि एक मूछित हो जाता है तो वह दूसरों के भी धैर्य को च्युत कर देता है और दूसरे पथिक भी मूछित हो जाते हैं। अतएव यहां पर दोनों रूपों में उत्प्रेक्षा होती है। वसन्तकाल में मलयपवन कामोद्दीपक होने के कारण पथिकों को मूछित करनेवाला होता है; किन्तु उसकी उत्प्रेक्षा चन्दन में लिपटे हुए सर्पों के निःश्वास वायु से मूछित होने के रूप में व्यक्त होती है। 'मानो' सर्पों के विषयुक्त श्वासवायु से बढकर मलय-पवन पथिकों को मूछित कर रहा है अथवा 'सर्पों की विषैली श्वासवायु से मूर्छा को प्राप्त होकर मलय-पवन पथिकों को भी मूछित कर रहा है।' यहां पर उत्प्रेक्षा यद्यपि साक्षात् शब्दोपात्त नहीं है किन्तु फिर भी वाक्यार्थसामर्थ्य से अनुरणन रूप में व्यक्त होती है।

(प्रश्न) यहां पर 'चन्दन में लिपटे हुये सर्पों के श्वासवायु से मूछित' यह मलय-पवन का विशेषण है जो कि प्रकृत अर्थ की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है। कवि को कहना केवल इतना ही है कि मलय-पवन पथिकों को मूछित कर देता है, उपर्युक्त विशेषण प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव यह पथिकों को मूछित करने में हेतु ही क्यों न माना जावे? इसे आप उत्प्रेक्षा किस प्रकार कह सकते हैं? (उत्तर) यदि आप इसे हेतु मानेंगे तो इससे क्या हो जावेगा? यह कोई वास्तविक हेतु तो है नहीं यह तो सभी जानते हैं कि सर्पों के विष के वायु में मिल जानेसे पथिकों को मूर्छा नहीं आती। केवल हेतु के रूप में उत्प्रेक्षा कर ली गई है। अतएव इसे आप हेतूत्प्रेक्षा कह सकते हैं।

ध्वन्यालोकः

यथा—

> ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो।
> अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ॥
> (ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः।
> अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति॥) इति छाया।

(अनु०) जैसे—

निस्सन्देह यह पूर्णिमा का चन्द्रमा ईर्ष्या-कलुषित भी तुम्हारे मुख के सादृश्य को प्राप्तकर आज अपने अङ्ग में ही नहीं समा रहा है।

लोचन

एतदेवोदाहरति—यथेति। ईर्ष्याकलुषस्यापीषदरुणच्छायाकस्य। यदि तु प्रसन्नस्य मुखस्य सादृश्यमुद्वहेत् सर्वदा वा तत्किंकुर्यात्त्वन्मुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपथमिदमित्यपिशब्दस्याभिप्रायः। अङ्गे स्वदेहे न मात्येव दशदिशः पूरयति यतः अद्येयताकालेनैव दिवसमात्रमित्यर्थः। यत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरससिद्धमेवमुत्प्रेक्ष्यते।

इसी का उदाहरण देते हैं—'यथा' इति। 'ईर्ष्या कलुष का भी' अर्थात् उसका भी जिसकी चमक कुछ लाल हो गई है। यदि प्रसन्न मुख की समानता धारण करे अथवा सर्वदा (समान रहे) तो क्या करे ? तुम्हारा मुख वह हो जावेगा यह तो मनोरथों के भी मार्ग से दूर है यह अपि शब्द का अभिप्राय हे। अङ्ग में अर्थात् अपने शरीर में ही नहीं समा रहा है क्योंकि दस दिशाओं को भर रहा है। 'आज' अर्थात् इतने समय में केवल एक दिन के लिये। यहाँपर पूर्ण चन्द्र के द्वारा दिशाओं का भरा जाना स्वत, सिद्ध है जिसकी इस प्रकार उत्प्रेक्षा की जा रही है।

तारावती

यहां पर आप यह बात नहीं कह सकते कि इस प्रकार के विषय में 'इव' (मानों) इत्यादि शब्द के प्रयोग के अभाव में वाक्य असम्बद्ध मालूम पड़ने लगता है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले की प्रतिभा इत्यादि के सहकार से उपर्युक्त विशेषण स्वतः इस प्रकार के अर्थ के बोधक हो जाते हैं। दूसरे स्थानों पर भी देखा जाता है कि इव इत्यादि शब्दों के प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षा की प्रतीति हो जाती है। उदाहरण—

'निस्सन्देह यह पूर्णिमा का चन्द्रमा आज ईर्ष्या से कलुषित भी तुम्हारे मुख की समानता को प्राप्तकर अपने अङ्ग में नहीं समा रहा है'।

जब मुख ईर्ष्या से कलुषित हो गया है और कुछ अरुणिमा को धारण कर रहा है तब चन्द्र उसकी तुलना को प्राप्त होकर प्रसन्नता के कारण अपने अङ्ग में ही नहीं समा रहा है; फिर

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषु हतेक्षणश्रीः॥

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्।

(अनु०) अथवा जैसे—

'मृग त्रास से व्याकुल होकर चारों ओर घरों की ओर दौड़ते हुये धनुर्धारी किन्हीं पुरुषों के द्वारा पीछा नहीं किया गया। तथापि अङ्गनाओं के कानों तक खींचे हुये नेत्र बाणों के द्वारा पराजित की हुई नेत्रकान्तिवाला होकर कहीं स्थित न हुआ।' शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण है।

लोचन

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षाणेनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भावयमान उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। परितः सर्वतः निकेतान् परिपतन्नाक्रामन् न कैश्चिदपि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न क्वचित्तस्थौ। त्रासचापलयोगात्स्वाभाविकादेव। तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते—अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नेत्रशरैर्हृता ईक्षणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न तस्थौ। नन्वेतदप्यसम्बद्धमस्त्वित्याशङ्क्याह–शब्दार्थेति।

यहाँपर यह सम्भावना करते हुये कि 'वितर्क तथा उत्प्रेक्षा के रूप को कहनेवाले 'ननु' शब्द में असम्बद्धता का निराकरण हो गया' दूसरा उदाहरण दे रहे हैं–'अथवा जैसे'—'परितः' अर्थात् चारों ओर घरों की ओर दौड़कर आता हुआ मृग किन्हीं भी धनुषधारी (पुरुषों) से से अनुबद्ध नहीं किया गया (मारा नहीं गया) तथापि कहीं स्थित नहीं हुआ क्योंकि उसका त्रास और चञ्चलता का योग स्वाभाविक है ही। वहाँपर उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है=क्योंकि 'अङ्गनाओं के आकर्णपूर्ण नेत्र-बाणों से उनकी सर्वस्वभूत नेत्रकान्ति नष्ट कर दी गई थी अतः वे स्थित नहीं हो सके। (प्रश्न) यह भी असम्बद्ध ही हो यह शङ्का कर (उत्तर देते हुये) कहते हैं—शब्दार्थ इति।

तारावती

यदि वह प्रसन्न मुख-मण्डल की तुलना को धारण कर ले या सर्वदा एक सा ही बना रहे घटे बढ़े नहीं तो न मालूम क्या-क्या करे? आशय यह है कि यह कहना कि चन्द्रमा तुम्हारे मुख का रूप धारण कर सकेगा यह कहने का साहस करना तो मनोरथों के भी दूर है; यही 'ईर्ष्या से कलुषित भी' में भी शब्द का अर्थ है। 'आज' का अर्थ है केवल एक दिन अर्थात् पूर्णिमा के दिन। 'अङ्ग में नहीं समा रहा है' कहने का आशय यह है कि दसों दिशाओं में भर रहा

तारावती

है। वस्तुतः चन्द्र का दसों दिशाओं को प्रपूरित कर देना स्वयं सिद्ध है किन्तु उसके लिये कल्पना की गई है कि 'मानों ईर्ष्या के कारण नायिका के मुख के कलुषित हो जाने पर चन्द्रमा उसकी तुलना करने में समर्थ हो गया है इसीलिये वह प्रसन्नता के कारण आपे से बाहर होकर दसों दिशाओं में फैल रहा हैं। यह उत्प्रेक्षा है। इसकी भी प्रतीति विना ही इव इत्यादि शब्द के प्रयोग के होती है।

(प्रश्न) ऊपर निस्सन्देह (ननु) अब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द वितर्क का का वाचक हैं और इसीलिये उत्प्रेक्षा के स्वरूप को प्रकट करता है। फिर आप यह कैसे कह रहे हैं कि 'यहाँ पर बिना ही इव इत्यादि शब्द के प्रयोग के उत्प्रेक्षा अवगत हो जाती है और अर्थों की असम्वद्धार्थकता जाती रहती है' ?

(उत्तर) तो फिर दूसरा उदाहरण लीजिये —

'एक मृग त्रास से व्याकुल होकर चारों ओर भवनों के सामने दौड़ रहा था किन्तु किन्हीं भी धनुर्धर पुरुषों ने उसका पीछा नहीं किया। तथापि अङ्गनाओं के कान तक ताने हुये नेत्रबाणों से नष्ट-नेत्रकान्तिवाला होकर वह कहीं रुका नहीं।'

मृगों का स्वभाव ही होता है कि या तो त्रास के कारण या अपनी स्वाभाविक चञ्चलता से वे कहीं रुकते नहीं। उसके लिये उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है कि मानों अङ्गनाओं के नेत्र-बाणों से अपने नेत्रों की शोभा के उपहत हो जाने के कारण वे कहीं रुके नहीं। यहाँ पर कोई शब्द ऐसा नहीं जो उत्प्रेक्षा को प्रकट करे फिर भी उत्प्रेक्षा प्रकट हो जाती है और किसी प्रकार की असम्बद्धार्थकता नहीं रहती। इसी प्रकार 'चन्दन में लिपटे हुये········मूर्छित कर रहा है।' इस वाक्य में भी असम्बद्धार्थकता नहीं मानी जानी चाहिये।

(प्रश्न) यह वाक्य संबद्ध है इसलिये वह भी संबद्ध है यह तो कोई तर्क नहीं हुआ। जिस प्रकार आप इस वाक्य के संबद्ध होने से उसे संबद्ध वाक्य मान लेते हैं उसी प्रकार उस वाक्य के असंबद्ध होनेसे इसे आप असंबद्ध क्यों नहीं मान लेते? (उत्तर) शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण होती है। जहाँ पर सहृदयों को असम्बद्धार्थकता का भान होता है वहाँपर असम्बद्धार्थकता मानी जाती है और जहाँ पर उसका भान नहीं होता वहाँ असम्बद्धार्थकता नहीं मानी जाती। यहाँ पर सहृदयों को असम्बद्धार्थकता का भान नहीं होता अतः असम्बद्धार्थकता नहीं मानी जाती।

[यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिये कि उत्प्रेक्षा की तीन स्थितियाँ होती हैं— वाच्योत्प्रेक्षा, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और ध्वन्यमानोत्प्रेक्षा। उत्प्रेक्षण तत्त्व विद्यमान हो और उत्प्रेक्षा को प्रकट करने के लिये 'इव' इत्यादि शब्दों में किसी का प्रयोग किया हो वहाँ पर वाच्योत्प्रेक्षा होती है। जहाँ पर 'इव' इत्यादि किसी वाचक शब्द का प्रयोग न किया गया हो किन्तु बिना उत्प्रेक्षा के अर्थ की पूर्ति न हो वहाँ पर प्रतीयमान उत्प्रेक्षा होती है। यदि अर्थ पूर्ति के बाद

ध्वन्यालोकः

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशब्दाऽप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते।

(अनु०) श्लेष की ध्वनि जैसे—

'(जिस द्वारका पुरी में) रमणीयता के कारण पताका को प्राप्त करनेवाली, एकान्त के कारण राग को बढ़ानेवाली, झुकी हुई बलीका (छादनाधार) वाली वलभियों का सेवन युवक लोग अपनी वधुओं के साथ करते थे।'

यहां पर 'वधुओं के साथ वलभियों का सेवन करते थे' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद 'वधुयें वलभियों के समान थीं' यह श्लेष की प्रतीति बिना ही शब्द के अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप में वर्तमान है।

लोचन

पताका ध्वजपटान् प्राप्तवतीः। रम्या इति हेतोः। पताकाः प्रसिद्धीः प्राप्तवतीः। किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः। विविक्ता जनसङ्कुलत्वाभावादित्यतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्तीः। अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति। तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः। यतो हेतोः विविक्ताः विभक्ताङ्ग्यो लटभा याः। नमन्ति वलीकानि छदिपर्यन्तभागा यासु। नमन्त्यो वल्लयस्त्रिवलीलक्षणा यासाम्। सममिति सहेत्यर्थः। ननु समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः। सत्यं सोऽपि श्लेषबलात्। श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थसौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः। अत एव वध्व इव वलभ्य इत्यभिदधतापि वृत्तिकृतोपमाध्वनिरितिनोक्तम्। श्लेषस्यैवामूलत्वात्। समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छ्लेषस्तदाक्षिप्तः

पताका अर्थात् ध्वजपटों को प्राप्त करनेवाली क्यों रमणीय हैं इस हेतु से। पताका अर्थात् प्रसिद्धि को प्राप्त करती हुई। किस प्रकार की प्रसिद्धि? रमणीय हैं इसी प्रकार की। विविक्त अर्थात् जनसङ्कुलत्व के अभाव में इसी हेतु से राग अर्थात् सम्भोगाभिलाष को बढ़ाती हुई। जिस कारण से विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गोंवाली अर्थात् सुन्दरियाँ। वलीक अर्थात् छदपर्यन्त भाग जिसमें झुक रहे है, झुक रही हैं त्रिवली नाम की वलियाँ जिनकी। 'समम्' यह साथ के अर्थ में है। (प्रश्न) सम शब्द से तुल्य अर्थ भी प्रतीत होता है। (उत्तर) ठीक है, किन्तु वह भी श्लेष के बल से ही और श्लेष अभिधावृत्ति से आक्षिप्त नहीं (किया गया) है। अपितु अर्थसौन्दर्य बल से श्लेष सर्वथा ध्वन्यमान ही है। अतएव वधुओं के समान बलभियाँ यह कहते हुये भी वृत्तिकार ने उपमाध्वनि यह नहीं कहा! क्योंकि यहाँ मूल तो श्लेष ही है। 'समाः' यह यदि स्पष्ट होता तो उपमा के ही स्पष्ट होने से श्लेष उसके द्वारा आक्षिप्त हो जाता। 'समम्'

लोचन

स्यात्। सममिति निपातोऽप्रसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्वबलेनैव क्रियाविशेषणत्वेन शब्दश्लेषतामेति। न च तेन विनाभिधाया अपरिपुष्टता काचित्। अत एव समाप्तायामेवाभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयोऽर्थोऽपृथग्यत्नेनैवावगम्यः। यथोक्तं प्राक्— 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि। एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम्। 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्राभिधैवापर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं वाकर्षतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यलं बहुना। तदाह— अशब्दापीति।

यह साथ के अर्थ में विद्यमान निपात क्रियाविशेषण होने के कारण व्यञ्जकत्व के बल से ही शीघ्र ही शब्दश्लेषता को प्राप्त हो जाता है। उसके बिना अभिधा की कोई अपरिपुष्टता नहीं है। अतएव अभिधा के समाप्त हो जानेपर हो सहृदयों के द्वारा ही वह दूसरा अर्थ अपृथक् यत्न से अवगत करने योग्य हो जाता है। जैसा पहले कहा गया—'केवल शब्दार्थशासन ज्ञान मात्र से ही...' इत्यादि। इसका तो अनुसरण सभी उदाहरणों में किया जाना चाहिये। 'पीन चैत्र दिन में नहीं खाता है' यहाँ पर अभिधा ही पर्यवसित नहीं हुई है; इस प्रकार वही स्वार्थ निर्वाह के लिये अर्थान्तर और शब्दान्तर का आकर्षण करती है। इस प्रकार तार्किक और मीमांसक के अनुमान और श्रुतार्थापत्ति का ध्वनिप्रसङ्ग नहीं है। बस, बहुत कहने की क्या आवश्यकता ? वही कहते हैं—'शब्दरहित भी'।

तारावती

उत्प्रेक्षा अभिव्यक्त हो जाये और काव्य-सौन्दर्य तन्निष्ठ ही हो वहाँ पर ध्वन्यमान उत्प्रेक्षा होती है। इनके उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों में दिये गये हैं वहीं देखने चाहिये।]

श्लेषध्वनि का उदाहरण जैसे शिशुपालवध में माघ कवि ने द्वारका वर्णन के अवसर पर लिखा है —

'रमणीय होने के कारण पताका प्राप्त करनेवाली, एकान्त (विविक्त) होने के कारण राग को बढ़ानेवाली, झुकी हुई बलीकाओंवाली वलभियों को युवक लोग वधुओं के साथ सेवन कर रहे थे।'

यहाँ पर सामान्य वाच्यार्थ यही है कि युवक लोग अपने साथ अपनी प्रियतमाओं को लिये हुये अपने गुप्त विलास-गृहों का सेवन करते थे। किन्तु यहां पर वलभियों (कूटागारों) के लिये जो विशेषण दिये गये हैं वे द्व्यर्थक है जो एक ओर बलभियों के साथ लगते हैं और दूसरी ओर वधुओं के साथ। इससे एक प्रतीति यह उत्पन्न होती है कि बलभियां वधुओं के समान थीं। 'रमणीयता के कारण पताका प्राप्त करनेवाली थी।' वलभी के पक्ष में इसका अर्थ होगा—उनपर ध्वजपट फहरा रहे थे, क्योंकि वे रमणीय थीं। ध्वजायें उन्हीं भवनों पर बांधी जाती हैं जो रमणीय होते हैं। वधू के पक्ष में 'वे पताका अर्थात् प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुकी थीं। किस प्रकार

तारावती

की प्रसिद्धि ? रमणीय या रूपवती होने की प्रसिद्धि। वलभियां विविक्त अर्थात् जन समूह से घिरे न होने कारण राग अर्थात् सम्भोग की अभिलाषा बढ़ा रही थीं। कुछ लोग यहां पर यह अर्थ करते हैं कि वलभियां जनसमूह से घिरे न होने के कारण राग अर्थात् चित्र-शोभा को बढ़ा रही थीं। आशय यह है कि उन वलभियों में चित्रकला पूर्णरूप से चमक रही थी क्योंकि लोग वहां आते जाते नहीं थे जिससे उस चित्रकला में मलिनता आ जाती। वधुयें भी राग अर्थात् अनुराग को बढ़ा रहीं थी क्योंकि वे विविक्त अर्थात विभक्त अङ्गोंवाली बहुत ही सुन्दरी थीं। वलभियों की वलीकायें अर्थात् छादनाधार काष्ठ झुके हुये थे। दूसरी ओर वधुओं की उदरस्थ वलियां (त्रिवली) झुकी हुई थीं। इस प्रकार वलभियां वधुओं के समान थीं। समम् शब्द का अर्थ है साथ में। (प्रश्न) 'समम्' शब्द से तुल्य अर्थ की भी तो प्रतीति होती है। यदि समम् का तुल्य अर्थ मान लिया जावे तो उपमा वाच्य हो गई। उपमा की उस वाच्यता को पूरा करने के लिये सभी विशेषणों का दूसरा अर्थ करना ही पड़ेगा अन्यथा साधारण धर्म की एकता सिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार श्लेष यहां पर वाच्य ही है व्यङ्ग्य नहीं। फिर आप यहां पर श्लेष ध्वनि किस प्रकार मानते हैं ? (उत्तर) यहां पर 'समम्' का उपमापरक अर्थ तभी निकल सकता है जब कि श्लिष्ट अर्थ की व्यञ्जना हो जाती है। श्लिष्ट व्यञ्जनावृत्ति से ही निकल सकता है अभिधावृत्ति से नहीं। कारण यह है कि अभिधावृत्ति की विश्रान्ति बिना ही श्लिष्ट अर्थ के हो जाती हैं। अर्थसौन्दर्य के कारण ही श्लिष्ट अर्थ की ध्वनि होती है। अतएव श्लेष की ध्वनि ही मानी जावेगी अभिधा नहीं। इसीलिये यद्यपि वृत्तिकारने यह लिखा है कि 'वधुओं के समान वलभियां थीं' फिर भी उपमाध्वनि नहीं मानी। क्योंकि यहां पर उपमा का मूल श्लेष ही है। यदि 'समम्' इस क्रियाविशेषण के स्थान पर 'समाः' यह वधुओं या वलभियों का विशेषण रक्खा गया होता तो उपमा स्पष्ट (वाच्य) होती और उसके बल पर श्लेष का आक्षेप किया जाता। 'समम्' यह निपातार्थक अव्यय है और शीघ्र ही 'वधुओं के साथ में' इस अर्थ का अभिधायक हो जाता है। क्योंकि यह क्रियाविशेषण है अतः वधुओं का विशेषण एकदम नहीं हो जाता। फिर व्यञ्जना के बलपर ही शब्दश्लेष का रूप धारण करता है। यदि यहां पर विशेषणों को वधुओं के साथ न जोड़ा जावे और यह अर्थ न किया जावे कि 'वलभियां वधुओं के समान थीं' तो भी अर्थ की पूर्ति में कोई कमी नहीं रह जाती और न उसके बिना अभिधा की किसी प्रकार की अपरिपुष्टता शेष रह जाती है। अतएव जब अभिधा समाप्त हो जाती है तभी केवल सहृदय व्यक्ति तो द्वितीय अर्थ को जान पाते हैं और उसके लिये कवि को कोई पृथक् यत्न करना नहीं ही पड़ता। यहां पर इस परे विवरण का आशय यही है कि जब हम इस पद्य को सुनते हैं तब हमें एकदम अर्थ का अवगमन होने लगता है कि युवक लोग वधुओं के साथ अपने कूटागारों का सेवन करते थे। बाद में सहृदय व्यक्तियों का ध्यान जब इस ओर जाता है कि इस पद्य में जितने भी विशेषण वलभियों के लिये दिये गये हैं वे तो वधुओं के लिये भी लागू हो सकते हैं

ध्वन्यालोकः

यथासङ्ख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताङ्कुरितादि-शब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते। एवमन्येऽप्यलङ्काराः यथायोगं योजनीयाः।

(अनु०) यथासंख्यध्वनि का उदाहरण—

'आम का वृक्ष अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ और हृदय में कामदेव भी अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।'

यहांपर निस्सन्देह उच्चारण के प्रथम क्रम के अनुसार ही जो बाद में भी उच्चारण किया गया है उससे मदन के विशेषणभूत अंकुरित इत्यादि शब्दों के अन्दर अनुरणन रूप जो चारुता प्रतीत होती है वह तुल्ययोगिता और समुच्चयरूप वाच्य से भिन्न ही प्रतीतिगोचर होती है।

लोचन

एवमन्येऽपीति। सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते।

इस प्रकार दूसरे भी सभी अर्थालङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है।

तारावती

और उससे एक अधिक सुन्दर अर्थ निकल सकता है, तब 'समम्' का अर्थ समान भी हो सकता है इस ओर सहृदयों का ध्यान जाता है। अतः यहां पर श्लेष व्यङ्ग्य ही है और चमत्कार का पर्यवसान उसी में होने के कारण श्लेषध्वनि यहां पर कही जावेगी। इसका निष्कर्ष यही है कि जहां पर वाच्यार्थ की पूर्णतया पूर्ति हो जावे; उसमे किसी प्रकार की कमी शेष न रह जावे। उसके बाद सहृदय व्यक्तियों को चमत्कारपूर्ण एक दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगता है वही ध्वनि का रूप धारण करता है।

यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि—'वह प्रधानीभूत काव्यार्थ केवल शब्दानु-शासन और केवल अर्थानुशासन ही नहीं जाना जा सकता उसको केवल काव्यार्थ-तत्त्ववेत्ता ही जान पाते हैं। यह बात सभी उदाहरणों में समझी जानी चाहिये। इस बात को समझ लेने से मीमांसकों और तार्किकों का स्वतः समाधान हो जाता है। मीमांसक लोग उपर्युक्त व्यञ्जना के विषय में श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति मानते हैं। आक्षेप के विषय में मीमांसकों के दो मत हैं। प्रथम है कुमारिल भट्ट का और दूसरा है प्रभाकर गुरु का। प्रथम मत को श्रुतार्थापत्ति कहा जाता है और दूसरे को अर्थापत्ति। प्रथम मत के अनुसार आकांक्षा की पूर्ति के लिये शब्द का

तारावती

आक्षेप करलिया जाता है। जैसे—'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता है' यहां पर 'रात में खाता है' का आक्षेप करलिया जाता है। दूसरे मत के अनुसार शब्द के अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है जैसे उसी उदाहरण में रात्रिभोजन के अर्थ का आक्षेप किया जाता है। तार्किक लोग इस प्रकार के आक्षेप को अनुमान द्वारा गतार्थ करते हैं। किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार की अर्थापत्ति श्रुतार्थापत्ति या अनुमान के बिना अभिधेयार्थ की ही पूर्ति नहीं होती। अभिधा ही अपर्यवसित होकर ऐसे स्थान पर स्वार्थ-निर्वाह के लिये अर्थान्तर या शब्दान्तर को अपनी ओर खींच लेती है। किन्तु व्यञ्जना सदा अभिधेयार्थ की पूर्ति हो जाने पर ही कार्य कर सकती है। अतएव व्यञ्जना का अन्तर्भाव तार्किकों और मीमांसकों के अनुमान, श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति में नहीं हो सकता। इसीलिये मूल में कहा गया है कि यहां पर श्लेष बिना ही शब्द के प्रतीत होता है।

(८) यथासंख्यध्वनि का उदाहरण —

'आम अङ्कुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ। हृदय में कामदेव अंकुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ।'

यहां पर आम के अंकुरित होने इत्यादि का, जो कि अप्रस्तुत है, एक धर्म आम में सम्बन्ध होता है और काम के अंकुरित होने इत्यादि का, जो प्रस्तुत है, एक धर्म कामदेव में सम्बन्ध होता है। अतएव वहां पर तुल्ययोगिता अलङ्कार है। आम उद्दीपन विभाव है और उसका अंकुरित होना ही कामोद्दीपन के लिये पर्याप्त है; पल्लवित होना इत्यादि उसी कार्य को करनेवाले हैं। अतएव यहां पर समुच्चयालङ्कार है। अथवा जैसे ही आम अंकुरित इत्यादि हुआ वैसे ही काम भी अंकुरित इत्यादि हो गया। इस प्रकार भी समुच्चयालंकार ही है। ये दोनों वाच्यालंकार हैं। कारण यह है कि समस्त प्रस्तुतों और समस्त अप्रस्तुतों को एक में जोड़ने के लिये यहां पर 'और' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव जब तक समस्त प्रस्तुतों और समस्त अप्रस्तुतों का एक साथ योग नहीं हो जाता तब तक 'और' के वाच्यार्थ की पूर्ति ही नहीं होती। इसी प्रकार आम और कामदेव के एक साथ अंकुरित होने इत्यादि का बोध भी 'और' इस शब्द के प्रयोग के कारण ही होता है। 'और' इस शब्द का प्रयोग भी 'जैसे ही' के अर्थ में देखा जाता है। जैसे 'मैंने उसे देखा और मुझे क्रोध आ गया।' इसका आशय यही है कि उसको देखना और क्रोध का आना एक साथ हुआ। इस प्रकार यहां पर समुच्चय और तुल्ययोगिता दोनों ही वाच्यालंकार हैं। अर्थ की परिसमाप्ति यहीं पर हो जाती है। बाद में 'पश्चात् निर्देश होने पर क्रमशः सम्बन्ध हुआ करता है' इस सिद्धान्त को लेकर यह आशय निकल आता है कि जैसे ही आम अंकुरित हुआ काम अंकुरित हो गया, आम के पल्लवित होते ही काम पल्लवित हो गया, आम के कोरकित होते ही काम कोरकित हो गया और आम के पुष्पित होते ही काम भी पुष्पित हो गया। यह यथासंख्य अलंकार वाच्य की सीमा के बाहर है और केवल ध्वनित ही हो रहा है। यथासंख्य

लोचन

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा।
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष॥

इत्यत्र वाधिष्टेति गोप्यमानादेव दीपकादत्यन्तस्नेहास्पदत्वप्रतिपत्त्या चारुत्व-निष्पत्तिः।

'आपको अनल, पवन, मदमस्त हाथी अथवा परशु अथवा इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ वज्र नहीं……हे वृक्ष लता के साथ तुम्हारा कल्याण हो।'

यहाँपर बाधा पहुँचावे इस गोप्यमान दीपक से ही अत्यन्त स्नेहास्पदत्व की प्रतिपत्ति से चारुता की निष्पत्ति होती है।

तारावती

अलंकार वाच्य वहां पर होता है जहां क्रमानुसार अन्वय के न होने पर वाच्य की परिसमाप्ति ही न हो। जैसे काव्य-प्रकाश का उदाहरण—'हे राजन् यह बड़ी विचित्र बात है कि आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों और मृगनयनियों के अन्तःकरणों में तीन प्रकार से निवास करते हैं और अपनी प्रतापाग्नि, विनय और विलास के द्वारा उनके अन्तः करणों में सन्ताप, आनन्द और रति को पुष्ट करते हैं।' इस उदाहरण में क्रमशः प्रतापाग्नि से शत्रुओं में सन्ताप उत्पन्न किया जाता है, विनय के द्वारा विद्वानों में आनन्द की सृष्टि की जाती है और विलास के द्वारा रमणियों में रति का परिपोष किया जाता है। न तो शत्रुओं में आनन्द या रति हो सकती है; न विद्वानों या रमणियों में सन्ताप ही हो सकता है। जब तक यहां पर क्रमशः अर्थ नहो किया जाता तब तक वाच्यार्थ की परिसमाप्ति होती ही नहीं। किन्तु यह बात प्रस्तुत उदाहरण में नहीं है। यहां पर आम के पुष्पित होने से काम कोरकित भी सकता है अंकुरित भी हो सकता है और पुष्पित भी हो सकता है। इसी प्रकार आम के कोरकित होने से भी ये सभी बातें हो सकती हैं। इसीलिये यहां पर यथासंख्य व्यङ्गय है वाच्य नहीं।)

ऊपर कतिपय अलंकारों की ध्वनि का निरूपण किया गया है। सभी प्रकार के अर्था-लंकार प्रायः ध्वनित होते हुये देखे जाते हैं। अन्य अलंकारों की ध्वनि को भी यथा सम्भव समझ लेना चाहिये। कतिपय उदाहरण और लीजिये —

(अ) दीपकध्वनि का उदाहरण —

'हे वृक्ष लता के साथ तुम्हारा कल्याण हो; न तुम्हें आग, न वायु, न मदमस्त हाथी, न परशु और न इन्द्र के हाथ से छोड़ा हुआ वज्र ही —

यहां पर 'बाधा पहुँचा सके' इस शब्द का आक्षेप करने पर जब इससे आग, वायु इत्यादि का एक में अन्वय हो जाता है और जब इस अर्थ का बोध हो जाता है कि न तुम्हें आग ही बाधा पहुँचा सके, न वायु ही और न मदमस्त हाथी ही, तभी कवि के वृक्षविषयक स्नेह की प्रतिपत्ति होती हैं। अतएव एकान्वयरूप दीपक में ही चारुत्व का पर्यवसान होता हैं। अतः यहां पर

लोचन

अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिरपि—

ढण्ढुल्लन्तो मरिहिसि कण्टअकलिआइं केअइवणाइं।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो न पावहिसि।

प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिन्नायिका भ्रमरमेवमाहेति भृङ्गस्याभिधायां प्रस्तुतत्वमेव। न चामन्त्रणादप्रस्तुतत्वावगतिः, प्रत्युतामन्त्रणं तस्या मौग्ध्यविजृम्भितमिति अभिधया तावन्नाप्रस्तुतप्रशंसा समाप्या। समाप्तायां पुनरभिधायां वाच्यार्थबलादन्यापदेशता ध्वन्यते। यत्सौभाग्याभिमानपूर्णा सुकुमारपरिमलमालतीकुसुमसदृशी कुलवधूर्निर्व्याजप्रेमपरतया कृतकवैदग्ध्यलब्धप्रसिद्ध्यतिशयानि शम्भलीकण्टकव्याप्तानि दूरामोदकेतकीवनस्थानीयानि वेश्याकुलानीतश्चेतश्च चञ्चूर्यमाणं प्रियतममुपालभते।

अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि भी जैसे—

'कण्टकों से भरे हुये केतकी वनों में मंडराते हुये इसी प्रकार मर जाओगे। हे भ्रमर! मालती के फूल के समान भ्रमण करते हुए भी नहीं पाओगे।'

प्रियतम के साथ उद्यान में भ्रमण करती हुई कोई नायिका भ्रमर से इस प्रकार कहती है। इस प्रकार भ्रमर की अभिधा में प्रस्तुतत्व ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि आमन्त्रण पद से अप्रस्तुतत्व की अवगति होती है; प्रत्युत उसका आमन्त्रण मुग्धता की चेष्टा है; इस प्रकार अभिधा से अप्रस्तुतप्रशंसा समाप्त होनेवाली नहीं है। फिर अभिधा के समाप्त हो जाने पर वाच्यार्थ के बलपर अन्यापदेशता (दूसरा अर्थ) ध्वनित हो जाती है कि सौभाग्याभिमान से परिपूर्ण सुकुमार परिमलयुक्त मालती के सदृश (कोई) कुलवधू बनावटी वैदग्ध्य से प्रसिद्धि की अधिकता को प्राप्त करनेवाले, कुट्टिनीरूपी कण्टकों से व्याप्त, दूर से सुगन्ध देनेवाले केतकीवनस्थानीय वेश्याकुलों में इधर-उधर घूमनेवाले प्रियतम को उपालम्भ दे रही है।

तारावती

दीपकध्वनि अलंकार है। (वाच्यार्थ की परिसमाप्ति तो पृथक् पृथक् अर्थ करने से भी हो जाती है—जैसे हे वृक्ष तुम्हें अग्नि जला न सके; वायु उखाड़ न सके और हाथी तोड़ न सके, आदि। अतः एकान्वयिता व्यङ्ग्य ही है।)

(आ) अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि का उदाहरण—

एक नायिका प्रियतम के साथ उद्यान में विहार कर रही है; तब तक वहां पर एक भौंरा मँडराता हुआ आ जाता है; उसको सुनाकर नायिका कह रही है —

'हे भौंरे! कांटों से भरे हुये केतकी के वनों में इसी प्रकार मँडराते हुये मर जाओगे; किन्तु घूमने पर भी तुम्हें मालती फूल के समान दूसरा फूल न मिलेगा।'

यहां पर भ्रमर ही प्रस्तुत है और उसीसे ये शब्द कहे जा रहे हैं। दूसरे किसी का भी

लोचन

अपह्नुतिध्वनिर्यथाऽस्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

य: कालागुरुपत्त्रभङ्गरचनावासैकसारायते
गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधामनि ॥
विच्छेदानलदीपितोत्कवनिताचेतोऽधिवासोद्भवं
सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः ॥

अपह्नुति की ध्वनि जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

'जो गौराङ्गी वनिताओं के कुचकुम्भ के समान विशाल तथा सुभग आभोगवाले सुधाकर में काले अगर के बड़े पत्ते की रचना के निवास के समान सारवान् हो रहा है, हे नताङ्गि। वह वियोगाग्नि से प्रदीप्त उत्कण्ठित वनिताओं के चित्त में निवास करने से उत्पन्न सन्ताप को दूर करने की इच्छा करते हुये यह कामदेव अपने विस्तृत (फैले हुये) अंगों से (विराजमान है)।

तारावती

वृत्तान्त प्रस्तुत नहीं है। अतएव यहां पर अप्रस्तुतप्रशंसा वाच्य के द्वारा परिसमाप्त नहीं हो सकती। अप्रस्तुतप्रशंसा वाच्य वहीं पर होती हैं जहां पर प्रस्तुत कुछ और हो और किसी अप्रस्तुत के प्रति कहकर प्रस्तुत की ओर संकेत किया जावे। यहां पर उद्यान में मँडराता हुआ भौंरा ही प्रस्तुत हैं। अतएव यहां पर अप्रस्तुतप्रशंसा वाच्य नहीं हो सकती। (प्रश्न) यहां पर भौंरे को सम्बोधित किया गया है; भौंरा तिर्यक् योनि में है; वह न किसी से बात कह सकता हैं और न किसी की बात सुन ही सकता है। अतएव किसी प्रकार भी वह सम्बोधन का विषय नहीं हो सकता। इसी से प्रकट होता है कि जिससे बात कही जा रही है वह कोई और है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि भौंरा अप्रस्तुत है और उससे प्रस्तुत की ओर संकेत हो रहा है। फिर यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा वाच्य क्यों नही हो सकती? (उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि लोग अपनी मुग्धता में पशुपक्षियों से भी बातें करते हैं। यहाँ पर नायिका भी अपनी मुग्धता के कारण ही भौंरे को मालती कुसुम की उत्तमता बतला रही है। अतएव यहाँ पर भौंरा ही प्रस्तुत है और वाच्यार्थ का पर्यवसान यहीं पर हो जाता है। बाद में वाच्यार्थ के बल पर एक दूसरा अर्थ और निकलता है—'कुलवती प्रियतमा सौभाग्य के अभिमान से भरी हुई है और वह परिमलयुक्त मालती के पुष्प के समान सुकुमार है। वह सदा विना किसी छल के शुद्ध प्रेम का पालन करती रहती है। दूसरी ओर प्रियतम वेश्याओं के समूह में निन्दनीय रूप में स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर घूमता रहता है, वेश्याओं के समूह ने बनावटी निपुणता के कारण अधिक ख्याति प्राप्त कर रक्खी है। अतएव वे ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे मानों दूर से आमोद को बगरानेवाले केतकी के समूह हों। जिस प्रकार केतकी में कांटे भरे रहते हैं उसी प्रकार वेश्या के पास भी कुट्टिनी रहती हैं। नायिका का अभिप्राय यह है कि हे प्रियतम तुम चाहे जितना

लोचन

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनो लक्ष्मणो वियोगाग्निपरिचितवनिताहृदयोदित-प्लोषमलीमसच्छविमन्मथाकारतयापह्नवो ध्वन्यते। अत्रैव सन्देहध्वनिः—यतश्चन्द्र-वर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम्। अपितु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये चन्द्रमसि कालागुरुपत्त्रभङ्गविच्छित्त्यास्पदत्वेन यः सारतामुत्कृष्टतामाचरतीति तत्र जानीमः किमेतद्वस्त्विति ससन्देहोऽपि ध्वन्यते। पूर्वमनङ्गीकृतप्रणयामनुतप्तां विरहोत्कण्ठितां वल्लभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसज्जीभूतां पूर्णचन्द्रोदया-वसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वदीयकुचकलशन्यस्तकालागुरुपत्त्रभङ्गरचना मन्मथो-द्दीपनकारिणीति चाटुकं कुर्वाणश्चन्द्रवर्तिनी चेयं कुवलयदलश्यामलकान्तिरेवमेव करोतीति प्रतिवस्तूपमाध्वनिरपि। सुधाधामनीति चन्द्रपर्यायतयोपात्तमपि पदं स चायं विनिनीषुरित्यत्र हेतुतामपि व्यनक्तीति हेत्वलङ्कारध्वनिरपि। त्वदीयकुचशोभा मृगाङ्क-शोभा च सहमदनमुद्दीपयत इति सहोक्तिध्वनिरपि। एवमन्येऽप्यत्र भेदाः शक्यो-त्प्रेक्ष्याः। महाकविवाचोऽस्याः कामधेनुत्वात्। यतः—

यहाँ पर चन्द्रमण्डल मध्यवर्ती चिन्ह का वियोगाग्नि से परिचित वनिताओं के हृदय में उत्पन्न जलन के कारण मलिन कान्तिवाले कामदेव के आकार के रूप में अपह्नव (छिपाना) ध्वनित होता है। यहीं पर सन्देहध्वनि है। क्योंकि चन्द्रवर्ती उसका नाम भी नहीं लिया अपितु गौराङ्गीस्तनाभोग के समान चन्द्रमा में काले अगर के पत्रभङ्ग की विच्छित्ति के योग से जो सारता अर्थात् उत्कृष्टता को धारण करता है वह हम नहीं जानते कि क्या वस्तु है ? इस प्रकार सन्देह भी ध्वनित होता है। पहले प्रणय को अङ्गीकार न करने के कारण अनुतप्त, (अतः) विरहोत्कण्ठिता, वल्लभ के आगमन की प्रतीक्षा में लगे होने के कारण प्रसाधन इत्यादि विधि के सम्पादन कर लेने से वासकसज्जा बनी हुई (नायिका से) दूतीमुख से बुलाया हुआ प्रियतम 'तुम्हारे कुचकलश में लगी हुई कालागुरुपत्रभङ्गरचना कामोद्दीपनकारिणी है' यह चाटुकारिता करते हुये 'यह चन्द्रवर्तिनी कुवलयलदश्यामल कान्ति (भी) ऐसा ही करती है' (यह कहता है।) इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा की ध्वनि भी है 'सुधाधाम में' यह चन्द्रपर्याय के रूप में ग्रहण किया हुआ पद 'सन्ताप को दूर करने की इच्छा करनेवाला' यहाँ पर हेतुता को भी व्यक्त करता है, अतः हेत्वलङ्कारध्वनि भी है। तुम्हारी कुचशोभा और चन्द्रशोभा एक साथ कामोद्दीपन करते हैं यह सहोक्तिध्वनि भी है। 'तुम्हारे कुच के समान चन्द्र है और चन्द्र के समान तुम्हारा कुचाभोग है।' इस अर्थ की प्रतीति से उपमेयोपमाध्वनि भी है। इस प्रकार यहाँ पर अन्य भी भेदों की उत्पेक्षा की जा सकती है। क्योंकि यह महाकवि की वाणी ही कामधेनु है। क्योंकि—

तारावती

वेश्याओं के समूह में घूमो तुम्हें वह आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं आ सकता जो मुझसे प्राप्त हो सकता है।

लोचन

हेलापि कस्यचिदचिन्त्यफलप्रसूत्यै कस्यापि नालमणवेऽपि फलाय यत्नः।
दिग्दन्तिरोमचलनं धरणीं धुनोति खात्सम्पतन्नपि लतां चलयेन्न भृङ्गः॥
एषां तु भेदानां संसृष्टित्वं सङ्करत्वं च यथायोगं चिन्त्यम्।

'किसी का खेल भी अचिंत्य फल को उत्पन्न करनेवाला होता है। किसी का प्रयत्न भी अणुमात्र भी फल के लिये नहीं होता। दिग्गजों का रोम-कम्पन पृथ्वी को कँपा देता है; भौंरा आकाश से गिरते हुये भी लता को भी नहीं हिला सकता।'

इन भेदों का संसृष्टित्व और सङ्करत्व यथायोग स्वयमेव विचार कर लिया जाना चाहिये।

तारावती

(६) अपह्नुतिध्वनि—जैसे मेरे (अभिनवगुप्त के) उपाध्याय भट्टेन्दुराज ने लिखा है—

'हे नताङ्गि ? गौराङ्गी ललना के कुचकुम्भ के समान विशाल और सुभग विस्तारवाले सुधाकर में जो काले अगर की पत्र-रचना के रूप में निवास करने के ही कारण सुन्दरता को प्राप्त हो रहा है, यह कामदेव अपने विस्तृत अङ्गों के द्वारा वियोगाग्नि से प्रज्वलित उत्कण्ठित वनिताओं के चित्तों में निवास करने से उत्पन्न हुये सन्ताप को दूर करना चाहता है।'

यहाँ पर चन्द्रमा में जो काले धब्बे पड़े हुये हैं उनके लिये कहा गया है कि वह कामदेव हैं जो कि वियोगिनी स्त्रियों के अन्तःकरणों में रहा है। वियोगिनियों के अन्तःकरण वियोगाग्नि से प्रदीप्त थे अतएव उनमें निवास करने के कारण कामदेव के अङ्ग भी काले पड़ गये। उन सन्तप्त अङ्गों के सन्ताप को शान्त करने के लिये कामदेव अपने अङ्गों को फैला कर चन्द्रमा में लेट रहा है। इस प्रकार यहाँ पर अपह्नुति की ध्वनि निकलती है—'यह चन्द्रमा में कलङ्क नहीं है किन्तु कामदेव अपने अङ्गों के सन्ताप को शान्त करने के लिये लेटा हुआ है।' यहां पर निषेध शब्दवाच्य नहीं है इसीलिये अपह्नुति वाच्य न होकर व्यङ्गय ही कही जा सकती है।

अपह्नुति के अतिरिक्त इसमें कई एक अन्य अलङ्कारों की भी ध्वनि है—

(१) सन्देहध्वनि—यहां पर चन्द्रमण्डलमध्यवर्ती कलङ्क का नाम भी नहीं लिया गया। किन्तु गौराङ्गी के स्तनाभोग के समान चंद्रमण्डल में कालागुरु की पत्ररचना की समता के कारण जो उत्कृष्टता को प्राप्त हो रहा है वह हमें नहीं मालूम कि क्या वस्तु है ? इस प्रकार सन्देह की भी ध्वनि होती है।

(२) प्रतिवस्तूपमा—कोई नायिका विरहोत्कण्ठिता हैं। उसने पहले प्रणय को अङ्गीकार नहीं किया, बाद में उसे अनुताप हुआ और इस समय वह प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा में अपना श्रृङ्गार कर चुकी है इस प्रकार वह वासकसज्जा बन गई हैं। पूर्णचन्द्रोदय के अवसर पर दूती के द्वारा प्रियतम बुलाया गया है। वह उपर्युक्त शब्दों के द्वारा नायिका की चाटुकारी कर रहा है। इस प्रकार यहां पर प्रतिवस्तूपमा ध्वनित होती है—'तुम्हारे कुचकलश के मध्य

लोचन

अतिशयोक्तिध्वनिर्यथा ममैव—

केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोर्धुर्यं वपुस्ते दृशौ
अङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
आपातेऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्मासवः
सत्यं सुन्दरि वेधसस्त्रिजगतीसारस्त्वमेका कृतिः॥

अतिशयोक्तिध्वनि जैसे मेरा ही—

'तुम्हारे दोनों नेत्र केलिरूपी कन्दल से युक्त विभ्रमरूपी वसन्त का अग्रगण्य शरीर है। भ्रकुटि की लीला का कार्यक्रम भङ्गिमा से टूटनेवाला (झुकनेवाला) यह कामदेव का धनुष है। आश्चर्य है कि मुख-जलज की मदिरा आपातमात्र में ही विकार का कारण है। हे सुन्दरी सचमुच तुम ब्रह्मा जी की तीनों लोकों की साररूप अकेली ही कृति हो।'

तारावती

में की हुई कालागरु की पत्ररचना कामोद्दीपन करनेवाली है। चन्द्रमण्डल में कुवलयदलश्यामल कान्ति कामदेव की आवास भूमि ही है।' उपमान तथा उपमेय-परक दोनों विभिन्न वाक्यों में कामोद्दीपन रूप साधारण धर्म का उपादान होने के कारण यहां पर प्रतिवस्तूपमाध्वनि है।

(३) हेत्वलङ्कारध्वनि--यद्यपि यहां पर सुधाकर शब्द का प्रयोग चन्द्र के पर्याय रूप में किया गया है तथापि सन्ताप के दूर करने के लिये कामदेव के लेटने का कारण भी बतलाता है। 'जो सुधा का आकर होगा उसीमें सन्ताप शान्त किया जा सकेगा।' अतएव सुधाकर होना कामदेव की सन्ताप-शान्ति के लिये लेटने में हेतु है। इसीलिये यहां पर हेत्व-लङ्कारध्वनि है।'

(४) सहोक्तिध्वनि–'तुम्हारी कुचशोभा और मृगाङ्कशोभा एक साथ कामोद्दीपन करती हैं।' इस प्रकार यहां पर सहोक्तिध्वनि हैं।

(५) उपमेयोपमाध्वनि–'तुम्हारे कुचमण्डल के समान चन्द्र हैं और चन्द्र के समान तुम्हारा कुचमण्डल।' इस प्रकार यहां पर उपमेयोपमाध्वनि है।

इसी प्रकार के अन्य ध्वनिभेदों की भी कल्पना यहां पर की जा सकती हैं। क्योंकि महाकवियों की वाणी ही इस प्रकार की अलङ्कारमयी रचना के लिये कामधेनु है। कहा भी है—'किसी का खेल भी ऐसे फल को उत्पन्न करनेवाला होता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। दूसरे का प्रयत्न भी अणमात्र भी फल के लिये समर्थ नहीं होता। दिग्गजों का रोमकम्पन भी पृथ्वी को कँपा देता है किन्तु भौंरा आकाश से गिरकर भी लता को नहीं हिला सकता।' यहां अभिनवगुप्त ने अपने गुरु उत्पलराजदेव को महा कवि कह कर उनकी प्रशंसा की है।

लोचन

अत्र हि मधुमासमदनासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यपरिपोषकत्वेन। ते तु त्वयि लोकोत्तरेण वपुषा सम्भूय स्थिताः इत्यतिशयोक्तिर्ध्वन्यते। आपातेऽपि विकारकारणमित्यास्वादपरम्परा क्रिययापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पत्तिरिति विभावनाध्वनिरपि। विभ्रममधोधुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरपि। एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम्। न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयीकृतम्। यथायोगमिति। क्वचिदलङ्काराः क्वचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति॥ २७॥

यहाँ पर निस्सन्देह मधुमास, मदन और आसवों की तीनों में सुभगता एक दूसरे के परिपोषक के रूप में है। 'वे तो तुम्हारे अन्दर अपने लोकोत्तर शरीर से एकत्र होकर स्थिर हुये हैं' इस प्रकार अतिशयोक्ति ध्वनित होती है। 'आपात में ही विकार कारण' यह आस्वादपरम्परा की क्रिया के बिना ही विकारात्मक फल की उत्पत्ति (हो जाती है) अतः विभावनाध्वनि भी है। इस प्रकार समस्त अलङ्कारों की ध्वन्यमानता (हो सकती) है यह मानना चाहिये। ऐसा नहीं जैसा कि कुछ लोगों ने उसे नियतविषयवाला बना दिया है। 'यथायोग' यह। कहीं अलङ्कार कहीं वस्तु व्यञ्जक होती है यह अर्थ योजित कर लिया जाना चाहिये॥ २७॥

तारावती

इन भेदों की संसृष्टि और सङ्कर की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये। (हेत्वलङ्कार और उपमेयोपमा की संसृष्टि है। ससन्देह, प्रतिवस्तूपमा और उपमेयोपमा में एकाश्रयानुप्रवेश संकर है। हेत्वलंकार और अपह्नुति तथा हेत्वलंकार और प्रतिवस्तूपमा में अङ्गाङ्गिभाव संकर है। अपह्नुति और प्रतिवस्तूपमा में एकाश्रयानुप्रवेश संकर है। इत्यादि स्वयं यथोचित रूप में समझ लेना चाहिये।)

(ई) अतिशयोक्तिध्वनि का उदाहरण जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) लिखा हुआ पद्य:—

'तुम्हारे दोनों नेत्र क्रीडा के नवाङ्कुर के समान स्थित विलासमय वसन्त का अग्रगण्य शरीर हैं, भौंहों के लीलामय विलास का कार्यक्रम भङ्गिमा के साथ झुकनेवाला यह धनुष है; कुछ ही आस्वाद लेनेपर मुख कमल की मदिरा आश्चर्यजनक रूप में विकार को उत्पन्न करनेवाली है। हे सुन्दरी! सचमुच ब्रह्माजी की एक अनुपम रचना तुम इन तीनों लोकों का सार हो।'

मधु, मदन और मदिरा इन तीनों में लोकोत्तर सौन्दर्य हैं। इसका कारण एक यह है कि ये तीनों एक दूसरे के पोषक होते हैं। वे तीनों मिलकर नायिका के शरीर में विद्यमान हैं। मधु नेत्रों के रूप में और मदिरा मुख-कमल के अधरामृत के रूप में विद्यमान है ही, भौंह के रूप में काम-कार्मुक की भी सत्ता पाई ही जाती है। जब कामदेव का धनुष उपस्थित ही है तब

ध्वन्यालोकः

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयितुमिदमुच्यते—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥ २८॥

(अनु०) इस प्रकार अलङ्कारों की ध्वनि के मार्ग का व्युत्पादन कर उसकी प्रयोजनवत्ता को ख्यापित करने के लिये यह कहा जा रहा है—

वाच्यत्व की दशा में जिन अलङ्कारों का शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं है वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर बहुत बड़ी छाया को प्राप्त होते हैं॥ २८॥

तारावती

कामदेव की उपस्थिति में भी कोई शंका की बात नहीं रह जाती। यहां पर मधु, मदन और मदिरा के नायिका के शरीर के रूप में स्थित होने का संबन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है; अतः यहां पर सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार ध्वनित है। इसके अतिरिक्त मधु तथा नेत्र, मुखासव तथा मदिरा, भ्रू तथा काम-कार्मुक में भेद होते हुये भी अभेद की कल्पना की गयी हैं, अतएव यहां पर अभेदातिशयोक्ति की ध्वनि हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अलङ्कारों की ध्वनि भी यहां हो सकती है:—

(१) विभावनाध्वनि--वास्तव में मदिरा तभी मस्तीरूप विकार उत्पन्न कर सकती है जब कि उसके पीने के बाद कुछ विलम्ब हो जावे। कोई-भी मदिरा पीते ही मस्ती उत्पन्न नहीं कर सकती। अतएव मस्तीरूप कार्य में आस्वाद-परम्परा कारण है। किन्तु यहां पर मुख-मदिरा बिना ही आस्वाद-परम्परा के आपातमात्र से ही विकार उत्पन्न कर देती है। अतएव बिना ही कारण के कार्य उत्पत्ति हो जाने से विभावना अलंकारध्वनि हैं।

(२) तुल्ययोगिताध्वनि—दोनों नेत्र और वसन्त ये दोनों विलासों का शरीर बतलाये गये हैं। इस प्रकार अधिक वसन्त के साथ समानता स्थापित कर न्यून (नेत्रों) का एक धर्म (विलासों) में सम्बन्ध किया गया है। उद्भट के अनुसार विशिष्ट के साथ न्यून की समता स्थापित कर जहां एक धर्म में सम्बन्ध किया जाता है वहां पर तुल्ययोगिता होती है। इस प्रकार यहां पर तुल्ययोगिता की ध्वनि है।

आशय है कि जितने भी अलंकार होते हैं सभी की ध्वनि हो सकती है। केवल नियत विषय में ही अलंकारों की ध्वनि नहीं होती जैसा कि कुछ लोगों का विचार है। ऊपर कुछ उदाहरण दिये गये हैं। अवसर और औचित्य के अनुसार अन्य अलङ्कारों की ध्वनि भी समझ ली जानी चाहिये। अवसर और औचित्य का आशय यह है कि कहीं तो अलङ्कार में दूसरा अलङ्कार व्यञ्जक होता है और कहीं केवल वस्तु व्यञ्जक होती है। जहां जैसा अवसर हो वहां वैसी ही व्यञ्जना समझ ली जानी चाहिये॥ २७॥

अलङ्कारध्वनि का मार्ग यहां तक बतलाया जा चुका। अब प्रश्न आता है कि जब

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्। व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते।

(अनु०) ध्वन्यङ्गता दोनों प्रकार से होती हैं व्यञ्जकत्व के रूप में भी और व्यङ्ग्यत्व के रूप में भी। उनमें यहां पर प्रकरण होने के कारण व्यङ्ग्यत्व के रूप में ही ध्वन्यङ्गता समझी जानी चाहिये। व्यङ्ग्यता होने पर भी अलङ्कारों की प्राधान्य विवक्षा होने पर ही ध्वनि में अन्तःपात (समावेश) होता हैं। अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन किया जावेगा।

लोचन

ननूक्तास्तावच्चिरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्ग्यत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्क्याह—एवमित्यादि। येषामलङ्काराणां वाच्यत्वेन शरीरीकरणं शरीरभूतात्प्रस्तुतादर्थान्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरतापादनं व्यवस्थितं सुकवीनामयत्नसम्पाद्यतया। यदि वा वाच्यत्वे सति येषां शरीरतापादनमपि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति यावत्। तेऽलङ्काराः ध्वनेर्व्यापारस्य काव्यस्य वाङ्गतां व्यङ्ग्यरूपतया गताः सन्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमात्मरूपतां यान्ति। एतदुक्तं भवति—

(प्रश्न) प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कार बतलाये थे उनका यदि आपके द्वारा व्यङ्ग्यत्व दिखलाया गया तो इससे क्या ? (इसमें क्या नवीनता आ गई ?) यह शङ्काकर (उत्तर में) कहते हैं—'एवम् इत्यादि।' जिन अलङ्कारों का वाच्यत्व के रूप में शरीरीकरण—अर्थात् शरीरस्थानीय प्रस्तुत से (भिन्न) दूसरा अर्थ होने के कारण अशरीर कटक इत्यादि स्थानीय (अलङ्कारों का) शरीरता सम्पादन व्यवस्थित हैं क्योंकि सुकवियों के लिये अयत्नसम्पाद्य (हो जाता है)। अथवा वाच्यत्व के होने पर जिनका शरीरता-सम्पादन भी व्यवस्थित नहीं है अर्थात् दुर्घट है। वे अलङ्कार ध्वनि व्यापार या काव्य की अङ्गता को व्यङ्ग्यरूप में प्राप्त होकर परा अर्थात् दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति को आत्मरूपता प्रदान कर देते हैं। यह कहा है—

तारावती

पुराने आचार्यों ने अलङ्कारों का निरूपण कर ही दिया तब आपने उनकी व्यञ्जना बतलाकर कौन-सी नई बात कही ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उसका प्रयोजन २८ वीं कारिका में बतलाया जा रहा है—

(इस कारिका में दो प्रकार की योजना की जा सकती है एक तो 'वाच्यत्वेन' को एक तृतीयान्त शब्द मानकर और दूसरे 'वाच्यत्वे + न' इस प्रकार एक सप्तम्यन्त शब्द से न को पृथक् मानकर। शरीरीकरण शब्द में च्विप्रत्यय है जिसका अर्थ होता है—जो शरीर नहीं है उसको शरीर बना दिया जावे।) ?—प्रस्तुत अर्थ काव्य का शरीर-स्थानीय होता है। अलङ्कार उससे भिन्न एक दूसरा ही अर्थ होते है, अतएव वे वाच्य होते हुये काव्य के शरीर उसी प्रकार नहीं

लोचन

सुकविर्विदग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—इतरथात्विति॥ २८॥

सुकवि यद्यपि विदग्ध स्त्री के समान अलङ्कार को अत्यन्त श्लिष्टता के साथ जोड़ता है तथापि कुंकुम की पीलिमा के समान उसको शरीरता प्रदान करना ही कष्टसम्पाद्य है। आत्मरूपता प्रदान करने की तो सम्भावना ही क्या ? वह व्यङ्ग्यता इस प्रकार की है जो अप्रधान होते हुये भी वाच्यमात्र अलंकारों से (व्यङ्ग्य) अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान कर देती हैं जैसे बालक्रीडा में भी राजस्व (उत्कर्ष देनेवाला होता है।) इस अर्थ को मन में रखकर कहते हैं— 'अन्यथा तो' ॥ २८॥

तारावती

होते जैसे शरीर से पृथग्भूत कटक-कुण्डल इत्यादि शरीर की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकते। उन अलङ्कारों को शरीर बना देना व्यवस्थित है क्योंकि अच्छे कवियों के लिये यह बात विना प्रयत्न के हो जाती है। अथवा दूसरी योजना के अनुसार इसका अर्थ होगा—वाच्य होने पर जिनके अन्दर शरीरत्व धर्म का सम्पादन करना भी व्यवस्थित नहीं होता अर्थात् अत्यन्त दुष्कर होता है। वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर अर्थात् व्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि-व्यापार का अङ्ग वनकर या ध्वनिकाव्य का अङ्ग वनकर बहुत वड़ी दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति को प्राप्त कर लेते हैं। यहां पर कहने का आशय यह है कि यद्यपि एक सुकवि विदग्धललना के समान आभूषणों को वड़ी ही निपुणता से सजाता हैं जोकि बिलकुल ही ठीक वैठ जाते हैं किन्तु फिर भी वे अलंकार कभी भी शरीर का अवयव नहीं बन सकते। कुंकुम कितनी ही कुशलता से लगाया जावे किन्तु वह शरीर के स्वाभाविक सुनहले रंगका रूप कभी धारण नहीं कर सकता। जब अलंकार शरीर ही नहीं बन सकता तब आत्मा का रूप धारण कर सकेगा इसकी तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती। यह व्यङ्ग्य होना ही एक ऐसा तत्त्व है जो अप्रधानभूत होते हुये भी केवल वाच्य अलंकारों की अपेक्षा अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान कर देती है। जिस प्रकार वालक्रीडा में कोई राजा बन जाता है। इसी बात को मन में रखकर वृत्तिकार ने कहा है कि अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन आगे चल कर किया जावेगा (अभिनवगुप्त के 'अप्रधान होते हुये' शब्द का आशय यह है कि अभिनवगुप्त रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अतः प्रधानतया तो रसध्वनि ही काव्य की आत्मा हुआ करती है किन्तु जिस प्रकार बच्चे खेल में किसी एक बच्चे को राजा बना दिया करते हैं। वह बच्चा यद्यपि राजा होता नहीं है फिर भी अन्य बच्चों की अपेक्षा उसे कुछ अधिक महत्त्व मिल जाता है। उसी प्रकार जब अलंकार व्यङ्ग्य होते हैं तब यद्यपि वे रसध्वनि के समान काव्य की प्रधानीभूत आत्मा तो नहीं बन जाते तथापि उन्हें

ध्वन्यालोकः

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गतिः—कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण। तत्र—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां

अत्र हेतुः—

काव्यवृत्तिस्तदाश्रया॥ २९॥

यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वनैव काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात्।

(अनु०) अङ्गी के रूप में व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कारों की गति दो प्रकार की होती है—कभी वस्तुमात्र से व्यक्त होते हैं कभी अलङ्कार से। उनमें—

'जब वस्तुमात्र से अलङ्कार व्यक्त होते हैं तब वे निस्सन्देह ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं।

इसमें कारण यह है—

काव्यवृत्ति उन्हीं के आधीन रहती है॥ २९॥

क्योंकि वहां पर उस प्रकार के व्यङ्ग्य-अलंकार-परक होकर ही काव्य प्रवृत्त हुआ है। अन्यथा वह वाक्यमात्र ही रह जाता।

लोचन

तत्रेति द्वय्यां गतौ सत्याम्। अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिग्रन्थः। काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः। अन्यथेति। यदि न तत्परत्वमित्यर्थः। तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतानेव शङ्क्येति तात्पर्यम्।

'उसमें यह'। दो गतियों के होनेपर। 'अत्र हेतुः' यह वृत्ति ग्रन्थ है (कारिका भाग नहीं)। क्योंकि काव्य की अर्थात् कविव्यापार की वृत्ति तदाश्रय अर्थात् अलंकारोन्मुख होती हैं। 'अन्यथा' अर्थात् यदि तत्परत्व न हो। इससे तात्पर्य यह है कि वहाँ पर गुणीभूत व्यङ्ग्य होने की आशंका नहीं करनी चाहिये।

तारावती

अन्य वाच्यालंकारों की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व अवश्य मिल जाता है।) अलंकार ध्वनि का अङ्ग दो रूपों में हो सकता है एक व्यञ्जक के रूप में एक व्यङ्ग्य के रूप में। यहां पर प्रसङ्ग व्यङ्ग्य का है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में जहां कहीं भी अलंकारध्वनि शब्द का प्रयोग किया गया है वहां पर व्यङ्ग्य अलंकार का ही अभिप्राय समझना चाहिये। एक बात और ध्यान रखनी चाहिये कि अलंकार के व्यङ्ग्य होने पर भी जहां उसकी प्रधानता होगी वहीं उसकी प्रधानता ध्वनि के अन्दर होगी यदि व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानता नहीं होगी तो उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहेंगे जिसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जावेगा॥ २८॥

ध्वन्यालोकः

तासामेवालङ्कृतीनां—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे

पुनः

ध्वन्यङ्गता भवेत्।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३० ॥

उक्तं ह्येतत्—'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति। वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थमात्रेणालङ्काविशेषरूपेण वार्थनार्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः।

(अनु०) उन्हीं अलङ्कारों के—

'दूसरे अलंकारों द्वारा व्यङ्ग्य होने पर तो—

उनकी ध्वन्यङ्गता हो जाती है अर्थात् वे ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं, यदि चारुत्व के उत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य की प्रधानता लक्षित हो रही हो ॥ ३० ॥'

यह बात कही जा चुकी है कि वाच्य और व्यङ्ग्य की प्राधान्य विवक्षा चारुता के आधीन होती है। यदि अलङ्कार केवल वस्तु के द्वारा व्यङ्ग्य हो तो अभी दिखलाये हुये उदाहरणों से उनका विषय समझ लेना चाहिये। अतः इस प्रकार अर्थमात्र से अथवा दूसरे अलङ्कार-विशेषरूप अर्थ से अर्थान्तर के अथवा अलङ्कार के प्रकाशित होने पर चारुत्व के उत्कर्ष के आधीन प्राधान्य के होने पर अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि समझी जानी चाहिये।

लोचन

तासामेवालङ्कृतीनामिति पठिष्यमाणकारिकोपस्कारः। पुनरिति कारिकामध्य उपस्कारः। ध्वन्यङ्गतेति ध्वनिभेदत्वमित्यर्थः। व्यङ्ग्यप्राधान्यमिति। अत्र हेतुः चारुत्वोत्कर्षत इति। यदीति। तदप्राधान्ये तु वाच्यालङ्कार एव प्रधानमिति गुणीभूतव्यङ्ग्यतेति भावः। नन्वलङ्कारो वस्तुना व्यज्यते अलङ्कारान्तरेण च व्यज्यते इत्यत्रोदाहरणानि किमिति न दर्शितानीत्याशङ्क्याह—वस्त्विति। एतत्संक्षिप्योपसंहरति—तदेवमिति।

'तासामेव अलंकृतीनाम्' यह आगे आनेवाली कारिका का उपस्कार है। 'पुनः' यह कारिका का मध्य उपस्कार है। 'ध्वन्यङ्गता अर्थात् ध्वनिभेदत्व। 'व्यङ्ग्यप्राधान्य' इसमें हेतु है—'चारुता का उत्कर्ष होने से'। 'यदि' उसके प्रधान न होने पर वाच्यालंकार ही प्रधान होता है इसी प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यता हो जाती है यह भाव है। 'अलंकार वस्तु के द्वारा व्यक्त होते हैं और दूसरे अलंकार के द्वारा व्यक्त होते हैं, इस विषय में उदाहरण क्यों नहीं दिये गये ?' यह शंका करके कहते हैं—'वस्तु' इत्यादि। इसको संक्षिप्त करके उदाहरण देते हैं—तदेवम्

लोचन

व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्काररूपतया द्विप्रकारत्वाच्चतुर्विधोऽयमर्थशक्त्युद्भव इति तात्पर्यम् ॥ २९, ३० ॥

इति। तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक में प्रत्येक के वस्तु और अलंकार-रूपता से दो प्रकार होने के कारण यह अर्थशक्त्युद्भव चार प्रकार का होता है ॥ २९, ३० ॥

तारावती

व्यङ्ग्य अलंकारों की दो गति होती हैं एक वस्तुमात्र से अलंकारध्वनि और दूसरे अलंकार से अलंकारध्वनि। उसमें अर्थात् दो गतियों के होने पर यह विशेषता है कि 'जब वस्तुमात्र से अलंकार व्यक्त होते हैं तब वे अवश्य ही ध्वनि का अङ्ग होते हैं' उसमें कारण यह है; कि उस समय काव्य की वृत्ति उस अलंकार के ही आधीन होती है ॥ २९ ॥

'उससे हेतु यह है' इतना शब्द-खण्ड कारिका का भाग नहीं है अपितु वृत्तिकार ने कारिका के अन्दर कारिका चतुर्थ चरण का अवतरण दे दिया है। जहां पर वस्तुमात्र से अलंकार की व्यञ्जना होती है वहां पर काव्य का प्रवृत्ति-निमित्त वही अलंकार होता है। साधारण वस्तु की अपेक्षा अलंकार सर्वदा अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि कविवृत्तिसदा अलंकारप्रवण होती है अतएव जहां वाच्य केवल साधारण वस्तु हो और व्यङ्ग्य अलंकार हो वहां पर अलंकार ही प्रधान होते हैं और अलंकार की ही ध्वनि कही जाती है। यदि अलंकार की प्रधानता नहीं होती तो वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं होता किन्तु एक साधारण वाक्य रह जाता है।

कुछ पुस्तकों में 'तासामेवालंकृतीनाम्' यह पाठ २९ वीं कारिका की वृत्ति के अन्त में पाया जाता है; किन्तु यह अगली ३० वीं कारिका का अवतरण है। ३० वीं कारिका के बीच में 'पुनः' यह पाठ आया है, यह कारिका के मध्य में अवतरण है। तीसवीं कारिका का अर्थ यह है:—'यदि वे ही अलंकार दूसरे अलंकारों के द्वारा व्यक्त हो रहे हों और चारुता के उत्कर्ष के कारण यदि व्यङ्ग्य की प्रधानता भी लक्षित हो रही हो तो वे अलंकार ध्वनि का अङ्ग होते हैं।' 'ध्वनि का अङ्ग होते हैं' कहने का आशय यह है कि वे ध्वनि का एक प्रकार होते हैं। व्यङ्ग्य की प्रधानता में हेतु होता है चारुता का उत्कर्ष। 'यदि व्यङ्ग्य की प्रधानता लक्षित हो रही हो'—कहने का आशय यह है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ प्रधान हो तो वाच्यालंकार की ही प्रधानता होगी और ऐसी दशा में वहां पर गुणीभूतव्यङ्ग्य हो जावेगा। क्योंकि कहा ही गया है कि 'वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रधानता विवक्षा चारुता के उत्कर्ष के आधीन होती है।' (प्रश्न) अलंकार वस्तु के द्वारा और दूसरे अलंकार के द्वारा व्यक्त होता है इसके उदाहरण क्यों नहीं दिये गये? (उत्तर) अभी जो पिछले प्रकरण में अलंकार ध्वनि के उदाहरण दिखलाये गये हैं उन्हीं से वस्तु के द्वारा अलंकाराभिव्यक्ति को विषय समझ लिया जाना चाहिये। इसी का संक्षेप में उपसंहार किया जा रहा है। वह इस प्रकार—केवल अर्थ (वस्तु) से अथवा अलंकार रूप अर्थ (वस्तु) से दूसरे अर्थ (वस्तु) के अथवा अलंकार के प्रकाशित होने पर और उसमें चारुता के उत्कर्ष के

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥ ३१॥

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन करके उनके आभास का विवेक करने के लिये कहा जा रहा है—

'जहाँ प्रतीयमान अर्थ मलिनता के साथ भासित हो अथवा वाच्य के अङ्ग के रूप में भासित हो वह इस ध्वनि का गोचर नहीं होता॥ ३१॥

लोचन

एवमिति। अविवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ–अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः। द्वितीयो द्विविधः—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः—कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतः सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटनाप्रबन्धप्रकाशत्वेन पञ्चत्रिंशद्भेदाः। तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः।

'इस प्रकार इति'। अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो मूल भेद हैं। प्रथम के दो भेद—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य। द्वितीय के दो भेद अलक्ष्यक्रम और अनुरणनरूप। प्रथम के अनन्त भेद हैं। द्वितीय दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। अन्तिम तीन प्रकार का (होता) है—कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर और स्वतः सम्भवी। वे प्रत्येक व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के उक्त भेदों की नीति से चार प्रकार के होते हैं इस प्रकार १२ प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है। प्रारम्भ के चार भेद इस प्रकार १६ मुख्य भेद होते हैं। वे पद और वाक्य के रूप में प्रत्येक दो प्रकार के कहे जावेंगे। अलक्ष्यक्रम के दो वर्ण, पद, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध प्रकाश्य होने रूप में ३५ भेद होते हैं। उनके आभासों से अर्थात् ध्वन्याभासों से विवेक अर्थात् विभाग।

तारावती

आधीन रहनेवाली प्रधानता के भी होने पर अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूपव्यङ्ग्य ध्वनि समझी जानी चाहिये। तात्पर्य यह है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि चार प्रकार की होती है—क्योंकि व्यङ्ग्य और व्यञ्जक में प्रत्येक दो दो प्रकार का होता है वस्तुरूप और अलंकार रूप। वे चार प्रकार के हैं—(१) वस्तु से वस्तुध्वनि (२) वस्तु से अलंकारध्वनि, (३) अलंकार से वस्तुध्वनि और (४) अलंकार से अलंकारध्वनि॥ २९-३०॥

तारावती

इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन किया जा चुका। वह इस प्रकार है—ध्वनि के मूलरूप में दो भेद होते हैं अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम तथा अनुरणनरूप व्यङ्ग्य। असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य अनन्त प्रकार का है। अनुरणनरूप व्यङ्ग्य दो प्रकार का होता है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। अर्थशक्तिमूलक तीन प्रकार का होता है—कविप्रौढोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध और स्वतः सम्भवी। उनमें प्रत्येक के वे चार भेद होते हैं जो कि ऊपर व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के भेदों की नीति के द्वारा दिखलाये गये हैं। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि १२ प्रकार की होती है। प्रारम्भिक चार भेदों को मिलाकर ध्वनि के १६ मुख्य भेद होते हैं। उनमें से प्रत्येक के दो दो भेद बतलाये जावेंगे—पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। अलक्ष्यक्रम का प्रकाशन वर्ण, पद, वाक्यसंघटना और प्रबन्ध के द्वारा होता है। अतएव ध्वनि के ३५ भेद होते हैं।

[काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि के ५१ भेद बतलाये हैं। उनका परिगणन इस प्रकार है—लक्षणामूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है-अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि। इन दोनों में प्रत्येक के दो दो भेद किये जा सकते हैं—१-वाक्यगत और २-पद गत। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के कुल चार भेद हुये। अभिधामूलक असंललक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि ६ प्रकार की होती है १-वाक्यगत, २-पदगत, ३-पदांशगत, ४-वर्णगत, ५-रचनागत और ६-प्रबन्धगत। इस प्रकार कुल मिलाकर १० भेद हुये। अभिधा-मूलक संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इनमें प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं (१) वाक्यगत, (२) पदगत। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के चार भेद हुये। पूर्वोक्त १० भेदों को मिलाकर १४ भेद हो गये। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि इत्यादि १२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद होते हैं। (१) पदगत, (२) वाक्यगत और (३) प्रबन्धगत। इस प्रकार संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के ३६ भेद हो गये। पूर्वोक्त १४ भेदों को मिलाकर कुल ५० भेद हुये। एक उभय शक्तिमूलक ध्वनि होती है। इस प्रकार कुल ५१ भेद हो गये।

प्रतिहारेन्दुराज ने गणना का क्रम कुछ भिन्न ही रक्खा हैं। उन्होंने लघुवृत्ति में लिखा है—'ध्वनि दो प्रकार की होती है—वाचकशक्तिमूलक (शब्दशक्तिमूलक) और वाच्यशक्तिमूलक (अर्थशक्तिमूलक)। वाचकशक्तिमूलक ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इन तीनों भेदों की एकता का स्थापित करनेवाला तत्त्व है वाच्यार्थ का विवक्षित होना। वस्तु और अलंकारध्वनि की दृष्टि से व्यञ्जक वाच्य दो प्रकार का होता है—विवक्षित और अविवक्षित। अतएव इन भेदों का आश्रय लेने से तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थों में रहनेवाले व्यञ्जकतत्त्व के छः प्रकार होते हैं। इन छः प्रकारों में दो भेदों में

ध्वन्यालोकः

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्याऽर्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः । स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः । यथा—

कमलाअराणं मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा ।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम् ॥

(अनु०) प्रतीयमान निस्सन्देह दो प्रकार का होता है—स्फुट और अस्फुट । उनमें जो स्फुट प्रतीयमान शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का मार्ग है दूसरा नहीं । स्फुट भी जो प्रतीयमान अभिधेय के अंग के रूप में अवभासित होता है वह इस अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि का गोचर नहीं होता । जैसे—

'कमलों के आकर मलिन नहीं हुये; हंस भी सहसा उड़े नहीं; किसी ने मेघमण्डल को ऊपर उठाकर गाँव के तालाब में फेंक दिया ।

लोचन

अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसौ काव्यविशेषो न गोचरः ।

कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च सहसा ।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥ इतिच्छाया ।

अन्ये तु पिउच्छा पितृश्वसः इत्थमामन्त्रयन्ते । केनापि अतिनिपुणेन ।

इसका अर्थात् आत्मभूत ध्वनि का यह काव्यविशेष गोचर (विषय) नहीं होता ।

'कमलों का समूह मलिन नहीं पड़ा, हंस सहसा उड़ नहीं गये, किसी ने आकाश को उठाया और गाँव के तालाब में डाल दिया ।'

दूसरे लोग तो 'पिउच्छा' का (संस्कृत में अनुवाद) 'पितृष्वसः' यह सम्बोधन में करते हैं, अर्थात् हे पिता की बहन । 'किसी ने' अर्थात् अत्यन्त निपुण ने ।

तारावती

वाच्य अविक्षित बतलाया गया है । चार में विवक्षित बतलाया गया है । जहाँ पर वाच्य विवक्षित होता है वहाँ वाच्य दो प्रकार का होता है—स्वतः सम्भवी और प्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्न । इस प्रकार उसके ८ भेद हो जाते हैं । ये ८ भेद अविवक्षित वाच्य के दो भेदों को मिलाकर १० हो जाते हैं । इनमें प्रत्येक के पदगत और वाक्यगत ये दो दो भेद करके २० हो जाते हैं । वर्णसंघटना प्रबन्ध इत्यादि भेद पद और वाक्य में ही सन्निविष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार ध्वनि के २० ही मूल भेद होते हैं और इतने ही यथा सम्भव गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद होते हैं ।]

इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन कर अब उनके आभास का विवेक करने लिये कहा जा रहा है । उनके आभास का अर्थ है ध्वनि का आभास और विवेक का अर्थ है

ध्वन्यालोकः

अत्र हिं प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधरप्रतिबिम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम्।

(अनु०) यहाँ पर प्रतीयमान मुग्धवधू द्वारा जलधर प्रतिबिम्ब दर्शन की वाच्यांगता ही है। इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भी जहाँ पर व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की चारुत्वोकर्ष की प्रतीति से प्रधानता का निश्चय किया जाता है, वहाँ पर व्यंग्य की अंग के रूप में प्रतीति होने के कारण ध्वनि की विषयता नहीं होती।

लोचन

वाच्याङ्गत्वमेवेति। वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत्। वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवाञ्छया व्यनक्ति।

'वाच्यांगत्व ही' अर्थात् विस्मय के विभावरूप वाच्य के साथ ही मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है; इस प्रकार वच्य से ही चारुता की सम्पत्ति (प्रकट होती है)। वाच्य तो अपनी आत्मा की उपपत्ति के लिये दूसरे अर्थ को अपने उपकार की कामना से व्यक्त कर लेता है।

तारावती

विभाग। कारिका का अर्थ इस प्रकार है—'ऐसा स्थान ध्वनि के क्षेत्र में नहीं आता जिसमें प्रतीयमान अर्थ या तो मलिनता के साथ भासित हो या वाच्य का अङ्ग बन जावे।' कारिका में कहा गया है कि 'इस ध्वनि का वह गोचर नहीं होता।' यहाँ पर 'इस' का अर्थ है जो ध्वनि आत्मा के रूप में स्थित है। 'वह' का अर्थ है उस प्रकार का काव्य जिसमें प्रतीयमान अर्थ या तो मलिन हो या वाच्य का अङ्ग हो। आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ दो प्रकार का होता है—स्फुट और अस्फुट। उनमें जो स्फुट प्रतीयमान अर्थ शब्दशक्ति और अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का विषय होता है और कोई नहीं। स्फुट भी जो प्रतीयमान अर्थ अभिधेय के अङ्ग के रूप में अवभासित होता है वह इस ध्वनि के क्षेत्र में नहीं आता। जैसे—

'किसी ने आकाश को निपुणता के साथ उठाकर गाँव के तालाब में एकदम डाल दिया। आश्चर्य है कि फिर भी न तो कमलों का समूह ही मलिन पड़ा और न सहसा हंस ही उड़े।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ यह है कि किसी मुग्धवधू ने गाँव के तालाब में आकाश का प्रतिबिम्ब देखकर ये शब्द कहे हैं। यहाँ पर चमत्कार वाच्यार्थ के द्वारा ही होता है क्योंकि वाच्यार्थ ही विस्मय का विभाव है और उसी के द्वारा मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है।

ध्वन्यालोकः

यथा—

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्म वावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं॥

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते।

(अनु०) जैसे—

'वानीर अर्थात् वेतस लता के कुञ्ज से उड़नेवाले पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुये घर के काम में लगी हुई बहू के अंग सहमे जाते हैं।'

इस प्रकार का विषय प्रायः गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट किया जावेगा।

लोचन

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि॥ इति छाया।

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते। तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्यबद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद् गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति। गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति। अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वनिष्पत्तिः।

'वेतसलता-गहन से उड़े हुये पक्षियों के कोलाहल को सुननेवाली घर के काम में लगी हुई बहू के अंग सहमे जाते हैं।

यहाँ पर दिये हुये संकेतवाले चौर्य-कामुक के समुचित स्थान की प्राप्ति ध्वनित होकर वाच्योपस्कारक ही होती है। वह इस प्रकार—'गृहकर्म में लगी हुई अर्थात् अन्यपरायण भी 'वधू के' अतिशय लज्जा की पराधीनता में बंधी हुई भी। 'अंगानि' अर्थात् एक भी इस प्रकार का अंग नहीं है जो गाम्भीर्य-युक्त अवहित्थ के वश में छिपाये जाने में समर्थ हुआ हो। 'सहमे जा रहे हैं' अर्थात् गृहकर्मसम्पादन की बात तो दूर रही अपने को भी धारण करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं। गृहकर्म के योग से स्फुटरूप में उस प्रकार के दिखलाई पड़नेवाले। इसी वाच्य से सातिशय मदन-पारवश्य की प्रतीति होने से चारुता की निष्पत्ति होती है।

तारावती

अतः चारुता वाच्यार्थ के ही कारण है। व्यङ्ग्यार्थ केवल वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये ही उपस्थित हो जाता है। वाच्य तो अपनी सिद्धि के लिये अपने उपकार की इच्छा से दूसरे अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) को अभिव्यक्त करता है। अतः यह ध्वनिकाव्य नहीं हो सकता। इस प्रकार के विषय में जहां अन्यत्र भी व्यङ्ग्य की अपेक्षा काव्य में ही चारुता की अधिकता की प्रतीति होने से वाच्य की

तारावती

ही प्रधानता मालूम पड़े वहां पर व्यङ्ग्यार्थ अङ्ग के रूप में ही प्रतीत होता है। अतः वह ध्वनि का विषय नहीं हो सकता। जैसे—

'वेतस-कुञ्ज से उड़नेवाले पक्षियों का कोलाहल सुनते हुये घर के काम में लगी हुई बहू के अङ्ग सहमे जा रहे हैं।'

किसी नायक और नायिका ने वेतस-लतागृह में एकान्तस्थान पर मिलने का सङ्केत किया है। नायिका घर के काम में लगी हुई है अतः वह नियत समय पर सङ्केतस्थान पर जा नहीं सकी है। नायक वहां पर ठीक समय पर पहुँच गया है। नायक के पहुँच जाने पर उस वेतसलता के पक्षी उड़ने लगे और कोलाहल करने लगे। उन पक्षियों के इस कोलाहल को सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका को अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ है। यहां पर प्रतीयमान अर्थ है सङ्केत का देना और चौर्य-कामुकरत के योग्य स्थान का प्राप्त करना। यह प्रतीयमान अर्थ 'अङ्ग सहमे जा रहे हैं' इस वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये ही आया है। यहांपर व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक सुन्दर है। वह इस प्रकार (१) घर के काम में लगी हुई कहने का आशय यह है कि नायिका की भावना इतनी उत्कट कोटि की है कि यद्यपि वह दूसरे काम में लगी हुई है तथापि उसका ध्यान निरन्तर नायक और सङ्केत की ही ओर है। (२) 'बहू' कहने का आशय यह है कि यद्यपि वह नवपरिणीता है और बहुत बड़ी लज्जा की परतन्त्रता से बँधी हुई है तथापि भावना की तीव्रता के कारण वह भाव संवरण करने में समर्थ नहीं हो रही है। (३) 'अंग सहमे जा रहे हैं' में बहुवचन के निर्देश का आशय यह है कि उसका एक भी अंग ऐसा नहीं है जो कि गम्भीरता के साथ भावगोपन की क्रिया (अवहित्था) के द्वारा अपने भावों को संवृत करने में समर्थ हो सके। (४) 'सहमे जा रहे हैं' कहने का आशय यह है कि घर के काम करना तो दूर रहा उसके अंग स्वयं अपने को ही धारण करने में समर्थ नहीं हैं। घर के काम में लगे होने के कारण उनकी भावनायें स्फुट रूप में प्रकट होती हैं और इसी से चारुता की निष्पत्ति भी होती है। अतएव वाच्यार्थ की प्रधानता होने के कारण यह ध्वनिकाव्य नहीं हो सकता (यहाँ पर काव्यप्रकाशकार ने असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य माना है। उसकी व्याख्या करते हुये उद्योतकार ने लिखा है कि यहां पर सङ्केत देना इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों की अपेक्षा 'अङ्ग सहमे जा रहे हैं' इस उक्ति में अधिक रमणीयता है। क्योंकि अंगों का सहमना एक अनुभाव है जिससे औत्सुक्य आवेग इत्यादि सञ्चारी भावों के साथ अनुराग के उद्रेक से उत्पन्न कामपरवशता अभिव्यक्त होती है। विश्वनाथ ने निर्णय दिया है कि वाच्य-सिद्ध्यङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य को बाधकर यहाँ पर असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग हो जाता है। यहां पर कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि लोचनकार इसे केवल वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य मानते हैं असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं मानते। उन्हें लोचनकार के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये—'अस्मादेव वाच्यात् सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः।' आनन्द-वर्धन ने

ध्वन्यालोकः

यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः।

(अनु०) जहाँ पर तो प्रकरण इत्यादि की प्रतिपत्ति से विशेषता को निर्धारित किया हुआ वाच्यार्थ पुनः प्रतीयमान के अङ्ग के रूप में ही अवभासित होता है वह इसी अनुरणन रूप व्यंग्यध्वनि का मार्ग है।

लोचन

यत्रत्विति। प्रकरणमादिर्यस्य शब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्यलिङ्गादेस्तदवगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्तस्वभावः। पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्देनोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्नपूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवसायी न भवति। तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामेतीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्ग्यतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्ग्यगुणीभावे त्वेतद्विपरीतमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति।

'जहाँ पर तो'। प्रकरण जिसके आदि में हैं अर्थात् शब्दान्तर सन्निधि, सामर्थ्य, लिंग इत्यादि। उनके अवगम से ही जहाँ पर अर्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय कर लिया गया हो। फिर भी वाच्य अर्थात् फिर भी स्वशब्द द्वारा कहा हुआ, अतएव अपनी स्वरूप की अवगति के पहले ही सम्पन्न हो जाने से उसका पर्यवसान उतने में ही नहीं होता, उस प्रकार का प्रतीयमान की अंगता को प्राप्त कर लेता है इस प्रकार वह इस ध्वनि का विषय है, इस कथन के द्वारा व्यंग्य तात्पर्य के निबन्धन को स्फुट रूप में कहते हुये व्यंग्य के गुणीभाव में तो इससे विपरीत ही निबन्धन माना जाना चाहिये यह कहा हुआ हो जाता है।

तारावती

भी लिखा है—'व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते।' इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य भी यहां पर असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य मानने के विरोधी नहीं हैं। इस प्रकरण का पूरा विश्लेषण करने पर दो बातें प्रकट होती हैं—एक तो यह कि जहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभाव हो वहाँ भी ये आचार्य व्यङ्ग्य को अंग मानते हैं और जहां पर व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर हो उसे भी प्रधान का विरोधी अंग ही मानते हैं। दूसरी बात यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य की संसृष्टि और सङ्कर भी आचार्यों ने माना है। यहाँ पर अभिनवगुप्त ने वाच्यसिद्ध्यङ्ग और असुन्दर इन दोनों गुणीभावों को दिखलाकर इनकी संसृष्टि की ओर सङ्केत किया है। इस प्रकार यहां पर आचार्यों की मान्यता में कोई विरोध नहीं है।)

ऊपर यह बतलाया जा चुका कि ध्वनि होती कहां पर नहीं है। यह यहां पर केवल दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार का विषय प्रमुख रूप में गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट किया जावेगा। इसके प्रतिकूल जहां पर प्रकरण आदि की प्रतिपत्ति से वाच्यार्थ की विशेषताओं का निर्धारण किया जा चुके और पुनः वह वाच्यार्थ प्रतीयमान के अंग के रूप

ध्वन्यालोकः

यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्ले ।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिः श्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यंङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः।

(अनु०) जैसे—

'हे हालिक की बहू! गिरे हुये पुष्पों को बीन लो। शेफालिका को मत हिलाओ। यह तुम्हारा वलय शब्द, तुम्हारे ससुर ने सुन लिया है जिसका परिणाम बुरा होगा।'

यहाँ पर अविनीत के साथ रमण करती हुई कोई सखी वलय-कल कल को सुननेवाली सखी के द्वारा सजग की जा रही है। वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये इसकी अपेक्षा है। वाच्यार्थ के प्रतिपन्न हो जाने पर उसके अविनय के प्रच्छादन के तात्पर्य से कहे हुये होने के कारण पुनः व्यङ्ग्य का अङ्ग ही हो जाता है अतः इसका इस अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि में ही अन्तर्भाव हो जावेगा।

लोचन

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे।
एष ते विषमविपाकः श्वसुरेण श्रुतो वलयशब्दः॥ इति छाया।

यतः श्वसुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्नै रक्षंस्तस्या आकर्षण-धूननादिना कुप्यति। तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम्। अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्याक्षेपः स्यात्। अत्र च 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्येतदनुसारेण व्याख्या कर्तव्या। वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद्व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम्। अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्यते। स्वतःसिद्धतया

'हे हलवाले की पुत्रवधू! गिरे हुये पुष्पों को बीन लो, शेफालिका को मत हिलाओ। यह अनिष्टकर परिणामवाला तुम्हारा वलय-शब्द तुम्हारे ससुर ने सुन लिया।'

क्योंकि ससुर शेफालिका की लता की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करते हुये उसके खींचने कँपाने इत्यादि से कुपित हो जाता है।

इसी से विषमविपाकत्व माना जाना चाहिये। अन्यथा अपनी युक्ति से ही व्यङ्ग्य आक्षेप हो जावे। यहाँ पर 'कस्स वा ण होइ रोसो' के समान व्याख्या की जानी चाहिये। वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति अर्थात् लाभ के लिये इस व्यङ्ग्य की अपेक्षा की जानी चाहिये। अन्यथा वाच्य अर्थ प्राप्त ही न होवे। आशय यह है कि स्वतः सिद्ध होने कारण वह अर्थ कहने के अयोग्य ही हो

तारावती

में अवभासित होने लगे वह इसी अनुरणन रूप व्यङ्ग्यध्वनि का मार्ग होता है। 'प्रकरण आदि'

लोचन

अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादिति यावत्। नन्वेवं व्यङ्ग्यस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्क्याह—प्रतिपन्ने चेति शब्देनोक्त इति यावत् ॥ ३१ ॥

जावे।' इस प्रकार प्रत्युत व्यङ्ग्य की उपस्कारता मही हुई हो जावेगी' यह शंका करके कहते हैं—'और प्रतिपन्न हो जाने पर' इत्यादि। आशय मह है कि शब्द के द्वारा कहे जाने पर ॥२१॥

तारावती

का अर्थ हैं वाक्यार्थ में नियन्त्रित करनेवाले संयोग इत्यादि समस्त हेतु। उनमें प्रकरण प्रधान होता है इसीलिये संयोगादि न कहकर प्रकरणादि कहा है। इस प्रकरण इत्यादि में शब्दान्तर सन्निधान सामर्थ्य लिङ्ग इत्यादि सभी कुछ आ जाता है। जब किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तब प्रकरण इत्यादि के आधार पर उसका अर्थबोध होता है। यद्यपि प्रकरण इत्यादि शब्दोपात्त न होने से व्यंग्य ही कहे जा सकते हैं तथापि वाच्यार्थबोध में ही उनकी शक्ति प्रक्षीण हो जाती हैं। उन प्रकरण इत्यादिकों के द्वारा ही वाच्यार्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय कर लिया जाता है। फिर भी वाच्यार्थ स्वशब्द के द्वारा कहा जा चुका होता है और उसके स्वरूप का अवगमन पहले ही सम्पन्न हो जाता है अतएव वह स्वमात्रपर्यवसायी नहीं हो सकता और इस प्रकार का वाच्यार्थ प्रतीयमान अर्थ का अंग बन जाता है। वही इस ध्वनि का विषय होता है। यहाँ पर आशय यह है कि प्रकरण इत्यादि के सहकार से वाच्यार्थ का निर्णय होजाने के बाद जो एक दूसरा व्यंग्य प्रतीत होता है वहाँ पर वाच्यार्थ का पर्यावसान अपने में ही नहीं हो सकता अपितु वह प्रतीयमान का अंग हो जाता है। ऐसा ही स्थान ध्वनि का विषय होता हैं। यहां पर स्फुट रूप में यह कहा गया है कि ध्वनिकाव्य में तात्पर्य व्यंग्योन्मुख होता है। इससे यह समझ लेना चाहिये कि गुणीभूत व्यंग्य में तात्पर्य का निबन्धन उससे विपरीत ही होता है।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण—

'हे हालिक (हल जोतनेवाले) की पुत्रवधू ! गिरे हुये फुलों को बीन लो, 'शेफालिका को हिलाओ नहीं। तुम्हारे ससुर ने तुम्हारे इस वलय-शब्द को सुन लिया है जिसका परिणाम बहुत बुरा हो सकता है।

कोई नायिका शेफालिका-कुञ्ज में अपने अविनीत प्रियतम (जार) के साथ रमण कर रही है जिससे उसके वलय का कलकल शब्द बाहर से सुनाई पड़ रहा हैं। सखी ने उस शब्द को बाहर से सुना है और वह उपर्युक्त शब्दों में नायिका को सजग कर रही है। बाह्यरूप में उसके कहने का आशय यह है कि 'तुम्हारा ससुर शेफालिका-कुञ्ज की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है। अतएव उसके हिलाने-कँपाने इत्यादि से उसे क्रोध आ जाता है। अतएव तुम लता को मत हिलाओ केवल गिरे हुये फूल बीन लो। नहीं तो तुम्हारा ससुर रुष्ट हो जावेगा और उसका परिणाम बुरा होगा।' यहां पर परिणाम के बुरे होने का कारण यही समझना चाहिये कि नायिका का

ध्वन्यालोकः

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह—

(अनु०) इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि के उसके आभास-विवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी आभास-विवेक करने के लिये कह रहे हैं—

लोचन

तदाभासविवेके प्रस्तुत इति सप्तमी हेतौ। तदाभासविवेकलक्षणात् प्रसङ्गादिति यावत्। कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह–विविक्षितवाच्यस्येति। स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम्। परिसमाप्तौ हि विवक्षिताभिधेयस्य तदाभासविवेकः। न त्वधुना प्रस्तुतः। नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति।

'उसके आभास-विवेक के प्रस्तुत होने पर' यह हेतु में सप्तमी है अर्थात् उसके आभास-विवेकरूप प्रसंग से। 'किसका तदाभास ?' इस अपेक्षा में कहते हैं—'विवक्षितवाच्य का।' स्पष्ट व्याख्यान में तो प्रस्तुत यह असंगत हो जावेगा। विवक्षितवाच्य की परिसमाप्ति में उसके आभास का विवेक होता है। (वह) इस समय प्रस्तुत नहीं है और न उत्तरकाल का अनुबंधन करता है।

तारावती

ससुर प्रयत्न से शेफालिका-लता की रक्षा करता है और उसके हिलाने इत्यादि से रुष्ट हो जाता है। नहीं तो--विषमविपाक का दूसरा अर्थ समझने पर व्यङ्ग्य का आक्षेप अपनी उक्ति से ही हो जावेगा और वह ध्वनिकाव्य नहीं रहेगा। (यहां पर व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या 'कस्य वा न भवेद्रोषो' इत्यादि पद्य के अनुसार करनी चाहिये। अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों के प्रति इसकी व्यञ्जना विभिन्न प्रकार की होगी। (अ) जार के प्रति इन शब्दों की व्यञ्जना होगी—'तुम्हें सावधान होकर कार्य करना चाहिये, ध्यान रक्खो कि आभूषणों की झनकार न हो नहीं तो भय है कि कहीं रहस्योद्घाटन न हो जावे। (आ) नायिका के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'इस बार तो मैंने बात बना ली, तुम्हें सर्वदा सोच-समझकर ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये।' (इ) तटस्थ व्यक्तियों के प्रति इसका सीधा सा अर्थ होगा कि 'नायिका शेफालिका-कुञ्ज में पुष्पावचय कर रही है।' (ई) सखियों के प्रति इसका अर्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हूँ मैंने नायिका के दुराचार को कितनी निपुणता से छिपाया है।' (उ) ससुर के प्रति इसका अर्थ होगा—'मैं तुम्हारा स्वभाव जानती हूँ, तुम्हें शेफालिका का हिलाना अच्छा नहीं लगता, नायिका केवल मुग्धता-वश लता से फूल तोड़ रही है, मैंने उसे मना कर दिया है अब तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। इत्यादि विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न व्यञ्जनायें होंगी।) यहां पर व्यङ्ग्यार्थ के दो भाग हैं—एक तो इस प्रकरण का ज्ञान होना कि नायिका उपपति से कुञ्ज में विहार कर रही है और उसके वलयों का कलकल शब्द बाहर जा रहा है। वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तथा

ध्वन्यालोकः

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥

(अनु०) 'बाधित अर्थवाले शब्द का निबन्धन जो कि अव्युत्पत्ति या अशक्ति से किया जाता है उसे विद्वान् लोग ध्वनि का विषय न समझें ।' ॥ ३२ ॥

लोचन

स्खलद्गतेरिति । गौणस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः । अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतात्पर्यप्रवृत्तिः । यथा—

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनाम् ।
चित्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः ॥

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्खदितिलाक्षणिकः, चित्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी ।

'स्खलद्गति का' अर्थात् गौण अथवा लाक्षणिक शब्द का । अव्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास इत्यादि निबन्ध के तात्पर्य से प्रवृत्ति । जैसे—

'प्रौढ़ सीमन्तिनियों के चलायमान प्रेमप्रबन्ध के प्रचुर परिचयवाले चित्ताकाश के अवकाश में जो निरन्तर विहार करता है वह सौभाग्यशाली है ।'

यहाँ अनुप्रास की रसिकता से 'प्रेङ्खत्' इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया है । चित्ताकाश यह गौण प्रयोग कवि द्वारा किया हुआ भी ध्वन्यमान रूपवाले सुन्दर प्रयोजनांश का पर्यवसायी नहीं हैं ।

तारावती

उसके निराकांक्ष सफल बोध के लिये इस व्यङ्ग्य की अपेक्षा है । अन्यथा वाच्यार्थ की ही प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि शेफालिका का हिलाना ससुर को रुष्ट कर देता है यह बात तो स्वतः सिद्ध है और नायिका भी इसे जानती है । अतएव सखी को इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या है ? अतः प्रकरणादि का ज्ञान, जो व्यंग्यार्थ से ही अधिगत होता है, वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये आवश्यक है । (प्रश्न) फिर तो ध्वनि के उदाहरण के प्रतिकूल व्यङ्ग्यार्थ की वाच्योपस्कारकता सिद्ध हो जावेगी । (उत्तर) जब प्रकरणादि के ज्ञान के साथ एक अर्थ—शेफालिका के हिलाने से ससुर के रुष्ट हो जाने के अर्थ—के प्रतिपन्न हो जाने पर अर्थात् शब्द के द्वारा अभिहित कर दिये जाने पर दूसरा व्यङ्ग्यार्थ यह निकलता है कि उपपति के अविनय को छिपाने के लिये ही सखी ने ये वचन कहे हैं । तब वह वाच्यार्थ इस व्यङ्ग्यार्थ का अंग बन जाता है । अतः इसका अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि में अन्तर्भाव होगा ॥ ३१ ॥

'इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उसके आभासविवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी आभासविवेक करने के लिये कहा जा रहा है ।' यह वृत्तिकार का ३२ वीं कारिका

तारावती

का उपक्रम है। 'उसके आभासविवेक के प्रस्तुत होने पर' इसमें सप्तमी हेतु में है। अर्थात् क्योंकि उसके आभासविवेकरूप का प्रस्तावरूप प्रकरण चल रहा है अतः अविवक्षितवाच्य की भी वही बात (आभास विवेक) बतलाया जा रहा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके आभासविवेक का प्रकरण चल रहा है। इसका उत्तर देने के लिये कहा गया है कि विवक्षितवाच्य ध्वनि का। यही व्याख्या इस अवतरण की की जानी चाहिये। जो व्याख्या स्पष्ट है वही कर देने पर प्रस्तुत शब्द असंगत हो जावेगा। क्योंकि 'विवक्षितवाच्य की परिसमाप्ति हो जाने पर ही उसके आभास का विवेक किया जा सकता है। वह इस समय प्रस्तुत नहीं है और न उत्तर काल का ही अनुबन्धन हो सकती है। (लोचनकार की यह टिप्पणी कुछ जटिल है। अतः इसको समझ लेना चाहिये। वृत्तिकार ने लिखा है 'विवक्षितवाच्य के आभासविवेक प्रस्तुत होने पर।' किसी विषय के निरूपण में प्रस्तुत उसे कहते हैं जहाँ किसी एक विषय का निरूपण किया जा रहा हो और वह समाप्त हो जावे। यदि वृत्तिकार के अवतरण का सीधा अर्थ किया जावे तो उसका आशय यह होगा कि विवक्षितवाच्य ध्वनि का निरूपण समाप्त हो गया है और अब विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभास पर विचार करना प्रारम्भ किया जा रहा है। किन्तु ऐसा है नहीं। न तो अव्यवहित रूप में समाप्त हुए प्रकरण में अर्थात् ३१ वीं कारिका में विवक्षितवाच्य का प्रकरण ही समाप्त किया गया है और न अगले प्रकरण में उसके आभास पर ही विचार किया जावेगा। अतः विवक्षितवाच्य के आभास के प्रकरण को प्रस्तुत मानना प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतएव इस अवतरण में 'तदाभासे प्रस्तुते' इस सप्तमी को हेतु में मानना चाहिये। इस प्रकार इसका अर्थ हो जावेगा कि 'यहां पर अविवक्षितवाच्य के आभासविवेक पर विचार इसलिये किया जा रहा है कि विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभासविवेक का प्रकरण चल ही रहा है (३१ वीं कारिका में विवक्षितवाच्य के आभास का निरूपण किया गया है।) और इसीलिये अविवक्षितवाच्य के आभास पर भी विचार कर लेना उचित है।' इस विषय में दीधितिकार ने लिखा है कि यहां पर आचार्य का वचन ठीक नहीं है क्योंकि संयोग और समवाय सम्बन्ध के न होने के कारण सप्तमी हो ही नहीं सकती। प्रस्तुत का सम्पन्न अर्थ कर लेने पर प्रस्तुत शब्द संगत भी हो जाता है।)

कारिका के 'स्खलद्गतेः' शब्द का अर्थ है—'जहाँ शब्द वाच्यार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो गया हो अर्थात् बाधित शब्द' यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणा को अवकाश देने के लिये बाधित शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि उससे कोई न कोई प्रयोजन सिद्ध हो सके। जब अभिधा अभीष्टार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो जाती है तब बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे लक्ष्यार्थ के साथ प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ का भी अवगमन होता हैं। ऐसे ही स्थान पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। यहाँ पर 'स्खलद्गतेः' शब्द से गौणी का भी बोध होता है और लक्षणा का भी। इसके प्रतिकूल जहाँ कवि अपनी अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण बाधित शब्दों का प्रयोग करता है वह ध्वनि

ध्वन्यालोकः

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः। यतः—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तच्चोदाहृतविषयमेव।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः।

(अनु०) स्खलद्गति अर्थात् उपचरित शब्द का अव्युत्पत्ति या अशक्ति से जो निबन्धन होता है वह भी ध्वनि का विषय नहीं होता। क्योंकि—

'जो कि सभी भेदों में अंगीभूत व्यंग्य का स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है' ॥ ३३ ॥

इस विषय के उदाहरण दिये ही जा चुके हैं।

इस प्रकार श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा लिखे हुये ध्वन्यालोक का द्वितीय उद्योत समाप्त हो गया।

लोचन

अशक्तिर्वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम्। यथा—

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवरवारिनिधौ पतता त्वया।
चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता॥

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम्। भाजनमित्याशये। कुड्यमय इत्यविचले। अत्रैतत्कामपि कान्तिं न पुष्यति, ऋते वृत्तपूरणात्।

अशक्ति अर्थात् वृत्तपरिपूरण इत्यादि में असामर्थ्य; जैसे—

'हे विषमवाण के कुटुम्ब सञ्चय में श्रेष्ठ! (चन्द्र) वारिनिधि में गिरते हुये तुमने चञ्चल तरंगों से विघूर्णित पात्रवाली कुड्यमय (पाषाणमय) अपनी आत्मा में चञ्चलता (उत्पन्न) कर ली।'

यहाँ पर प्रवर पर्यन्त आद्य पद चन्द्रमा में औपचारिक है, 'भाजन' यह आशय में और 'कुड्यमय' यह अविचल में। यहाँ यह पादपूर्ति के अतिरिक्त और किसी कान्ति को पुष्ट नहीं करता।

तारावती

का विषय नहीं होता। (लाक्षणिकता कवि की अयोग्यता छिपाने का साधन नहीं है वह काव्य में नई तड़प पैदा कर देने से ही चरितार्थ हो सकती है।) अव्युत्पत्ति का अर्थ यह है कि जहाँ

लोचन

स चेति। प्रथमोद्योते यः प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयः इत्यत्र 'वदति-विसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः। स न केवलं ध्वनेर्न विषयो यावदयमन्योऽपीति चशब्दार्थः। उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृत् उपस्कारं ददाति—यत इति। अवभासनमिति। भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायादवभासमानं व्यङ्ग्यम्। ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम् अवभासमानं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणम्, तच्च पूर्णम्, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात्। अथवा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात्। वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तदाभासविवेकहेतुभावो यः प्रक्रान्तः स निर्वाहित इति शिवम्।

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यथा।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत्॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदया-
लोकलोचने ध्वनिसङ्केते द्वितीय उद्योतः।

'और वह' इत्यादि। प्रथम उद्योत में 'प्रसिद्धि के अनुरोध से प्रवर्तित व्यवहारवाले कवि देखे जाते हैं' यहाँ पर 'विसिनीपत्र पर शयन को कहता है' यह जो भाक्त कहा था। च शब्द का अर्थ है कि केवल वही ध्वनि का विषय न हो ऐसा नहीं है अपितु अन्य भी। उक्त ध्वनिस्वरूप का ही उसके आभास के विवेक में हेतु होने के कारण कारिकाकार अनुवाद करता है इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देता है।

'क्योंकि'। 'अवभासन' 'भाव के आनयन में द्रव्य का आनयन' इस न्याय से अवभासन अर्थात् व्यङ्ग्य। (वही) ध्वनिलक्षण अर्थात् ध्वनि का पूर्ण स्वरूप है। अथवा अवभासन का अर्थ है ज्ञान, वह ध्वनि का लक्षण अर्थात् प्रमाण है और वह पूर्ण है क्योंकि ध्वनि के पूर्ण स्वरूप का निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्वनि का लक्षण है क्योंकि लक्षण ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य (विज्ञेय) होता है। वृत्ति में 'एवकार' (अर्थात् 'ही') के द्वारा उससे भिन्न की आभासरूपता होती है यह सूचित करते हुये उसके आभासविवेक का जो कारण प्रक्रान्त था उसका ही निर्वाह कर दिया गया। बस कल्याण हो।

'जिसके द्वारा प्रभूत तथा प्रतीतिमात्र सत्तावाला यह (जगत्) भेद के रूप में प्रकाशित किया जाता है उस पश्यन्ती की मैं अभिनव गुप्त बन्दना करता हूँ।'

यह है श्री महामहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदया—
लोकलोचनध्वनि-संकेत में द्वितीय उद्योत।

———

तारावती

पर लाक्षणिक शब्द की प्रवृत्ति में अनुप्रास का निबन्धन ही निमित्त हो। जैसे—'प्रेङ्खत्…… ……भूमिः' यह पद्य—'वह व्यक्ति सौभाग्यशाली है जो निरन्तर प्रौढ़ ललनाओं के ऐसे चित्ताकाश में विहार किया करता है जो काँपनेवाले (प्रेङ्खत्) प्रेम के उत्कृष्ट बन्धन में प्रचुर परिचय प्राप्त कर चुके होते हैं।'

वस्तुतः काँपती कोई स्थूल वस्तु है। प्रेम सूक्ष्म होने के कारण काँप नहीं सकता। अतएव यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है अस्थिर प्रेम इस लक्षण का अनुप्रास की सिद्धि के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। चित्त को आकाश बतलाया गया है जो एक गौण प्रयोग है क्योंकि अप्रत्यक्षत्व इत्यादि गुणसाम्य के बलपर ही चित्त को आकाश कहा गया है। इसका भी अनुप्रास-निष्पत्ति के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव सुन्दरता के साथ किसी प्रयोजन के व्यक्त न करने के कारण यह ध्वनिकाव्य नहीं कहा जा सकता।

अशक्ति का अर्थ है ऐसे शब्द का प्रयोग जिसका प्रयोजन केवल छन्द की पूर्ति ही हो। जैसे —

'हे विषमबाण के कुटुम्बियों के समूह में श्रेष्ठ? समुद्र में गिरकर तुमने अपनी कुड्यमय (स्थिर) आत्मा में जिसका भाजन (मध्यभाग) चञ्चल तरङ्गों से काँप रहा है, चञ्चलता उत्पन्न कर ली।'

यहाँ पर चन्द्र के लिये 'विषमबाण के कुटुम्बियों में श्रेष्ठ' कहा गया है, यह प्रथम पद है जिसका प्रयोजन छन्दःपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'भाजन' का अन्तरात्मा के लिये प्रयोग किया गया है। क्योंकि भाजन (पात्र) भी वस्तुओं का अधिकरण होता है और आत्मा भी अधिकरण होता है। कुड्यमय (पाषाण) स्थिर होता है इसी साम्य के बल पर स्थिर के लिये 'कुड्यमय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन प्रयोगों का छन्दःपूर्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं। अतएव यहाँ पर ध्वनि नहीं हो सकती।

प्रथम उल्लास में बतलाया गया था कि जहाँ पर व्यङ्ग्य के कारण बहुत अधिक सौन्दर्य नहीं भी होता वहाँ पर भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। जैसे 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' में वदति का प्रयोग। इसी प्रकार लावण्य इत्यादि शब्दों को भी समझना चाहिये। इस प्रकार के शब्द ध्वनि की सीमा में नहीं आते। इसके अतिरिक्त ऐसे भी लाक्षणिक शब्द ध्वनिकाव्य के क्षेत्र में नहीं आते जिनका अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण प्रयोग कर दिया गया हो। यही इस कारिका के 'स च' में 'च' शब्द का अर्थ है।

यद्यपि ध्वनि का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका, तथापि ध्वन्याभास के विवेक में ध्वनि का स्वरूप कारण अवश्य है। इसीलिये कारिकाकार ने ३३ वीं कारिका का अवतरण देते हुये लिखा है 'यतः'—'क्योंकि'। कारिका का अर्थ यह है —

तारावती

'सभी प्रकार के ध्वनि के अवान्तर भेदों में अङ्गीभूत व्यङ्ग्य का जो स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।'

(आशय यह है कि ध्वनि में तीन बातें अनिवार्य रूप से होती हैं (१) व्यङ्ग्य होना, (२) अङ्गी होना और (३) स्फुट रूप में अवभासित होना। यदि तीनों में एक की भी न्यूनता होती है तो उसे ध्वनि न कहकर ध्वन्याभास कहते हैं। और प्रथम के न होने पर तो ध्वन्याभास भी नहीं हो सकता।) इस कारिका की तीन प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—(१) अवभासन का अर्थ है अवभासित होनेवाली वस्तु। क्योंकि सत्ता के उपस्थित होने पर वस्तु स्वयं उपस्थित हो जाती है। लक्षण का अर्थ है स्वरूप। अतएव इसका आशय हुआ 'अङ्गी के रूप में अवभासित होनेवाला व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि का पूर्ण स्वरूप है।' (२) अवभासन का अर्थ है ज्ञान और लक्षण का अर्थ है प्रमाण। आशय यह है कि 'अङ्गी व्यङ्ग्य का ज्ञान ही ध्वनि का पूरा प्रमाण है क्योंकि उसी से ध्वनि का पूरा स्वरूप प्रकट होता है। (३) अवभासन का अर्थ है ज्ञान और लक्षण का अर्थ है परिभाषा। आशय यह है कि 'अङ्गी व्यङ्ग्य का ज्ञान ही ध्वनि की पूरी-परिभाषा है। क्योंकि लक्षण का निर्णय लक्ष्य के ज्ञान से ही होता है।

वृत्तिकार ने लिखा है 'ध्वनि के विषय का उदाहरण दिया ही जा चुका।' यहाँ पर 'ही' का अर्थ है कि वृत्तिकार यहाँ पर यह सूचित कर रहे हैं कि 'उससे भिन्न जितना भी उसका क्षेत्र है वह ध्वन्याभास रूप ही है।' इस प्रकार ध्वनि के आभास विवेक के कारण पर प्रकाश डालने का जो प्रकरण उठाया था उसी का निर्वाह कर दिया। इस प्रकार सभी का कल्याण हो।

'यह जगत् विस्तृत तथा प्रभूत रूप में है। किन्तु है यह प्रतीतिमात्र ही। जो मायारूपिणी परमेश्वरी इसे ब्रह्म से भिन्न के रूप में प्रकाशित करती हैं, इस जगत् को देखनेवाली उन भगवती परमेश्वरी की, अभिनवगुप्त नामवाला मैं बन्दना कर रहा हूँ।

आशय यह है कि संसार वास्तव में वस्तु सत् नहीं है अर्थात् इसमें विद्यमान वस्तुओं की बाह्य सत्ता नहीं है। यह ब्रह्म से अभिन्न जगत् है। किन्तु इसकी प्रतीति हमें होती ही है जिसमें एक मात्र कारण मायारूपिणी भगवती हैं जिन्हें हम आदिशक्ति दुर्गा या पार्वती के नाम से पुकार सकते हैं। वेदान्त के अनुसार विश्व की बाह्य-सत्ता की प्रतीति माया के कारण ही होती है वैसे यह विश्व ब्रह्म से अभिन्न है।

यहाँ पर भगवती के लिये 'पश्यन्ती' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस से एक अर्थ की ओर और संकेत होता है। वाणी चार प्रकार की होती हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा वाणी में सभी शब्द और सभी अर्थ अभिन्न रहते हैं। जिस प्रकार घट-पट इत्यादि का बाह्यभेद ब्रह्म में नहीं होता उसी प्रकार परा वाणी में भी सर्वथा अभेद होता है। दूसरी

तारावती

वाणी है पश्यन्ती। इसका ग्रहण बुद्धि के द्वारा होता है और इसमें आकर बुद्धि भेद को ग्रहण करने लगती है। मध्यमा का आभास स्वयं कान बन्द करने पर एक नाद के रूप में होता है इसमें भी पूर्ण भेद नहीं हो पाता। फिर मुख-गह्वर में आकर स्थान-प्रयत्न इत्यादि के संयोग रं 'क' और 'ख' इत्यादि में भेद हो जाता है। आशय यह है कि परा वाणी के रूप में सभी कु अभिन्न होता है, किन्तु पश्यन्ती वाणी बुद्धि के क्षेत्र में आकर इस विस्तृत विश्व को भेद के रूप में प्रकाशित किया करती है। भेद वास्तविक नहीं है किन्तु उसकी केवल प्रतीति होती है। इतने बड़े विश्व का आभास करा देना भगवती आदि शक्ति का ही काम है जिसे माया के रूप में पुकारा जाता है। इसी आधार पर आदिशक्ति की पूजा की जाती है और ब्रह्म को शब्द ब्रह्म के रूप में माना जाता है।

॥ यह तारावती का दूसरा उद्योत समाप्त हुआ ॥

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली • मुम्बई • चेन्नई • कोलकाता
बंगलौर • वाराणसी • पुणे • पटना

E-mail: mlbd@vsnl.com
Website: www.mlbd.com

मूल्य: रु० 125 कोड : 23389